महाकविश्रीदण्डिविरचिते

दशकुमारचरिते

विश्रुतचरितम्

(अष्टम उच्छ्वासः, उत्तरपीठिका च)

स्तृत भूमिका, विस्तृत सुधीरिणी भावप्रकाशिका संस्कृत टीका,
क हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियों और अनुक्रमणिकाओं से विभूषित)

(संशोधित, परिवर्धित, चतुर्थ संस्करण)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

सुधीरकुमार गुप्त, एम० ए०, (पं० रघुवरदयाल गोल्डमेडलिस्ट)
पी-एच० डी०, बी० ए० आनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
केरल, कोयल वर्मा वलिया थम्पूरन स्वर्णपदकी

प्रवाचक (रीडर), संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

भारती

मन्दिर

अनुसन्धान शाला

आर-२, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुर-४

प्रकाशक :
प्र[illegible]द कुमार गुप्त
भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला
आर-२, विश्वविद्यालयपुरी,
जयपुर-४ (राजस्थान)

विद्यार्थी संस्करण अजिल्द ४-४०

१९७०

मातृभूमि प्रिंटिंग प्रेस—भूमिका मात्र
अजन्ता प्रिन्टर्स—शेष सब भाग

ॐ ॥ अग्ने नय सुपथा राये । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

प्राक्कथन

[श्री ६ युत प्रो० डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी एम० ए०, डी० लिट्०, काव्य-व्याकरण-तीर्थ, शास्त्री, भू० पू० अध्यक्ष संस्कृत विभाग, देहली विश्वविद्यालय, देहली]

॥ ॐ श्रीहरिः ॥

अध्यापक--श्रीसुधीरकुमारगुप्त--एम० ए० शास्त्रि-प्रभाकर-महोदयेन प्रकाशितं दशकुमारचरितस्य पीठिकाद्वयं दृष्टम्। अत्र सरलसंस्कृतेनोपनिबद्धं संक्षिप्तं व्याख्यानं, हिन्दीभाषानुवादश्च विशेषणानन्दं जनयति। ईदृशस्य संस्करणस्य सुतरामावश्यकतासीत्। अतएवानेन खलु छात्राणां महानुपकारो भविष्यतीति मे मतिः।

ॐ शिवमस्तु।

नरेन्द्रनाथ शर्मा

विश्रुतचरितम्

विषयसूची

भूमिका

(कोष्ठों में संदर्भों की संख्या दी गई है)

परिशिष्ट २—शाब्दिक हिन्दी अनुवाद ८५-११७

[इस परिशिष्ट में पार्श्वों में संस्कृतमूल की पृष्ठसंख्या अंकित की गई है।]

अ. आठवां उच्छ्वास-विश्रुतचरित [पृ० १ अ–२८ अ] ८५-११२

विश्रुतचरित की भूमिका—भास्करवर्मा से मिलन (१); भास्करवर्मा की विपत्ति का प्रतिकार (२); भास्करवर्मा के विषय में प्रश्न (३); पुण्यवर्मा का वर्णन (४); अनन्तवर्मा (५); वसुरक्षित का उपदेश (६–७); विहारभद्र का वर्णन (८); विहारभद्र का उपदेश-पुरोहितों की निन्दा (९); राजनीतिज्ञों की निन्दा (१०); दण्डनीति के दोष (११); राजनीतिज्ञ की दिनचर्या की कटु आलोचना (१२–१३); दण्डनीति व्यर्थ (१४); विहारभद्र के उपदेश का उपसंहार (१५); मन्त्री वसुरक्षित का वितर्क (१६); चन्द्रपालित का आगमन (१७); चन्द्रपालित द्वारा व्यसनों की प्रशंसा-शिकार (१८); जुआ (१९); उत्तम स्त्रियों का उपभोग (२०); शराब पीना (२१); कठोर व्यवहार और धन का अपव्यय (२२); अनन्तवर्मा के राज्य में अनाचार (२३); अनन्तवर्मा के राज्य में शत्रु का षड्यन्त्र (२४); वसन्तभानु का षड्यन्त्र और वानवास्य का विद्रोह (२५–२६); अनन्तवर्मा का नाश और वसन्तभानु की धूर्तता (२७); वसुरक्षित का बच कर भागना और मृत्यु (२८); मित्रवर्मा द्वारा हिंसा के प्रयत्न से भास्करवर्मा की रक्षा (२९); भास्करवर्मा का विन्ध्यवन में आगमन (३०); विश्रुत द्वारा अश्मकेन्द्र को उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा और भास्करवर्मा की भूख को शान्त करना (३१); प्रचण्डवर्मा की मञ्जुवादिनी से विवाह की कामना का समाचार (३२); विश्रुत की चाल (३३–३४); वसुन्धरा के प्रभाव की प्रसिद्धि (३५); विश्रुत और भास्करवर्मा का राजप्रासाद में प्रवेश (३६); प्रचण्डवर्मा का वध (३७–३९); कुमार के साथ विश्रुत का प्रकट होना (४०–४१); विश्रुत का प्रजाओं को संबोधन (४२–४३); मञ्जुवादिनी का विवाह

परिशिष्ट २—शाब्दिक हिन्दी अनुवाद ८५-११७

[इस परिशिष्ट में पार्श्वों में संस्कृतमूल की पृष्ठसंख्या अंकित की गई है ।]

अ. आठवां उच्छ्वास-विश्रुतचरित [पृ० १ अ-२८ अ] ८५-११२

विश्रुतचरित की भूमिका—भास्करवर्मा से मिलन (१); भास्करवर्मा की विपत्ति का प्रतिकार (२); भास्करवर्मा के विषय में प्रश्न (३); पुण्यवर्मा का वर्णन (४); अनन्तवर्मा (५); वसुरक्षित का उपदेश (६-७); विहारभद्र का वर्णन (८); विहारभद्र का उपदेश-पुरोहितों की निन्दा (९); राजनीतिज्ञों की निन्दा (१०); दण्डनीति के दोष (११); राजनीतिज्ञ की दिनचर्या की कटु आलोचना (१२-१३); दण्डनीति व्यर्थ (१४); विहारभद्र के उपदेश का उपसंहार (१५); मन्त्री वसुरक्षित का वितर्क (१६); चन्द्रपालित का आगमन (१७); चन्द्रपालित द्वारा व्यसनों की प्रशंसा-शिकार (१८); जुआ (१९); उत्तम स्त्रियों का उपभोग (२०); शराब पीना (२१); कठोर व्यवहार और धन का अपव्यय (२२); अनन्तवर्मा के राज्य में अनाचार (२३); अनन्तवर्मा के राज्य में शत्रु का षड्यन्त्र (२४); वसन्तभानु का षड्यन्त्र और वानवास्य का विद्रोह (२५-२६); अनन्तवर्मा का नाश और वसन्तभानु की धूर्तता (२७); वसुरक्षित का बच कर भागना और मृत्यु (२८); मित्रवर्मा द्वारा हिंसा के प्रयत्न से भास्करवर्मा की रक्षा (२९); भास्करवर्मा का विन्ध्यवन में आगमन (३०); विश्रुत द्वारा अश्मकेन्द्र को उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा और भास्करवर्मा की भूख को शान्त करना (३१); प्रचण्डवर्मा की मञ्जुवादिनी से विवाह की कामना का समाचार (३२); विश्रुत की चाल (३३-३४); वनुर्ग्गा के प्रभाव की प्रसिद्धि (३५); विश्रुत और भास्करवर्मा का राजप्रासाद में प्रवेश (३६); प्रचण्डवर्मा का वध (३७-३९); कुमार के साथ विश्रुत का प्रकट होना (४०-४१); विश्रुत का प्रजाओं को संबोधन (४२-४३); मञ्जुवादिनी का विवाह

प्रकाशकीय निवेदन

भारती मन्दिर के अधिपति उन सब अध्यापकों, विद्यार्थियों और अन्य विद्वानों का परम अनुग्रह मानते हैं जिन्हों ने मन्दिर के प्रकाशनों को अपनाया है। प्रस्तुत रचना का तीसरा संस्करण दो-डाई वर्ष में समाप्त हो गया। अतः यह संस्करण कुछ नई विशेषताओं के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इस में अनुवाद और टिप्पणियों में परिवर्धन और संशोधन किया गया है। दोनों ही स्थानों पर संस्कृत मूल के पृष्ठों की संख्या भी दे दी गई है। शब्दानुक्रमणिका में पदों की पृष्ठसंख्या भी दे दी गई है।

इस संस्करण के प्रेस में जाने के काल में कागज, छपाई और बन्धन के दाम पहले से कुछ बढ़ गये हैं, तथापि विद्यार्थीसंस्करण के मूल्य को तीसरे संस्करण के मूल्य के समीपतम ही रखा गया है। केवल अल्प-सी— नगण्य ही वृद्धि की गई है। आशा है छात्र-बन्धुओं का सहयोग और माननीय अध्यापकों और विद्वानों का अनुग्रह पूर्ववत् बने रहेंगे।

पिछले संस्करण में पाठकों की प्रतिक्रिया जानने के लिए एक सम्मति और सुझाव पत्र जोड़ा गया था। उस का उपयोग बहुत कम महानुभावों ने किया। सम्भवतः डाक का व्यय इस में बाधक रहा हो। अतः इस बार इस संस्करण में इस सुझाव पत्र को एक कार्ड के रूप में दिया जा रहा है जिसे छिद्रित स्थान से काट कर, भर कर दस पैसे का टिकट लगा कर डाला जा सकता है। यदि कार्ड के प्रयोग के समय कार्ड का डाकव्यय बढ़ जाए तो तदनुरूप ही डाकव्यय लगाएं।

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ।। ॐ

चतुर्थ संस्करण का आमुख

यद्यपि दासता के युग में विदेशियों और अर्थपरायण भौतिक मूल्यों में मग्न जनों के सतत प्रचार, संस्कृत शिक्षा के सीधी साक्षात् परम अर्थसाधिका न होने, धर्म, प्राचीन संस्कृति, साहित्य और भाषा के प्रति आस्था और गौरवभावना के अभाव, देश के स्व को विकृत करने और उसे नष्ट करने पर उद्यत प्रचार, आर्थिक कष्ट, समाज में उत्साह के अभाव, संस्कृत के प्रति अनादर और हीनता की भावना आदि के कारण संस्कृताध्ययन दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है, विद्यार्थियों की संख्या गिरती जा रही है, विद्यार्थी और अध्यापकों में प्रामाणिकता के विचार से शून्य सस्ते से सस्ते संस्करणों के प्रति आग्रह के कारण अच्छी पुस्तकों के प्रामाणिक उच्चस्तरीय संस्करणों के प्रति उदासीनता संक्रामक रोग की भांति बढ़ती जा रही है, तथापि परमेश के अनुग्रह और अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के सहयोग और गुणग्राहिता से अन्य संस्करणों से भौतिक मूल्य में अधिक होने पर भी इस रचना का तीसरा संस्करण दो-ढाई वर्ष में ही समाप्त हो गया। अतः यह चौथा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

२. इस संस्करण में मूल, टीका, अनुवाद और टिप्पणियों में जहां-जहां अनवधानता से कुछ त्रुटियां तीसरे संस्करण में हो गई थीं उन का यथा-सम्भव शोधन कर दिया गया है। अशुद्धियों के शोधन में श्री मदन मोहन शर्मा, प्राध्यापक संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ने सर्वाधिक योग दिया है। प्राध्यापक डा० कृष्णलाल (नई दिल्ली), श्री मनोहरलाल चौधरी (नई दिल्ली), डा० नाथूलाल पाठक (कोटा), श्री शिवचरण गर्ग (बूंदी), डा० कैलाश चन्द जैन (सहारनपुर), श्री सत्यपाल शील (मसूरी), श्री सुषमा अरोरा (खुर्जा) और विद्यार्थी—श्री लीलाधर (दिल्ली),

श्री रामकिशन मीना (सवाई माधोपुर) प्रभृति ने पुस्तक के गुणों की प्रशंसा की है और कुछ सुझाव दिए हैं। इन सब का परम आभार मानता हूं।

३–परमपिता परमात्मा का सतत अनुग्रह संस्कृत भारती के उपासकों पर सदा बना रहे।

आर—२, विश्वविद्यालयपुरी,   स. क. गुप्त
जयपुर–४
२.६.७०

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

(तृतीय संस्करण का)

आमुख

भारत के स्वतन्त्र होने के लगभग एक-डेढ़ वर्ष पश्चात् पूर्वी पंजाब विश्वविद्यालय, सोलन ने अपने बी० ए० के पाठ्यक्रम में दशकुमारचरित के कुछ अंश रक्खे थे। उन में पीछे विश्रुतचरित भी रख दिया गया। विश्रुतचरित सहित इस सब अंश का हिन्दी अनुवाद और टिप्पणियां आदि सहित सम्पादन पंजाब के बी० ए० के विद्यार्थियों के निमित्त भारती प्रकाशन मण्डल रोहतक के स्वामी श्री किरोडीलाल गुप्त की प्रेरणा और अनुरोध पर किया गया था। किन्हीं परिस्थितियों के कारण इस मण्डल को अपना साहित्यिक कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा। अतः इस और लेखक की अन्य कृतियों के प्रकाशन का अधिकार भारती मन्दिर को दिया गया। उस के सहयोग से ही यह संस्करण देहली आदि उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रकाशित किया जा रहा है।

यद्यपि संसार बहुत विकट और ईर्ष्यालु है, यहां प्रयोजनानुसार गुण दोष बन जाते हैं और दोष गुणवत् घोषित किए जाते हैं, पक्षपात का विष आकाशविष के समान सर्वत्र फैला हुआ है, शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक स्थानों पर इस का और स्वार्थ का सन्निपात रोग मूर्च्छा का सतत दान दे

रहा है, किसी के लिए ऐसी पुस्तकें लिखना और प्रकाशित कराना महा-पातक माना जाता है और किसी के लिए महान् यज्ञमय, प्रशंसनीय और पुरस्कारार्ह समझा जाता है, तथापि संसार में अनेकों गुणग्राहक अध्यापक, विद्वान् और विद्यार्थियों ने इस रचना को अपनाया है और इस की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इस प्रयास को और लेखक की ऐसी समस्त रचनाओं को वाञ्छनीय माना है। उन के सहयोग के कारण ही इस का तथा अन्य रचनाओं का पुनः अथवा नवीन प्रकाशन किया गया है। आशा है पाठक पूर्ववत् इन को अपनाएंगें।

इस पुस्तक का प्रथम सस्करण अल्पकाल में ही समाप्त हो गया था। इस का दूसरा संस्करण गद्यपारिजातविवरण में केवल हिन्दी अनुवाद और टिप्पणियों का निकला था। दोनों को अध्यापकों और विद्यार्थियों—दोनों ही ने सर्वत्र ही अपनाया और अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया। पुस्तक-वितरकों और विक्रेताओं के अनुसार इस संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् विद्यार्थी अन्य संस्करणों को लेना पसन्द ही नहीं करते थे। पुस्तक की उपा-देयता और लेखक-सम्पादक के परिश्रम के साफल्य का प्रमाण इस से अधिक और क्या हो सकता है। लेखक उन सब पाठकों का आभारी है जिन्हों ने इस संस्करण को इतना अच्छा समझा और अपनाया। पाठकों की इस गुणग्राहिता के परिणामस्वरूप पुस्तक का संस्करण समाप्त हो जाने पर भी मांग निरन्तर आती रही। इसे आद्योपान्त संशोधित और परिर्वाधित करने की इच्छा से इस का प्रकाशन अब तक रुका रहा। ईश्वर की कृपा से अनुकूल परिस्थितियां आने पर यह संशोधन सम्भव हो सका है।

पुस्तक के मुद्रण में प्रूफशोधन आदि में श्री सुकेशी रानी गुप्ता, एम० ए० तथा श्री सुबोधकुमार गुप्त, श्री अनिलकुमार गुप्त और श्री प्रमोदकुमार गुप्त ने बहुत सहायता की है। भारती मन्दिर के इन अधिपतियों ने पुस्तक के प्रकाशन और वितरण की सुव्यवस्था की है। इन सब को धन्यवाद और शुभ आशिषें हैं।

प्रथम संस्करण में कोई भूमिका नहीं थी। इस का दूसरा संस्करण गद्यपारिजात-विवरण में केवल हिन्दी अनुवाद और टिप्पणियों का निकला था। इस नए और तृतीय संस्करण में एक विस्तृत भूमिका जोड़ दी गई है। इस भूमिका में गद्य, गद्यकाव्य, दण्डी उस की रचनाओं, तिथि, शैली, चरित्र-चित्रण, कहानीकला, गुणदोषविवेचन, दण्डी के काल की परिस्थितियां आदि अनेकों विषयों का समावेश किया गया है।

संक्षिप्त संस्कृत व्याख्यान को सुविस्तृत कर सुधीरिणी भावप्रकाशिका टीका का रूप दे दिया गया है। यह टीका अद्यावधि लेखक को ज्ञात सब टीकाओं से अधिक विस्तृत, विशद, स्पष्ट और व्याख्याकारिणी है। टिप्पणियों का आद्योपान्त पुनरवेक्षण, परिवर्धन और संशोधन किया गया है। अनुक्रमणिकाओं और विषयसूची को भी अधिक उपयुक्त बना दिया गया है। मूल संस्कृत में प्रत्येक प्रकरण को शीर्पक दे कर उसे कोष्ठों में रख दिया गया है। एक जगह पृ० ५ पर 'वसुरक्षितोपदेशः' में मुद्रण में दृष्टिदोष से ये कोष्ठक लगने रह गए हैं, एक जगह पृ० ५५ पर संदर्भ ३६ का शीर्पक (देखो विषय-सूची) छूट गया है। **ये समस्त शीर्षक सम्पादक द्वारा जोड़े गए हैं, दण्डी के लिखे हुए नहीं हैं।** हिन्दी अनुवाद में इन शीर्पकों का हिन्दी रूपान्तर शीर्पक के रूप में कोष्ठों में दिया गया है।

समस्त मूलपाठ और भूमिका को संदर्भों में विभक्त कर उन पर क्रमसंख्या लगा दी गई है। विषयसूची, अनुवाद, टिप्पणियों और अनुक्रमणिकाओं में इन संदर्भों की संख्या दे दी गई है, जिस से विषय या पद को ढूंढने में पर्याप्त सुविधा रहेगी।

मूल संस्कृत पाठ को भी आद्योपान्त तुलना कर शुद्ध कर दिया गया है। कुछ नए पाठभेद भी दृष्टि में आए हैं, जो पाद-टिप्पणियों मे सम्मिलित कर दिए गए हैं।

इस संस्करण में एक नया और छोटा-सा परिशिष्ट जोड़ कर विश्रुत की कथा का सार संस्कृत में दिया गया है। इच्छा थी कि संस्कृत में सार

लिखने के नियम आदि का सोदाहरण एक परिशिष्ट भी विद्यार्थियों के निर्देश के लिए रख दिया जाए, परन्तु समयाभाव और विषय के विस्तृत होने से ग्रन्थ के विस्तार और मूल्य वृद्धि को नियन्त्रण में रखने के लिए इस इच्छा का संवरण कर लिया गया है। संक्षेप में इस संस्करण को पिछले और बाजार में इस समय बिकने वाले सब संस्करणों की अपेक्षा अधिक सुन्दर और उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। इस में परीक्षा और ज्ञान दोनों दृष्टियों का समन्वय किया गया है। अतः यहां दोनों प्रकार की सामग्री उचित मात्रा और अनुपात में मिलती है।

यह हर्ष का विषय है कि हिन्दी के माध्यम से इस पुस्तक की शैली पर संस्कृत पुस्तकों के लेखन और सम्पादन को सर्वप्रथम लेखक ने ही प्रवृत्त किया। इस शैली की उपादेयता को देख कर अन्यों ने भी इस को अपनाने का प्रयत्न किया है, तथापि उन को और प्रस्तुत लेखक की दृष्टि और स्तरों में कुछ अन्तर है। उन के तारतम्य को विज्ञ पाठक उन की तुलना कर स्वयं तुरन्त ही निर्धारित कर सकेंगे। आशा है कि हिन्दी के क्षेत्र में ऐसी उत्तमोत्तम रचनाएं उत्तरोत्तर उच्च स्तर को प्राप्त करती हुई संस्कृत वाङ्मय को अलंकृत करेंगी।

पिछले कुछ वर्षों में जीवन इतना महंगा हो गया है कि उस का प्रभाव प्रकाशन और मुद्रण पर भी पड़ा है। अतः पुस्तक के प्रणयन, प्रकाशन और प्रसारण के व्ययों के बढ़ जाने के कारण प्रकाशकों को बिल्कुल न चाहने पर भी इस संस्करण में पुस्तक का मूल्य बढ़ाना पड़ा है। व्यय की दृष्टि से फिर भी मूल्य कम ही रखा गया है। बाजार में उपलब्ध अन्य संस्करणों से इस की तुलना स्वयं इस के परिवर्धित मूल्य के औचित्य का समर्थन कर देगी।

जो पाठक इस संस्करण की उपयोगिता, विषय-प्रतिपादन, छपाई, बंधाई, प्रामाणिकता, अशुद्धियों और दोषों पर सुझावों सहित अपने विचार पुस्तक में दिए गए सम्मति और सुझाव पत्र पर लिख कर प्रकाशकों को भेजेंगे, उन के वे परम अनुगृहीत रहेंगे। लेखक और मन्दिर उन के विचारों से अनुभूति ले विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सामग्री पर आगे अनुसन्धान कर सकेंगे।

अनेकों लेखकों और विद्वानों के ग्रन्थों से इस संस्करण के आद्योपान्त निर्माण में सहायता ली गई है। प्रेसों ने बड़े सहयोग, सहानुभूति और तत्परता से अपनी विशिष्ट व्यापृतियों के होते हुए भी कार्य किया है। उन सब का और प्रकाशकों का आभारी हूं। गुरुवर डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी ने दशकुमारचरित के प्रथम संस्करण पर जो आशीर्वाद दिया था वह यहां भी मुद्रित करा दिया गया है। यह आशीर्वाद मेरे लिए अनुभूति और प्रेरणा का परम स्रोत रहा है। दुर्गम साहित्यसंसार और लेखनक्षेत्र में इसी के सहारे प्रवेश करता आ रहा हूं। इन के प्रति आभार-प्रकाशन के लिए मेरे शब्दों में शक्ति नहीं है। लेखनक्षेत्र में उतारने वाले अवसन्न भारती प्रकाशन मण्डल के स्वामी श्री किरोड़ी लाल भी धन्यवाद के पात्र हैं।

भगवान् परम पिता परमेश्वर की असीम कृपा से यह संस्करण सानन्द सुन्दरतर और प्रामाणिक बन पाया है। उन का चिन्तन और साक्षात्कार हमारे जीवन और कर्मों का लक्ष्य और आधार बने रहें, यही उन से प्रार्थना है, यही उन का साधुवाद है।

आर-२, विश्वविद्यालयपुरी,
जयपुर-४   स० क० गुप्त
६-६-६७

भूमिका
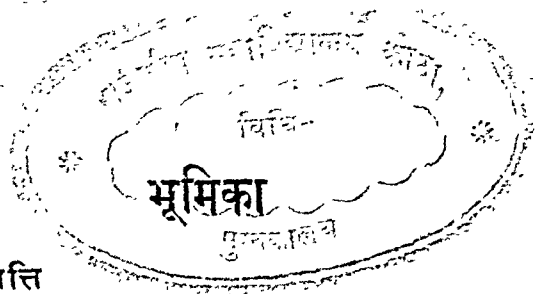
१. भषा की उत्पत्ति

१. समस्त चेतन प्राणी अपने जातीय अथवा विजातीय प्राणिय से अनेक प्रकार से सम्पर्क स्थापित करते हैं। इस सम्पर्क का मुख्य माध्यम वाणी है। पशुओं की वाणी और धातुओं आदि से उत्पन्न शब्द अव्यक्त वाणी है, इस में अक्षर और वर्ण का विभाग, पदरचना और वाक्ययोजना व्यक्त नहीं होते हैं। इस वाणी के माध्यम से बहुत लम्बा और सूक्ष्म चिन्तन और भावप्रकाशन सम्भव नहीं हैं। मनुष्य सामाजिक और चिन्तनशील व्यक्ति है। अतः वह अपने अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रेरणा से दूसरे मनुष्यों से मिलता-जुलता है और विचार-विनिमय करता है। उस का यह विचार-विनिमय और उस का आधारभूत चिन्तन बहुत विस्तृत और सूक्ष्म भी होते हैं। अतः मानव को सामाजिक मेल-जोल, विचारविनिमय और चिन्तन के लिए अक्षर और वर्ण के भेद, शब्द-रचना और वाक्ययोजना से युक्त अर्थ की प्रकाशक वाणी या भाषा की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता ही भाषा की जननी है। मनुष्य को ईश्वर ने ऐसी स्वाभाविक शक्ति दी है, जिस के द्वारा वह व्यक्त वाणी का विकास और प्रयोग करने में समर्थ होता है। पहले उस ने एक-एक अक्षर और वर्ण का विकास किया होगा, फिर इन अक्षरों और वर्णों के मेल से पदों और उन के मेल से कालान्तर में वाक्यों की योजना की होगी।[1]

---

१. देखो S.K. Gupta, Monosyllabic Origin of the Vedic Language, JGJRI, Vol. XIX 1962–63 PP. 47–94 (S.K. Gupta, Indological Essays में संकलित)

२. व्यवहार में गद्य का प्रयोग

२. भाषा की इस विकासप्रक्रिया में स्वभावतः ही पहले गद्यात्मक वाक्यों का विकास हुआ होगा क्यों कि पद्य में शब्द एक विशेष क्रम से नाप-तोल कर रक्खे जाते हैं। इस क्रम से संगीत और गणना का भी सम्बन्ध है। ये दोनों भाषा के विकास में बहुत पीछे सूक्ष्म चिन्तन के प्रवृद्ध हो जाने पर सत्ता में आते हैं। वैसे भी प्रतिदिन हर समय व्यवहार में इन दोनों ही बातों का प्रयोग असम्भव है। साथ ही संगीत और छन्दों का विकास शनैः शनैः अभ्यास से सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति छन्द नहीं लिख सकता। कवि भी, विशेष रूप से आशु कवि भी, सामान्य व्यवहार में गद्य का ही प्रयोग करते हैं। आजकल की अविकसित जातियों के अध्ययन से भी सिद्ध है कि वहां व्यवहार में भावप्रकाशन की शैली गद्य है और उसी से पद्यों का उद्भव होता है। अतः संस्कृत में भी गद्य की सत्ता छन्दों के प्रयोग से पूर्व अवश्य रही होगी।

३. तथापि प्रारम्भिक साहित्यसृजन में भाषा में भावप्रकाशन की शैली गद्य थी या पद्य—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि संसार के साहित्य का सब से पुरातन ग्रन्थ ऋग्वेद सब-का-सब पद्य में ही है, तथापि यजुर्वेद और अथर्ववेद के गद्य भी उतने ही पुराने हैं, जितने पुराने ऋग्वेद के पद्य। हिले-ब्रान्ड का तो यहां तक कहना है कि ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों के मन्त्रों के साथ गद्यात्मक विवरण भी थे। इस मत को मानें या न मानें इतना निश्चित है कि अपनी भाषा में प्रार्थना करने वाला सामान्य कविभिन्न जन गद्य में ही प्रार्थना करता होगा और उस गद्य से ही सम्भवतः मानव के भावावेश में आ कर गानात्मक ढंग से वाक्यों के उच्चारण के फलस्वरूप पद्य का विकास हुआ होगा। तथापि संसार की अन्य भाषाओं के साहित्य के समान संस्कृत साहित्य में भी न केवल आदि ग्रन्थ ही

पद्य में है, प्रत्युत अधिकांश अन्य रचनाएं भी पद्यमय हैं। इस का कारण सम्भवतः यह है कि लेखनकला के अभाव में गद्य की अपेक्षा पद्य को मौखिक याद रखना सरल होता है। इतना होने पर भी कुछ श्रेष्ठ कवियों ने अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति गद्य में ही की है।

३. गद्य के लक्षण

४. पद्य से भिन्न, वर्ण और मात्राओं के क्रम और संख्या के वन्धन से हीन, आवश्यकता और वक्ता की अभिलाषा के अनुसार आवश्यक पदों के सन्निवेश का नाम गद्य है। इसी भाव को विश्वनाथ ने 'वृत्त-वन्धोज्झितं गद्यम्' में और दण्डी ने 'अपादः पदसन्तानो गद्यम्' में प्रकट किया है। मोटे रूप में हम कह सकते हैं कि विचार-प्रकाशन की जिस शैली को प्रतिदिन के व्यवहार में लाया जाता है वही गद्य है।

४. गद्य के भेद

५. साहित्य शास्त्रियों ने अनलंकृत सामान्य गद्य का कोई विवेचन नहीं किया है। साहित्यिक गद्य के विश्वनाथ ने चार भेद किये हैं। उन के नाम और लक्षण इस प्रकार हैं।

१. मुक्तक—समासों से रहित गद्यरचना।

२. वृत्तगन्धि—छन्दों की गन्ध अर्थात् पुट से युक्त, परन्तु छन्द नहीं। भाव यह है कि कहीं-कहीं पर जिस में छन्दों के लक्षण भी घट जाते हैं, पर वे पूरे छन्द नहीं वनते।

३ उत्कलिका—दीर्घ समासों से युक्त गद्य।

४. चूर्णक—थोड़े समासों वाला गद्य।

दण्डी मुक्तक भेद को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अधोलिखित रूप में तीन ही भेद मानते हैं।

१. चूर्णक—कोमल अक्षरों और थोड़े समासों वाला गद्य।
(वैदर्भी रीति)

२. उत्कलिकाप्राय—कठोर अक्षर और समासों से भरा हुआ गद्य।
(गौड़ी रीति)।

३. वृत्तगन्धि—जिस के अंशों में कहीं-कहीं वृत्त के लक्षण स्पष्ट हों

६ ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि वृत्तगन्धि गद्य मुक्तक, चूर्णक और उत्कलिकाप्राय तीनों प्रकार का हो सकता है। अतः ये तीनों वृत्तगन्धि और वृत्तगन्धहीन अर्थात् साधारण गद्य इन दोनों के उपभेद मात्र हैं। अतः गद्यभेदों की तालिका इस प्रकार बनी—
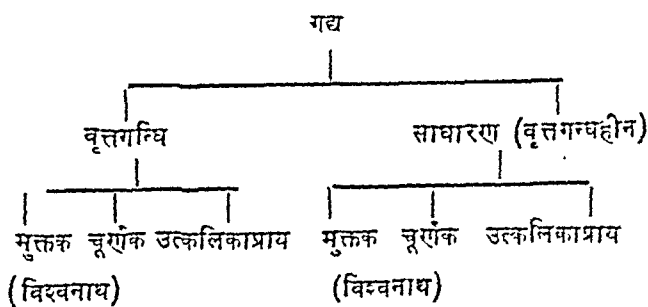
७. विश्वनाथ ने इन भेदों के उदाहरण भी दिए हैं। मुक्तक का 'गुरुर्वचसि, 'पृथुरुरसि इत्यादि, वृत्तगन्धि का 'समरकण्डूलनिबिडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर' इत्यादि (जिस में 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पूरा और 'समरकण्डूल' पहले दो अक्षरों से हीन अनुष्टुप् के पाद हैं), उत्कलिकाप्राय का 'अनिशविसृमरनिशित-शरविसरविदलितसमरपरिगतप्रवरपरबलः' और चूर्णक का 'गुणरत्न-सागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन, जनरंजन' इत्यादि उदाहरण हैं।

८. जैसा उपलब्ध गद्यकाव्यों से संकलित नीचे के उदाहरणों से ज्ञात होगा दशकुमारचरित में प्रायः चूर्णक गद्य के ही दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं पर उत्कलिकाप्राय की छटा दिखाई देती है। दण्डी का गद्य कहीं-कहीं वृत्तगन्धि भी है। बाण और अम्बिकादत्त व्यास में चारों शैलियों का सन्तुलन है। सुबन्धु ने भी सब का प्रयोग किया है। वस्तुतः सभी गद्यकाव्यों में गद्य के ये चारों भेद मिश्रित रूप में पाए जाते हैं।

शुकनासोपदेश (बाण-कादम्बरी)

९ **मुक्तक गद्य**—अ. एते हि ग्रहैरिव गृह्यन्ते, भूतैरिवाभिभूयन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते, सत्त्वैरिवावष्टभ्यन्ते, वायुनेव विडम्ब्यन्ते, पिशाचैरिव ग्रस्यन्ते। (संदर्भ १५)

आ. सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्धयन्ति, तेन सह सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपजनयन्ति, तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति। (संदर्भ १८)

इ. कुमार, तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, न निन्द्यसे साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः, तथा च न प्रकाश्यसे विटैः, न प्रतार्यसेऽकुशलैः, नास्वाद्यसे भुजङ्गैः, न वञ्च्यसे धूर्तैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः। (संदर्भ २०)

ई. प्रक्षालित इव, उन्मीलित इव, स्वच्छीकृत इव, निर्मृष्ट इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलंकृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव। (संदर्भ २२)

१०. **चूर्णक**—अ. एते हि................मदनशरैर्मर्माहता इव मुखभङ्गसहस्राणि कुर्वते, धनोष्मणा पच्यमाना इव विचेष्टन्ते,

गाढ़प्रहाराहता इवाङ्गानि न धारयन्ति, कुलीरा इव तिर्यक्परिभ्रमन्ति, अधर्मभग्नगतयः पङ्गव इव परेण सञ्चार्यन्ते, मृषावादविपाक-संजातमुखरोगा इवातिकृच्छ्रेण जल्पन्ति, सप्तच्छदतरव इव कुसुम-रजोविकारैः पार्श्ववर्तिनां शिरःशूलमुत्पादयन्ति, आसन्नमृत्यव इव बन्धु-जनमपि नाभिजानन्ति, उत्कम्पितलोचना इव तेजस्विनो नेक्षन्ते, कालदष्टा इव महामन्त्रैरपि न प्रतिबुध्यन्ते....... । (संदर्भ १५)

आ. दर्शनप्रदानमप्यनुग्रहं गणयन्ति । दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति । संभाषणमपि संविभागमध्ये कुर्वन्ति । आज्ञामपि वरप्रदानं मन्यन्ते । स्पर्शमपि पावनमाकलयन्ति । मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्यर्चनीयान्, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्, अनर्थकायासान्तरितविषयोपभोगसुखमित्युपहसन्ति विद्वज्जनम्, जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धोपदेशम्, आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने । (संदर्भ १७)

११. उत्कलिकाप्राय

अ. तात चन्द्रापीड, विदितवेदितव्यस्याधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्प-मप्युपदेष्टव्यमस्ति । केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यम-प्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम् । अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः । कष्टमनञ्जनवर्तिसाध्यमपरमैश्वर्यतिमिरान्धत्वम् । अशिशि-रोपचारहार्योऽतितीव्रो दर्पदाहज्वरोष्मा । सततममूलमन्त्रगम्यो विषमो विषयविषास्वादमोहः । नित्यमस्नानशौचवध्यो बलवान् रागमलावलेपः । अजस्रमक्षपावसानप्रबोधा घोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवतीति विस्तरेणाभिधीयसे । (संदर्भ २३)

आ. गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा सर्वा । अविनयानामेकैकमप्येषामायतनम्,

किमुत समवाय: । यौवनारम्भे च प्राय: शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धि: । अनुज्झतधवलतापि सरागैव भवति यूनां दृष्टि: । अपहरति च वात्येव शुष्कपत्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृति: । इन्द्रियहरिणहारिणी च सततदुरन्तेयमुपभोगमृगतृष्णिका । नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनस: । नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवर्तक: पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु ।

(संदर्भ ३)

। ऽ ।

१२. **वृत्तगन्धि**—ऊपर के उदाहरणों में अजस्रमक्षपावसा०

। ऽ ऽ । ऽ ऽ

निसर्गत एवाभानु०, अमूलमन्त्रगम्यो वि० आदि में अनुष्टुप् का लक्षण लागू हो जाता है ।

१३. वास्तव में बहुधा ये भेद एक ही स्थान पर मिश्रित रूप में मिलते हैं । यथा मुक्तक और उत्कलिकाप्राय: का युगपत् प्रयोग निम्न अंश में मिलता है । कोष्ठों में प्रदत्त अंश उत्कलिकाप्राय के हैं—

न ह्येवंविधमपरिचितमिह जगति किंचिदस्ति यथेयमनार्या । लब्धापि दु:खेन परिपाल्यते । (दृढगुणपाशसंदाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति उद्दामदर्प भटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जरविधृताप्यपक्रामति)........ न परिचयं रक्षति । नाभिजनमीक्षते । न रूपमालोकयते । न कुलक्रममनुवर्तते । न शीलं पश्यति ।........ (अद्याप्यारुढमन्दरपरिवर्तावर्तभ्रान्तिजनितसंस्कारेव परिभ्रामति) । (संदर्भ ८)

१४. अधोदत्त संदर्भ में चारों श्रेणियों के गद्य मुक्तक, वृत्तगन्धि, चूर्णक और उत्कलिकाप्राय का मिश्रण है ।

अपरे तु स्वार्थनिष्पादनपरैर्धनपिशितग्रासगृध्रैरास्थाननलिनीबकैर्द्यूतं विनोद इति, परदाराभिगमनं वैदग्ध्यमिति, मृगयां श्रम इति, पानं विलास इति, प्रमत्ततां शौर्यमिति, स्वदारपरित्यागमव्यसनितेति, गुरुवचनावधीरणमपरप्रणेयत्वमिति, अजितभृत्यतां सुखोपसेव्यत्वमिति, नृत्यगीतवाद्यवेश्याभिसक्तिं रसिकतेति, महापराधावकर्णनं महानुभावतेति, पराभवसहत्वं क्षमेति, स्वच्छन्दतां प्रभुत्वमिति, देवावमाननं महासत्त्वतेति, बन्दिजनख्यातिं यशःश्लोक इति, तरलतामुत्साह इति, अविशेषज्ञतामपक्षपातित्वमिति दोषानपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिरन्तः स्वयमपि विहसद्भिः प्रतारणकुशलैर्धूर्तैरमानुषलोकोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा वित्तमदमत्तचित्ता निश्चेतनतया तथैवेत्यात्मन्यारोपितालीकाभिमाना मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषमात्मानमुत्प्रेक्षमाणाः प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति। (संदर्भ १६)

१५ कादम्बरी—बाण ने कादम्बरी के अन्य भागों में इन गद्य-शैलियों का बहुशः प्रयोग किया है। यथा—शूद्रक के वर्णन 'वस्त्व नमति धर्मेण, कोपे यमेन, प्रसादे धनदेन, प्रतापे वह्निना, भुजे भुवा, दृशि श्रिया, वाचि सरस्वत्या, मुखे शशिना; बले मरुता।" में मुक्तक का

। ऽ । १   । । ।

'हर इवं जितमन्मथः, गुह इवाप्रतिहतशक्तिः, कमलयोनिरिव,

। ऽऽ-२ । । ऽ । ऽ । ऽ ३

विमानी-कृतराजहंस, मण्डलः, जलधिरिव लक्ष्मीप्रसूतिः, गंगाप्रवाह इव भगीरथपथप्रवृत्तः, रविरिव प्रतिदिवसोपजायमानोदयः, मेरुरिव सकलोपजीव्यमानपादच्छायः.........................में चूर्णक गद्य का प्रयोग किया गया है।

१६. वृत्तगन्धि—ऊपर चूर्णक गद्य के उदाहरण में संख्या १, २ और ३ से अङ्कित पदांशों में क्रमशः अनुष्टुप्, शशिवदना और

भुजगसंगता के प्रदर्शित गुरु–लघु क्रम से लक्षण घट जाते हैं। परिश्रम करने पर कादम्बरी के अनेक स्थलों पर वृत्तगन्धि गद्य मिलेगा।

१७. **उत्कलिकाप्राय**—श्रेणी के गद्य के कादम्बरी में पुष्कल उदाहरण मिलते हैं। लगभग सभी प्रकृति और पात्रों के वर्णनों में पर्याप्त अंश इस श्रेणि के गद्य का है, यथा चाण्डालकन्या, राजा शूद्रक के निर्गमन पर आस्थानमण्डप और विन्ध्याटवी के वर्णनों में "एककर्णावसक्तदन्तपत्रप्रभाधवलितकपोलमण्डलाम्, अतिबहलपिण्डालक्तकरसरागपल्लवितपादपङ्कजाम्, अतिरभससंचलनचालिताङ्गदपत्रभङ्गमकरकोटिपाटितांशुकपटानाम्, दशरथसुतनिकरनिशितशरनिपातनिहतरजनीचरबलबहलरुधिरसिक्तमूलम्" समासों की लम्बाई दर्शनीय है।

दशकुमारचरित के प्रथमोच्छ्वास में

१८. **मुक्तक**—श्रेणी का गद्य यहां अल्प मात्रा में मिलता है। यह सरल और प्रवाहमय है। यथा–"स कुत्र गतः केन वा गृहीत परीक्ष्यापि न वीक्ष्यते; किं करोमि, क्व यामि, भवद्भिर्न किमदर्शि इति। द्विजत्तोम कश्चिदत्र तिष्ठति। किमेष तव नन्दनः सत्यमेव, तदेनं गृहाण।"

१९. यत्र–तत्र चूर्णक और उत्कालिकाप्राय गद्यशैलियों के बीच-बीच में भी कतिपय मुक्तक वाक्य मिलते हैं। यथा—निर्जने वने किंनिमित्तं रुद्यते त्वया, कोऽपि रूपी कोप इव व्याघ्रः शीघ्रं मामाघ्रातुमागतवान्।

२०. **चूर्णक**—शैली का गद्य भी बहुत बिखरा हुआ है, तथापि यह गद्य मुक्तक की अपेक्षा अधिक प्रचुर है। यथा—

"ननु तापस, देशं सापदेशं भ्रमन् भवांस्तत्र तत्र भवदभिज्ञातं कथयतु इति। तेनाभाषि भ्रूभ्रमणवलिना प्राञ्जलिना–देव शिरसि देवस्याज्ञामादायैनं निर्दोषं वेषं स्वीकृत्य मालवेन्द्रनगरं प्रविश्य तत्र गूढतरं वर्तमानस्तस्य राज्ञः समस्तमुदन्तजातं विदित्वा प्रत्यागमम्।"

२१. **वृत्तगन्धि**—गद्य का पुट भी अनेकशः मिलता है यथा—

I SS IS I ISS

"ननु तापस देशं सा०, सापदेशं भ्रमन् भवांस् तत्रभवदभिज्ञातं" में अनुष्टुब् का लक्षण संगत होता है। अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार संकलित किए जा सकते हैं।

२२. **उत्कलिकाप्राय**—शैली वसुमती और राजहंस तथा मानसार के युद्ध के वर्णन आदि में पाई जाती है।

२३. प्रथमोच्छ्वास के समान दशकुमारचरित के अन्य उच्छ्वासों में भी ये गद्यशैलियां मिश्रित रूप में पाई जाती हैं। यथा विश्रुतचरित में मन्त्रिवृद्ध के अपनी स्थिति के विचार में मुक्तक, पुण्यवर्मा और विहारभद्र के वर्णनों में चूर्णक और चन्द्रपालित के व्यसनों के गुणों के वर्णन में उत्कलिकाप्राय गद्यों का प्रयोग हुआ है। वृत्तगन्धि का अनेकशः पुट मिल जाता है।

२४. **वासवदत्ता** में 'सतां तु हृदयं न प्रविशत्येव। यदि कथमपि प्रविशति, तदा पारद इव क्षणमपि न तिष्ठति' पच्यन्त इव मेऽङ्गानि। क्वथ्यन्त इवेन्द्रियाणि। भिद्यन्त इव मर्माणि। निःसरन्तीव प्राणाः। उन्मूल्यन्त इव विवेकाः। नष्टेव स्मृतिः। अधुना तदलमनया कथया।' 'अतो लघुतरमेवाभिधीयते। (त्वत्कृते) यानया यातनानुभूता, सा यदि नभः पत्रायते, सागरो मेलानन्दायते, ब्रह्मा लिपिकरायते।' आदि में मुक्तक, 'हा प्रियसख मकरन्द, पश्येदं दैवदुर्विलसितम्। किं पूर्वं मया कृतमनवदातं कर्म। अहो दुरतिक्रमता कालगतेः। अहो

ग्रहाणामतिकटुकटाक्षपातनम् । ग्रहो विसदृशफलता गुरुजनाशिषाम्'
इत्यादि में चूर्णक, विन्ध्यागिरि, वसन्तकाल, वासवदत्ता ग्रौर उस के
भवन के वर्णनों में उत्कलिकाप्राय गद्य की छटा देखने को मिलती है।

।
वृत्तगन्धि गद्य भी इस ग्रन्थ में ग्रनेकशः मिलता है। यथा नृसिंह इव
S । ।SS
दर्शितहिरण्यकशिपुक्षेत्र० में ग्रनुष्टुब् के पाद हैं।

२५. शिवराजविजय में मुक्त वाक्कयों की छटा बहुशः मिलती है, यथा 'ग्रसावेव चर्कर्त्ति, वर्भर्त्ति जर्हर्त्ति च जगत्, वेदा एतस्यैव वन्दिनः, गायत्री ग्रमुमेव गायति । सन्यासिन्, सन्यासिन्, बहूक्तम् । विरम। न वयं दौवारिका ब्रह्मणोऽप्याज्ञां प्रतीक्षामहे' में। चूर्णक ग्रौर
।S S ।
उत्कलिकाप्राय की तो भरमार है। शिववीरस्तु कस्याञ्चित्, कठिनामपि
S । । S S
कोमलाम्, स्वकण्ठेनापि त्रीन् ग्रामान् ग्रादि में स्थल-स्थल पर वृत्तगन्धि गद्य का पुट मिलता है।

२६. इस समस्त वर्णन से यह ग्रनायास ही समझा जा सकता है कि गद्यकाव्य की दृष्टि से गद्य के ये चारों भेद निरर्थक हैं। कोई भी काव्य ऐसा नहीं है जो शुद्ध मुक्तक वृत्तगन्धि चूर्णक या उत्कलिकाप्राय शैलियों में निबद्ध हुग्रा हो। ये सब शैलियां वहां मिली-जुली पाई जाती हैं। वृत्तगन्धि गद्य के विश्वनाथ द्वारा प्रदत्त उदाहरण बहुत शोभन नहीं कहे जा सकते। एक उदाहरण में वे एक समस्त पद के कुछ ग्रंश को लेते हैं, उसी के दूसरे ग्रंश में दो ग्रक्षरों का लोप मान कर शेष में ग्रनुष्टुब् का लक्षण घटाते हैं। उन्हों ने ग्रन्य किसी ग्रौर छन्द के पाद का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। वृत्तगन्धि गद्य में वृत्तों की गन्ध को सूंघना प्रत्येक के वश की बात नहीं। छन्दों का गम्भीर ग्रौर क्रियात्मक ग्रध्ययन ही इस के ग्रास्वादन में सहायक हो सकेगा। वैसे भी लम्बे-लम्बे समासों, वाक्यों ग्रौर प्रबन्धों में यत्र-तत्र ग्रनुष्टुब् ग्रादि

के लक्षण घट जाना अस्वाभाविक और असम्भव नहीं। विश्वनाथ वर्गीकरण का अभिप्राय सम्भवतः यह रहा होगा कि गद्यकार का समस्त ग्रन्थ आद्योपान्त वृत्तों की सुगन्ध विखेरता जाए।

२७. अतः यह कहना अधिक संगत होगा कि गद्यकाव्य में इन चारों शैलियों का उचित मात्रा में प्रयोग होना आवश्यक है। यदि ऐसा न मानें तो कम-से-कम मुक्तक गद्य/ शैली के काव्य में 'ओजःसमास-भूयस्त्वम्' की कसौटी लागू नहीं हो पाएगी । गद्य में पद्य का सौष्ठव लाने के लिए उत्कलिकाप्राय के साथ मुक्तक, वृत्तगन्धि और चूर्णक का प्रयोग अनिवार्य है। इन के सन्तुलित प्रयोग के अभाव में अभिमत सौष्ठव असम्भव है। पद्य में भी विषयानुसार असमास अल्पसमास और वहुसमास वाली शैलियां और विविध छन्दों का प्रयोग होता है। यह स्थिति गद्य में भी है। वृत्तगन्धि गद्य में विषयानुरूप मन्दाक्रान्ता आदि वृत्तों के भी लक्षण संगत होने चाहिये । उपलब्ध गद्यकाव्यों की इस दृष्टि से परीक्षा अपेक्षित है।

२८. विश्वनाथ से वहुत पहले दण्डी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे प्रतीत होते हैं। दण्डी ने पद्य से भिन्न रचना को गद्य मानते हुए उस के दो भेदों कथा और आख्यायिका का उल्लेख किया है और अन्त में इन दोनों को भी एक ही गद्यकाव्य के दो नाम माना है। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में और अग्निपुराण ने चूर्णक, वृत्तगन्धि और उत्कलिकाप्राय—तीन ही भेद माने हैं। पद्य के भागों के सदृश गद्य को वृत्तगन्धि माना है। यथा पातालतालुतलवासिषु दानवेषु में वसन्ततिलका का लक्षण लागू हो जाता है। चूर्णक में लम्बे-लम्बे समासों से हीन ललित पद होते हैं, और उत्कलिकाप्राय में लम्बे-लम्बे समास और उद्धत पद होते हैं। वस्तुतः ये लक्षण और वर्णन उपलब्ध गद्यलेखों की दृष्टि में समीचीन सिद्ध होते हैं। इन में भी आद्योपान्त एक प्रकार की रचना अभीष्ट नहीं रही होगी।

२६. आधुनिक युग के निबन्धों, कहानियों और उपन्यासों आदि में भी लगभग इन सभी शैलियों का मिश्रण पाया जाता है। शुद्ध मुक्तक गद्य यहां भी सुप्रचुर नहीं है। उत्कलिकाप्राय की ओर भी बहुत प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती है। चूर्णक गद्य का ही सामान्यतः प्रयोग लक्षित होता है।

५. काव्य का लक्षण

३० संस्कृत साहित्यकारों के अनुसार पद्यबद्ध रचना ही काव्य नहीं। उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर गद्य-बद्ध रचना भी काव्य की कोटि में आ जाती है। यही नहीं। उन के मत में तो **गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति** 'गद्य ही कवि की कसौटी है।' अतः उन के विचार में सफल गद्य-लेखक भी कवि है। केवल पद्य-लेखक ही नहीं। यह ठीक भी है। पद्य लिखना इतना कठिन नहीं जितना गद्य में काव्योचित सौन्दर्य की सृष्टि करना। इस में विरले ही सफल होते हैं।

३१. काव्य की परिभाषा में आचार्यों में प्राचीन काल से मतभेद रहा है। उन्हों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण दिये हैं। ध्वनि या व्यंजना प्रधान काव्य सर्वोत्तम होता है, यह सब स्वीकार करते हैं। '**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**' "रस-युक्त वाक्य ही काव्य है'। आज-कल प्रायः यह लक्षण ही स्वीकार किया जाता है, यद्यपि जगन्नाथ '**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**' कह कर काव्य के क्षेत्र को विस्तृत कर देते हैं। वास्तव में रस ही काव्य की आत्मा है। यद्यपि गुण और अलंकारों से काव्य का सौन्दर्य बढ़ जाता है पर उन के बिना भी काव्य हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि गद्यबद्ध रचना भी काव्य हो सकती है। काव्य का लक्ष्य चतुर्वर्ग-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। रस, रमणीय अर्थ, अलंकार, और गुण आदि से युक्त होने पर भी यदि

वह धर्मादि की सिद्धि द्वारा मोक्ष के फल की ओर न ले जाए, तो उस का काव्यत्व विचारणीय होगा। मोक्षदायक काव्य को ही ऋग्वेद में देव का अमर काव्य कहा गया है—'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'

६. गद्यकाव्य के भेद—

३२. दण्डी के पूर्ववर्ती प्राचीन आचार्यों ने गद्यकाव्य के दो भेद माने हैं:—कथा और आख्यायिका। परन्तु इन दोनों के लक्षण अथवा दोनों के अन्तर में आचार्यों में मतभेद है। अग्निपुराण ने ये लक्षण दिए हैं।

कर्तृवंशप्रशंसा स्याद् यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भविपत्तयः॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र सा चूर्णिकोत्तरा
वक्त्रं चापरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका मता।
श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति।
मुख्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम्।
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वा लम्बकैः क्वचित्।
सा कथा……… ॥ (अ० ३३७, श्लो० १३-१७)

३३. आचार्य भामह भी समीप-समीप यही लक्षण करते हैं।

प्रकृतानुकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यार्थशंसि च॥
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता।
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि॥
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तया।
अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते॥ (१,२५-२९)

३४. इन लक्षणों के अनुसार दोनों भेदों का विशेष अन्तर इस प्रकार है–

आख्यायिका	कथा
१. कवि के वंश का वर्णन गद्य में हो।	१. कवि के वंश का वर्णन पद्यों में हो।
२. लड़कियों का अपहरण, युद्ध, नायक और नायिका का एक दूसरे से वियोग, नायक के अन्य कष्ट–ये विषय होते हैं।	२. यहाँ इन विषयों का अभाव होता है।
३. वृत्तकथन नायक द्वारा होता है।	३. यहां पर अन्यों द्वारा।
४. आन्तरिक विभाग उच्छ्वास कहे जाते हैं।	४. यहां पर लम्बक। परन्तु यहां पर आन्तरिक विभाग प्रायः किए ही नहीं जाते।
५. आगे आने वाली घटनाओं के सूचक पद्य वक्त्र और अपर-वक्त्र छन्दों में बीच-बीच में आते हैं।	५. यहां इन का अभाव होता है।

३५. आचार्य दण्डी ने इस विषय की अच्छी विवेचना की है। वे ऊपर के मत का खण्डन कर कथा और आख्यायिका को एक ही गद्यकाव्य के दो भिन्न-भिन्न नाम मात्र मानते हैं। उन का विचार है कि प्राचीन आचार्यों ने कथा और आख्यायिका के जो लक्षण दिए हैं वे कहीं भी नहीं घटते। कथा में आख्यायिका और आख्यायिका में कथा के लक्षण पाए जाते हैं। इस प्रकार प्रसिद्ध कथा और आख्यायिकाओं में लक्षण-संकर होने से दोनों के मध्य कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। उन का मूल पाठ अधोलिखित है—

अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥

नायकेनैव वाच्याऽन्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥
आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः
भेदश्च दृष्टो लम्बादिरुच्छ्वासो वाऽस्तु किं ततः ॥
तत्कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः ।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः ।
कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
मुखमिष्टार्थसंसिद्ध्यै किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥

काव्य आदर्श १, २३–३०

३६. दण्डी के ये विचार अत्यन्त महत्त्व के हैं। आजकल तो हमें इने-गिने ही गद्यकाव्य मिलते हैं, परन्तु दण्डी के समय अनेकों विद्यमान रहे होंगे, जिन के आधार पर दण्डी ने यह निष्कर्ष निकाला है। वे स्वयं भी एक कुशल गद्य-लेखक हुए हैं। उन के अपने गद्यकाव्य में भी ये लक्षण स्पष्टतया नहीं घटते।

३७. यद्यपि दण्डी ने इस भेद प्रणाली की इतनी कटु आलोचना की है, तो भी उन के पीछे आने वाले आचार्यों ने इन भेदों को उन के प्राचीन लक्षणों के साथ ही अपनाया है। इन में रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और विद्यानाथ आदि प्रमुख हैं। अलंकारसंग्रहकार के मत में कथा कल्पित वस्तु होती है, परन्तु आख्यायिका की वस्तु का आधार वास्तविक घटनायें ही होती हैं। आनन्दवर्धन समासों के प्रयोग

★ कथा कल्पितवृत्तान्ता सत्यार्थाख्यायिका मता ।

सम्वन्धी कुछ नियम देते हैं÷—जो इन के अपने ही विचार भासित होते हैं।

३८. इस सम्बन्ध में अन्तिम मत विश्वनाथ का है। वे लिखते हैं:-

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम् ।
आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम् ॥
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित् ।
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति वध्यते ॥
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम् ॥ सा०द०परि० ६।

अर्थात् कथा में रोचक वस्तु गद्य में लिखी हुई होती है। बीच-बीच में आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में पद्य आते हैं। आरम्भ में पद्यों से ही नमस्कार और दुष्टों आदि के व्यवहारों का वर्णन होता है। आख्यायिका कथा के समान होती है। इस में कवि के कुल का और अन्य कवियों का वर्णन होता है। कहीं-कहीं पद्य भी आ जाते हैं। कथा के अंशों के विभागों को आश्वास कहते हैं। आश्वास के आरम्भ में आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र के किसी व्याज से आगामी वृत्तान्त को बताने वाले पद्य होते हैं।

३९ यह लक्षण भी अन्य लक्षणों के समान ही है। इस में कोई विशेषता नहीं। प्रत्युत आश्वास शब्द से इस लक्षण में कृत्रिमता का आभास होता है, क्यों कि आश्वास शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है ×। वास्तव में 'आख्यायिका कथावत् स्यात्' को लिख कर

÷आख्यायिका तु भूम्ना मध्यमसमासा दीर्घसमासे एव संघटने । ....अतिदीर्घसमासरचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोः आख्यायिकायामपि शोभते। ....ध्वन्यालोक पृ० १४३, १४४ (बम्बई)।

×देखो काले—दशकुमारचरित की भूमिका पृष्ठ IX (तृतीय संस्करण)

विश्वनाथ ने अपते मन के द्वन्द्व का आभास दिया है। कुछ भी हो, कथा-और आख्यायिका का भेद शास्त्रीय ही है, व्यावहारिक नहीं।

७. गद्य का विकास–

४० संस्कृत-साहित्य का प्राचीनतम गद्य यजुर्वेद और अथर्ववेद में मिलता है। यह गद्य प्रारम्भिक दशा में है तथा सरल, साधारणतया अनलंकृत और स्वाभाविक है।

४१. ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक गद्य का विकसित रूप मिलता है। यद्यपि ये ग्रन्थ वेद की टीकाएं हैं तथापि इन में अनेकों कथाएं आई हैं जो रोचक और उपदेशात्मक हैं। इन की भाषा सरल और स्पष्ट है। शेष भाग का गद्य अपक्व, भद्दा, गड़बड़ और अधूरा है। आरण्यकों का गद्य भी ऐसा ही है।

४२. गद्य की अगली स्थिति उपनिषदों में पाई जाती है जिन में से कुछ गद्य में, कुछ मिश्रित और शेष पद्य में हैं। इन का गद्य सरल और ऋजु है। भाव-प्रकाशन की शैली सुगम है और भावों की गम्भीरता है।

४३. सूत्रों में गद्य का विचित्र स्वरूप पाया जाता है। इन में लम्वी वात ससार अत्यल्प असन्दिग्ध और निर्दोष शब्दों में कही गई है। ये विना टीका के समझे नहीं जा सकते। इन का लक्षण है–"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः" तथा "अल्पाक्षरत्वे सति वह्वर्थद्योतकत्वं सूत्रत्वम्।"

४४. लौकिक संस्कृत का गद्य सर्वप्रथम महाभारत में मिलता है। यह गद्य सरल, सुन्दर और रोचक हैं। अनेक स्थानों पर अलंकृत भी है। स्वाभाविकता इस का विशेष गुण है।

४५. संस्कृत देश की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक भाषा थी। अतः आश्चर्य नहीं यदि हमें कौटिल्य अर्थशास्त्र, अनेकों शिलालेख और

महाभाष्य जैसे व्याकरण के ग्रन्थ गद्य में मिल जाएं । कौटिल्य की भाषा सूत्रवत् है । महाभाष्य की प्राञ्जल और मनोमोहक है । शिलालेखों में काव्य-शैली का प्रायः दर्शन होता है ।

४६. संस्कृत के प्रभाव से वाधित हो पीछे के काल में बौद्धों ने भी अपने ग्रन्थ संस्कृत में लिखे । इन की शैली वैदर्भी है परन्तु गौडी की ओर झुकी हुई है । अलंकारों का सुन्दर सन्निवेश है । भाव गम्भीर और वर्णन विशद हैं । परन्तु भाषा में उच्छृङ्खलता पाई जाती है ।

४७. पुराणों का गद्य साधारण कोटि का है । कहीं-कहीं पर सौन्दर्य अच्छा बन पाया है । दार्शनिक स्थल कुछ जटिल हो गए हैं ।

४८. साहित्यशास्त्रकारों और दार्शनिकों आदि ने जो गद्य लिखा है वह अत्यन्त जटिल और पारिभाषिक तथा बाल की खाल खींचने वाला है । उस में रोचकता नाम-मात्र को भी नहीं है ।

४९. साहित्यिक ग्रन्थों में जो गद्य नाटकों और आख्यानों आदि में आया है वह यद्यपि सुन्दर, सरल, मधुर, रोचक और अलंकृत है तो भी उसे गद्यकाव्य की कोटि का नहीं कहा जा सकता । क्यों कि यहां पर कवि का उद्देश्य गद्यकाव्य की छटा का प्रकाशन नहीं है । हां, चम्पू ग्रन्थों का गद्य गद्यकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है ।

८. संस्कृत गद्यकाव्य का इतिहास—

५०. गद्यकाव्य की जो शैली पीछे सुबन्धु और बाण के ग्रन्थों विकसित रूप में मिलती है उस का प्राग्रूप वत्सभट्टि के शिलालेख और

हरिषेण की प्रशस्ति में मिलता है। इन लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि इस शैली का विकास पर्याप्त पहले हो चुका होगा।

५१. गद्यकाव्यों में प्राचीनतम पुस्तक सुवन्धुकृत वासवदत्ता है। यह छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखी गई। इस में वासवदत्ता और कन्दर्पकेतु की प्रेमकथा का चित्रण है। श्लेष ने इस को क्लिष्ट बना दिया है, यद्यपि कवि इस में गौरव अनुभव करता है कि उस के प्रवन्ध में प्रत्येक अक्षर में श्लेष की छटा और वैदग्ध्य हैं—'प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रवन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्।' इस ग्रन्थ में भाव अल्प हैं, वर्णन अधिक। शब्दजंजाल ने काव्य को फीका और रसहीन बना दिया है। इस की रीति गौड़ी है। वास्तव में गद्यकाव्य के लिए यही शैली उपयुक्त मानी गई है। दण्डी तो कहते हैं कि ओज गुण और समासवाहुल्य ही गद्य के प्राण हैं—'ओजःसमासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।'

५२. सुवन्धु के वासवदत्ता से यह तो सुव्यक्त है कि इस से पूर्व अनेकों गद्यकाव्य लिखे जा चुके होंगे। इतनी विकसित गद्यशैली का यह काव्य किसी प्रकार भी पहला काव्य नहीं माना जा सकता। दण्डी के काव्यादर्श के कथा और आख्यायिका के विवेचन से भी यही परिणाम निकलता है।

५३. अब हमें वाण की प्रौढ़ रचनाएं हर्षचरित और कादम्बरी मिलती हैं। दोनों वड़ी भावपूर्ण और रसमय हैं। वर्णनों की प्रचुरता है। शब्दावली भावानुसारिणी है। अलंकारों की छटा दर्शनीय है। वाण को गद्यलेखकों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने 'वाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' [समस्त (काव्य) जगत् वाण की भूठन है।] कह कर उस की महानता को प्रकाशित किया है। इन का समय सातवीं शताब्दी का मध्य भाग है।

५४. दशकुमारचरित में दण्डी ने नई शैली का अनुसरण किया है। वे वैदर्भी के लेखक हैं। पदावली सरस, मधुर, कोमल और भावाभिव्यञ्जक है। पदलालित्य अनुपम है। अलंकारों की, विशेषतः अनुप्रास और यमक की छटा दर्शनीय है। भावों में गाम्भीर्य है। रोचकता पर्याप्त है। परन्तु काव्य में अश्लीलता का प्राधान्य है। दण्डी का काल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

५५. धनपाल की तिलकमञ्जरी ईसा की ११ वीं शताब्दी में लिखी गई। इस में तिलकमञ्जरी और हरिवाहन समरकेतु के प्रेम की कथा है। यद्यपि इस में बाण का अनुकरण करने का प्रयत्न स्पष्ट है तो भी इस में कादम्बरी की उच्चता, सौन्दर्य और प्रवाह का सर्वथा अभाव है। इस का लक्ष्य जैन जीवन और सिद्धान्तों का प्रतिपादन और वर्णन है।

५६. इस के अतिरिक्त भट्टारहरिचन्द्र, शीलभट्टारिका और ओडयवादीभसिंह आदि कुछ गद्य-लेखकों की ओर निर्देश पाए जाते हैं; परन्तु उन के ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के अनन्तर जो गद्यकाव्य लिखे गए, वे आधुनिक काल में रखे जाते हैं। साथ ही उन में पहले गद्य-काव्यों की-सी सजीवता भी प्रायः नहीं मिलती हैं। इस युग के काव्यों में अम्बिकादत्त व्यास का शिवराजविजय विशेष उल्लेखनीय है। यह रोचक और प्रवाहमयी शुद्ध प्राञ्जल भाषा में लिखा गया है। यहां लालित्य और उदात्त भावनाओं की प्रचुरता है। उपन्यास-शैली में कुसुमलक्ष्मी आदि कतिपय रचनाएं प्रकाश में आई हैं। इन के लक्ष्य और प्रतिपादनशैली आदि प्राचीनता की परिधि से निकल कर स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

६. गद्यकाव्यों की विरलता के कारण—

५७. प्रश्न होता है कि प्राचीन काल में गद्यकाव्य इतने कम क्यों लिखे गए। आजकल तो गद्यकाव्य पद्यकाव्य की अपेक्षा अधिक मिलते हैं।

५८. यह सत्य है कि संस्कृत में इने-गिने ही गद्यकाव्य मिलते हैं परन्तु ऊपर दिखाया जा चुका है कि प्राचीन काल में और भी अनेकों गद्यकाव्य लिख गए थे जो अब प्राप्त नहीं। देश की अक्षय निधि—साहित्य दुष्टों द्वारा जला कर भस्म कर दी गई, जिस से असंख्य अनमोल रत्न अब सदैव के लिए अप्राप्य हो गए हैं। अतः गद्यकाव्यों की इयत्ता निर्धारण करना दुःसाहस ही है। हां, यह सत्य है कि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार गद्यकाव्य लिखना उतना सरल नहीं था जितना पद्यकाव्य। अतः गद्यलेखक कम ही मिलते थे। पद्य में जिस प्रकार की मादकता और श्रुतिमाधुर्य मिलते हैं वैसे गद्य में सम्भव नहीं। पद्य को याद करने में सरलता होती थी और लिखने में कम परिश्रम होता था। गद्य में ये गुण नहीं थे। छापेखाने न होने से इन दोनों बातों का महत्त्व बढ़ जाता है। साथ ही समासबाहुल्य आदि के कारण गद्यकाव्य को समझना भी सरल न था। अतः यदि गद्यकाव्य लिखने की ओर कवियों की प्रवृत्ति कम रही तो आश्चर्य नहीं। यह भी सत्य है कि यद्यपि गद्य को भी शास्त्रीय रूप से काव्य माना गया है तथापि व्यवहार में तो पद्यबद्ध रचना ही काव्य मानी गई है। अतः गद्यकाव्यों की कमी कोई असाधारण बात नहीं।

१०. तीन दण्डी

५९. संस्कृतसाहित्य के कवियों और लेखकों के जीवन आदि का कोई क्रमवद्ध इतिहास लिखना अति दुष्कर रहा है। ये लेखक अपने ग्रंथों में अपने जीवन का कोई परिचय नहीं देते हैं। कई तो अपना नाम भी नहीं लिखते हैं। इस का परिणाम यह हुआ कि हमें कवियों और उन की कृतियों के सम्बन्ध में पर्याप्त सन्देह रहते हैं और कल्पना की उड़ान को अपना अवसर मिलता है।

६०. कवि दण्डी भी इस नियम से बाहर नहीं हैं। इन के ग्रन्थों से इन का कोई परिचय नहीं मिलता है। परिच्छेदों और उच्छ्वासों की समाप्ति पर आचार्य दण्डी या श्रीदण्डी नाम मिलता है। उधर भारतीय प्रशस्तियों ने दण्डी को एक महाकवि बताया है और यहां तक कहा है कि 'कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः'। पर क्या आचार्य गद्यलेखक और कवि दण्डी तीनों एक ही व्यक्ति थे अथवा भिन्न-भिन्न, यह सन्देह स्वाभाविक ही है।

६१. श्री अगाशे के मत में आचार्य, कवि और गद्यलेखक दण्डी तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुए हैं। उन की युक्तियों का सार यह है—

६२. दशकुमारचरित और काव्यादर्श दण्डी के नाम से प्रख्यात हैं। 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' के आधार पर उन के एक तृतीय ग्रन्थ की सत्ता अनुमेय है। दण्डी की भारतीय प्रशस्तियों को देख कर विचार होता है कि दण्डी ने कोई पद्यात्मक काव्य भी लिखा होगा जिस के आधार पर उन की यह ख्याति हुई। दशकुमारचरित और काव्यादर्श में यह क्षमता नहीं कि दण्डी को इतनी प्रशंसा दिला सकें। अतः दण्डी कवि जिस को इतनी प्रशस्तियां मिली हैं वह काव्यादर्शकार और दशकुमारचरितकार दण्डी से भिन्न व्यक्ति है। इस कवि दण्डी के ग्रन्थ अब नहीं मिलते। दूसरी ओर काव्यादर्श के सिद्धान्तों और दशकुमारचरित में आकाश-पाताल का अन्तर है। दश-

कुमारचरित में अनेकों साहित्यिक नियमों की अवहेलना की गई है। यह सुरुचिविरुद्ध है जो काव्यादर्श को सर्वथा असह्य है, जैसे—

> "त्वामयमावद्धाञ्जलि दासजनस्तमिममर्थमर्थयते।
> स्वपिहि मया सह सुरतव्यतिकरखिन्नैव मा मैवम्॥

निश्चय ही

> 'कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
> तथाऽप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥
> कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
> इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥'
>
> (का० आ० १, ६२-६३)

के अनुसार अश्लील ही है। यह अश्लीलता इस ग्रंथ में प्रभूत रूप से मिलती है, जो दण्डी के 'ग्राम्यताऽस्त्येव सा सभ्येतरकीर्तनात्' (का० आ० १, ६५) के अनुसार असभ्य वर्णन है, जो काव्यादर्शकार का नहीं, बल्कि अन्य किसी का है। दशकुमारचरित काव्यदर्श के नियम 'ओजः-समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्' के अनुसार ओज आदि गुणों से युक्त होना चाहिए था, परन्तु यह ग्रन्थ इस कसौटी पर पूरा नहीं उतरता है। इस ग्रन्थ में समासों का प्रयोग साधारण है, भूयान् नहीं। अतः काव्यादर्श के रचयिता आचार्य दण्डी दशकुमार-चरित के रचयिता गद्य-लेखक दण्डी से भिन्न हैं। इस प्रकार एक नहीं तीन दण्डी हुए हैं।

११. मत का खण्डन

६३. श्री मोरेश्वर रामचन्द्र काले को इस उपपत्ति पर यह आपत्ति है कि एक ही लेखक की विभिन्न कृतियों में गुणों का तारतम्य प्रायः पाया जाता है। यह सम्भव है कि कवि ने अपनी अपेक्षाकृत प्रौढ़ावस्था में अन्य काव्य भी लिखे हों, जो अब नहीं मिलते। सम्भव है

उन्हीं के आधार पर दण्डी को भारतीय प्रशंसाओं की प्राप्ति हुई हो ।
दूसरे दशकुमारचरित कवि की युवावस्था का काव्यादर्श के लिखने के पूर्व का ग्रंथ प्रतीत होता है, पीछे का नहीं । अतः दशकुमारचरित लिखने के समय कवि का आलङ्कारिक ज्ञान या तो विशेष परिपक्व नहीं था या उस ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया । पश्चात् में उस के विचार परिपक्व हो गये और उस ने काव्यादर्श की रचना की । यह भी सुविदित है कि नियम बनाना सरल है, परन्तु उन का पालन सरल नहीं । अतः यदि दण्डी ने अपने नियमों का स्वयं उल्लंघन किया है तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं । भारतीय परम्परा भी आचार्य, कवि और गद्य-लेखक दण्डी को एक ही मानती प्रतीत होती है । कवयित्री गङ्गादेवी अपने माधुर्यविजय में लिखती हैं—

"आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसम्पदाम्
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम् ॥' १, १०॥

इस में आचार्य और कवि दण्डी की एकता स्पष्ट झलक रही है ।

६४. परन्तु सत्य तो यह है कि कवियों के सम्बन्ध में परम्परा अत्यन्त दूषित है । वह विश्वास के योग्य नहीं । गङ्गादेवी के कथन का तो केवल यही भाव है कि आचार्य दंडी की वाणी अति मधुर और मनोहर है । इस का यह तात्पर्य तो नहीं कि आचार्य दण्डी वही व्यक्ति हैं जो भारतीय प्रशस्तियों के कवि दण्डी । क्षण-भर के लिये यह मान भी लें तो भी गद्य-लेखक दण्डी और आचार्य दण्डी की एकता के लिये तो कोई प्रमाण नहीं । उधर इन दोनों के पृथक्त्व के लिये भ कुछ आन्तरिक अनुमानों के अतिरिक्त कोई सबल युक्ति नहीं । ऐसी सन्दिग्ध स्थिति में नाम की एकता के आधार पर आचार्य, कवि और गद्यलेखक दण्डी को एक भी माना जा सकता है और अलग-अलग भी ।

१२. दण्ड का जीवन—

६५. कालिदास आदि अन्य कवियों के समान दण्डी का जीवन चरित भी अन्धकारमय है। कवि ने अपने ग्रन्थों में इस बारे में कुछ नहीं कहा है।

६६. अन्य प्रमाण भी सहायक नहीं। कविचरित और भोज-प्रबन्ध की परम्परा के अनुसार कालिदास, भवभूति और दण्डी सम-कालीन थे। पर यह बात तो सर्वथा त्याज्य है। क्यों कि भवभूति और कालिदास की सत्ता भिन्न-भिन्न कालों में प्रमाणित हो चुकी है।

६७. एक अन्य जनश्रुति दण्डी को कालिदास का समकालीन बना कर उन दोनों का वैमनस्य बढ़ जाने पर सरस्वती द्वारा दण्डी को यह सम्मत्ति दिलाती है कि "कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः" और कालिदास को "त्वमेवाहं न संशयः" यह गौरव प्रदान कराती है। परन्तु इस का अन्य आधारों पर निर्माण की हुई तिथि से विरोध होने से यह माननीय नहीं।

६८. कुछ विद्वानों ने दण्डी शब्द को दण्डी सन्यासी के अर्थ में ले कर परिणाम निकाला है कि दण्डी-शब्द कवि के नाम का वाचक नहीं वरन् दण्डिसम्प्रदाय का द्योतक है। दशकुमारचरित और काव्यादर्श इस सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति से सम्बन्धित हैं जिस का नाम अज्ञात है। परन्तु 'दण्डी' पद के पूर्व आचार्य, श्री आदि शब्दों का प्रयोग उस पद को कवि का नाम ही सिद्ध कर रहा है, तथाकथित सम्प्रदाय का निर्देशक नहीं बता रहा है।

६९. काव्यादर्श में महाराष्ट्री प्राकृत और वैदर्भी रीति की प्रशंसा से, दक्षिण में प्रचलित मुरगों की लड़ाई के वर्णन से, कावेरीतीर-पत्तन आदि पदसमूहों के प्रयोग से, कलिङ्ग और आंध्र के उल्लेख से अनुमान लगाया जा सकता है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे। वे समृद्धि-सम्पन्न थे। उन्हों ने जीवन में सांसारिक सुखों का पर्याप्त उपभोग किया था। उन्हों ने भिन्न-भिन्न स्तरों के लोगों के जीवन का निरीक्षण किया

था। यह हम दशकुमारचरित के विभिन्न वर्णनों से अनुमान लगा सकते हैं। दण्डी के धार्मिक विचारों का अनुमान सम्भव नहीं। पूर्व-पीठिका के मंगलश्लोक में विष्णु की प्रशंसा है, परन्तु इस श्लोक के दण्डिकृत होने में पूरा-पूरा सन्देह है। इन्हों ने वात्स्यायन के कामसूत्र, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और कामन्दकीय नीति आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था।

७०. १९२४ में श्री एम० आर० कवि, एम० ए० ने अवन्तिसुन्दरी-कथा नामक एक गद्यकाव्य को ढूंढ कर प्रकाशित किया है और इसे दण्डी की रचना माना है। यह काव्य अत्यन्त विकृत रूप में मिला है। इस का एक पद्यात्मक सार भी मिला है जो बहुत सुरक्षित है। इस सार में दण्डी और कुछ अन्य कवियों का परिचय दिया गया है। इस के अनुसार दण्डी के पूर्वज आनन्दपुर-गुजरात में रहते थे। फिर वे अचलपुर (आजकल के वरार प्रान्त के एलिचपुर) में आ कर बस गए। इन का गोत्र कौशिक था। इन के एक वंशज नारायण स्वामी के पुत्र दामोदर थे। एक पाठ के अनुसार ये पीछे भारवि के नाम से प्रसिद्ध हुये। दूसरे के अनुसार ये भारवि के समकालीन थे। दामोदर का समय ५७० ईसवी के आसपास आता है। दामोदर के पुत्र मनोरथ हुये, मनोरथ के वीरदत्त। इन की पत्नी का नाम गौरी था। दण्डी इन्हीं वीरदत्त और गौरी के पुत्र थे। अतः इन का वंशवृक्ष अधोलिखित है—
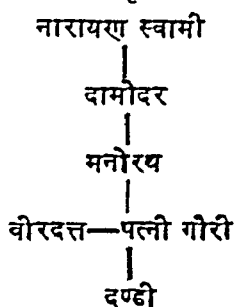
७१. दण्डी के माँ-बाप इन की बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गए। काञ्ची पर चालुक्यों का आक्रमण होने से दण्डी को भागना पड़ा। पल्लवों के पुनः राज्य-संगठन कर लेने पर ये लौट आए। इन्होंने अपना साहित्य-कार्य यहीं पर किया। यद्यपि इस वृत्तान्त की पुष्टि अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकी है तो भी इस पर अविश्वास का कोई कारण नहीं, विशेषतः जब इन का दाक्षिणात्य होना इन की कृतियों से भी सिद्ध है।

१३. दण्डी की तिथि—

७२. दण्डी की तिथि विवादास्पद है और अन्धकार के आवरण से ढकी हुई है। इस ओर सर्वप्रथम प्रयास स्वर्गीय प्रोफेसर विलसन का था। श्री विलसन ने कवि को ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा १२वीं सदी के पूर्वार्ध में रक्खा था। उन के अनुसार दशकुमारचरित में आए हुए यवनों और भोजवंश के उल्लेख तिथि निर्णायक हैं। यवन व्यापारियों और नाविकों के रूप में वर्णित हैं। अतः भारतीयों को उन का ज्ञान मुस्लिम-विजय से पूर्व ही का रहा होगा। इस लिए पुस्तक मुस्लिम-विजय से पूर्व की है। भोजवंश के राजा के प्रशंसात्मक वर्णन से राजा भोज की पूर्वसत्ता सिद्ध है तथा दण्डी भोज के किसी वंशज के राज्यकाल में हुए हैं। यह राजा १०वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में राज्य करता था।

७३. परन्तु श्री विलसन की युक्तियों में बल नहीं। यवनों के उल्लेख से केवल यही सिद्ध होता है कि दण्डी मुस्लिम-विजय से पूर्व हुए हैं। परन्तु कितने पहले? यह पता नहीं। फिर संस्कृत-साहित्य में यवन शब्द ग्रीक आदि अनेकों विदेशी जातियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः यवनों का उल्लेख तिथि-निर्णय में सहायक नहीं।

७४. भोज एक वंश का नाम है। कालिदास ने भी भोज का उल्लेख किया है और महाभारत में भी भोज का वर्णन है। अतः दण्डी का

संकेत किस काल के भोजवंशीय राजा की ओर है, यह ज्ञात नहीं। अतः श्री विलसन का मत माननीय नहीं।

७५ श्री अगाशे के अनुसार भी यह ग्रन्थ ईसा की ११वीं या १२ वीं शताब्दी में लिखा गया क्यों कि १० वीं सदी से पूर्व दशकुमार-चरित का उल्लेख किसी संस्कृत लेखक ने नहीं किया है। नृपतुङ्ग ने भी बाण की तो प्रशंसा की है, दण्डी की नहीं। परन्तु इस युक्ति में भी सार नहीं। यह आवश्यक नहीं कि पीछे आने वाले लेखक अपने पूर्ववर्ती सभी लेखकों की ओर निर्देश करें अथवा वे उन सब की कृतियों से उद्धरण दें। अतः इस मत को भी मानना सम्भव नहीं।

७६. दशकुमारचरित में वर्णित सामाजिक स्थिति इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालती है। ठीक इसी प्रकार की सामाजिक अवस्था शूद्रक के मृच्छकटिक में मिलती है। राजनैतिक और भौगोलिक वर्णन भी केवल यही सिद्ध करते हैं कि यह पुस्तक मुसलमानों के आगमन से पूर्व की है।

७७. नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी के नाम का उल्लेख है। उसी शताब्दी के सिंघाली और कन्नड़ी भाषाओं के लक्षण-ग्रन्थों पर दण्डी के काव्यादर्श की छाया स्पष्ट झलकती है। अतः ९वीं शताब्दी इन की निचली सीमा हो जाती है। श्री काले के मत में दण्डी आचार्य वामन के पूर्ववर्ती हैं। वामन का समय ८वीं सदी का पिछला भाग है। अतः वे मानते हैं कि दण्डी की तिथि की निचली सीमा ८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। परन्तु भामह और दण्डी का पौर्वापर्य निश्चित नहीं। भामह की तिथि भी प्रामाणिक रूप से निर्धारित नहीं हुई है। अतः यह युक्ति हमें कोई विशेष सहायता नहीं देती।

७८. काव्यादर्श के 'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्' ॥ (१,३४) पद्य में ५वीं सदी में प्रवरसेन द्वारा रचे गए सेतुबन्ध का उल्लेख है। साथ ही 'लक्ष्म लक्ष्मीं

तनोनीति प्रतीतिसुभगं वचः' में दण्डी कालिदास (५ वीं सदी) के 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' का उल्लेख कर रहे हैं। अतः दण्डी ५ वीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हो सकते। यदि कालिदास का समय ई. पू. १ म. श माना जाए तो यह ऊपरली सीमा चार शताब्दी पहले मानी जा सकती है।

७९. काव्यादर्श के 'अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः। दृष्टि-रोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥' में कादम्बरी के शुकनासोपदेश की छाया झलकती है। इसी प्रकार की बाण के ग्रंथों की छाया अन्यत्र भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है।

८०. अवन्तिसुन्दरीकथासार में दण्डी ने बाण की प्रशंसा 'भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः' लिख कर की है। दण्डी के कादम्बरी के कथा-सार का पूर्व भाग बाण की कादम्बरी की कथा से मिलता है, परन्तु उत्तरार्द्ध का नहीं। अतः दण्डी बाण के आस-पास ही हैं, बहुत पीछे नहीं। पूर्व होने का तो प्रश्न ही नहीं।

८१. श्री काले के मत में दशकुमारचरित पर बाण का प्रभाव स्पष्ट नहीं। यदि दण्डी बाण के पीछे होते तो वे बाण के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते थे। स्वाभाविकता और शैली आदि में दशकुमारचरित बाण की अपेक्षा कालिदास और भारवि के अधिक निकट हैं। कादम्बरी, सुबन्धु की वासवदत्ता और दशकुमारचरित—इन तीनों में दशकुमारचरित ही सब से प्रथम प्रतीत होता है। बाण और सुबन्धु की शैली अधिक कृत्रिम और विस्तृत है, दण्डी की उतनी नहीं। अतः दण्डी बाण और सुबन्धु से पहले हुए हैं, परन्तु दण्डी और बाण के समय का अन्तर निश्चित नहीं किया जा सकता। सम्भवतः वे समकालीन हों—एक उत्तर में और दूसरा दक्षिण में। इस प्रकार दण्डी को लगभग ५५० ई. और ६५० ई. के बीच में रक्खा जा सकता है। अवन्तिसुन्दरीकथासार के अनुसार भी वे ६५०ई. का समय निश्चित करते हैं, पर वे इसे अभी पर्याप्त पुष्ट नहीं मानते हैं।

८२. श्री काले की युक्ति अन्य सब आधारों की उपेक्षा कर लेखन-शैली के भेद पर ही अवलम्बित है, परन्तु देश के साहित्य में एक ही समय में भिन्न-भिन्न शैलियां और प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। फिर बाण और दण्डी का केवल शैली के आधार पर ही पौर्वापर्य कैसे माना जा सकता है? आगे चल कर आप दण्डी को गद्य में नई लेखनशैली का प्रवर्तक भी मानते हैं× और अवन्तिसुन्दरीकथा को दण्डी की कृति भी। इसी कारण मन में द्वन्द्व होने से वे दण्डी को बाण का समकालीन मानने को तैयार हैं। अतः दण्डी सुबन्धु से पूर्व के नहीं हो सकते।

८३ प्रो० पाठक के मत में काव्यादर्श ६५० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता क्यों कि उस में निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्यहेतु का विभाग ६५० ई० में भर्तृहरि के लिखे हुए वाक्यपदीय के अनुसार है।

८४. अवन्तिसुन्दरीकथासार के अनुसार दामोदर और भारवि यदि एक ही नहीं तो समकालीन तो अवश्य थे। एक पीढ़ी के लिए वीस वर्ष लगा कर दण्डी का समय भारवि के ८० वर्ष पश्चात् आता है। यदि भारवि को ७ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में रक्खा जाय तो दण्डी ७ वीं के अन्त में या ८ वीं के आरम्भ में रक्खे जा सकते हैं।

८५. काव्यादर्श के 'नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता। अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः॥'(३, ११४)में काञ्ची (काञ्जीवरम्) तथा उस के पल्लव राजाओं का उल्लेख भासित है यदि "इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्राजवर्मणः।" (२,२७९) के राजवर्मा (=रातवर्मा) को यदि नरसिंह द्वितीय (६९० से ७१५ई०) मान लें तो किसी प्रकार की कठिनाई नहीं। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य और डा० वेलवेल्कर का भी यही मत है। राजवर्मा नाम विरुद अथवा उप-नाम हो सकता है।

×He appears to have been one of the pioneers who introduced the new style of writing."

८६. अतः दण्डी को ६५ ई० के लगभग अर्थात् ७ वीं के उत्तरार्द्ध और ८ वीं के पूर्वार्द्ध में बाण के तुरन्त पश्चात् रखना ही अधिक युक्तिसंगत है।

१४. दण्डी के ग्रन्थ

८७. "त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥" शा० प० १७४

राजशेखर के इस कथन के अनुसार दण्डी के तीन ग्रन्थ माने जाते हैं। दशकुमारचरित और काव्यादर्श को तो सभी दण्डी की कृतियां मानते हैं, परन्तु तीसरे ग्रन्थ के सम्बन्ध में भारी मतभेद है।

८८. कुछ के अनुसार दण्डी का तीसरा ग्रन्थ छन्दोविचिति' या "कलापरिच्छेद" है, जिन का उल्लेख कवि ने काव्यादर्श के

"छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्॥" १,१२॥

और

"इत्थं कलाचतुःषष्टिविरोधः साधु नीयताम्।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति॥" ३, १७१॥

पद्यों में किया है। परन्तु इन पद्यों से यह स्पष्ट नहीं कि कवि अपने बनाये हुये ग्रन्थों की ओर संकेत कर रहे हैं अथवा अन्य लेखकों की कृतियों की ओर। यह भी सम्भव है कि 'छन्दोविचिति' पद छन्दःशास्त्र का एक नाम-मात्र होने से किसी ग्रन्थविशेष का निर्देश न कर के छन्दः-शास्त्र के ग्रन्थों की ओर ही सामान्य रूप से संकेत कर रहा है। साथ ही कलापरिच्छेद के लिये भविष्यकालिक क्रिया का प्रयोग यह बता रहा है कि सम्भवतः दण्डी काव्यादर्श का एक और परिच्छेद लिखना चाहते थे। ऐसी अवस्था में यह स्वतन्त्र ग्रन्थ ही नहीं हो सकता।

८९. (१) काव्यादर्श में आया हुआ 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' आदि पद्य मृच्छकटिक में भी पाया जाता है और (२) मृच्छकटिक और

दशकुमारचरित की सामाजिक अवस्थाओं के चित्र एक जैसे हैं । इन युक्तियों के बल पर प्रो० पिशल मृच्छकटिक को ही दण्डी की तीसरी कृति मानते हैं । परन्तु भास के ग्रन्थों की प्राप्ति और उन में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद्य की दो बार सत्ता प्रो० पिशल की प्रथम युक्ति को काट चुकी है । समाजचित्र की समानता पर ही दो पुस्तकों को एक लेखक की बताना तनिक भी युक्तिसंगत नहीं । अतः उन की दूसरी युक्ति भी सारहीन है ।

६०. जीवानन्द आदि कुछ पण्डितों के मत में 'मल्लिकामारुत' नाम का नाटक ही दण्डी का तीसरा ग्रन्थ है । परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि यह नाटक १५ वीं शताब्दी में लिखा गया । इस के लेखक थे उद्दण्डरंगनाथ । रंगनाथ दण्डी का प्रभूत अनुकरण करते हैं परन्तु इतने से ही इस नाटक को दण्डिकृत नहीं माना जा सकता ।

६१. भोजराज ने अपनी 'शृंगारप्रकाशिका' में दण्डिरचित 'द्विसंधान' नामक काव्य से एक पद्य उद्धृत किया है—

"उदारमहिमा रामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः ।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः ॥

आजकल धनंजय कवि का एक 'द्विसन्धान' काव्य प्रकाशित हुआ है । इस काव्य में उक्त पद्य नहीं है । परन्तु इतने से ही एक दण्डिकृत द्विसन्धान काव्य की सत्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता । यह भी सम्भव है कि यह पद्य किसी भिन्न संस्करण का है जो अभी प्राप्त नहीं हुआ है । ऐसी संदिग्ध स्थिति में 'द्विसन्धान' नामक कोई अप्राप्त ग्रंथ दण्डी की तीसरी कृति नहीं मानी जा सकती ।

६२. हाल ही में जो अवन्तिसुन्दरीकथा का एक खण्डित गद्यकाव्य मिला है उस के सम्पादक श्री रामकृष्ण कवि उसे दण्डिकृत ही मानते हैं । श्री कवि के इस मत को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं । वास्तव में अवन्तिसुन्दरीकथा ही यहां अधिक विस्तृत, अलंकृत और संस्कृत

शैली में वर्णित की गई है। गुणों में यह काव्य दशकुमारचरित से अधिक उत्कृष्ट है और एक सिद्धहस्त कवि का निर्माण किया हुआ है। सम्भवतः दशकुमारचरित कवि की प्रारम्भिक कृति है और अवन्तिसुन्दरीकथा उस की प्रौढ़ावस्था की उपज है।

१५. दशकुमारचरित कथा है या आख्यायिका ?—

९३. अग्निपुराण, आचार्य भामह और आचार्य विश्वनाथ ने कथा और आख्यायिका के जो लक्षण दिये हैं उन में से न तो कथा के ही लक्षण पूर्णरूप से इस में से घटते हैं और न आख्यायिका के ही। कवि के वंश के वर्णन के अभाव से, नायक के साथ ही अन्यों द्वारा कथा के वर्णन से और वक्त्र तथा अपवक्त्र पद्यों के अभाव से यह कथा है; परन्तु वस्तु की दृष्टि से, कथाँशों के नाम उच्छ्वास होने से यह आख्यायिका ही हो सकती है। इस प्रकार दशकुमारचरित न केवल कथा ही है, न आख्यायिका ही। उस में दोनों के लक्षण घटते हैं। अतः इसे या तो केवल गद्यकाव्य ही कहा जा सकता है या मिश्रगद्यकाव्य ही। अथवा दण्डी के मत को स्वीकार कर के इसे कथा भी कह सकते हैं और आख्यायिका भी।

१६. दशकुमारचरित के तीन भाग—

९४. दशकुमारचरित तीन भागों में मिलता है—

१. पूर्वपीठिका—पाँच उच्छ्वासों में।

२ दशकुमारचरित—आठ उच्छ्वासों में।

३. उत्तरपीठिका—उच्छ्वासों के विभाग से विहीन।

९५. इन भागों में से केवल मध्य भाग दशकुमारचरित को ही दण्डी की कृति माना जाता है, पूर्व और उत्तर पीठिकाओं को नहीं। इस मत की पुष्टि में ये प्रमाण हैं:—

१. दशकुमारचरित राजवाहन की कथा के बीच में आरम्भ होता है और विश्रुत की कहानी के बीच में ही समाप्त हो जाता है।

२. दशकुमारचरित का तो एक ही रूप मिलता है, परन्तु पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका के कई कई रूप मिलते हैं।

३. पीठिकाओं और मुख्य भाग की घटनाओं में वैषम्य है।

४. पीठिकाएं दशकुमारचरित की अपेक्षा गुणों में बहुत हीन हैं।

५. पूर्वपीठिका और दशकुमारचरित में उच्छ्वासों का वर्गीकरण पृथक्-पृथक् है।

९६. यह तो सम्भव हो सकता है कि कवि ने ग्रंथ को अपूर्ण छोड़ा हो, परन्तु यह सम्भव नहीं कि उस ने अपने ग्रन्थ को एक कथा के बीच में आरम्भ किया गया हो।

९७. अतः एक समय ग्रन्थ पूर्ण रूप में अवश्य वर्तमान रहा होगा। किसी प्रकार उस को क्षति पहुँची और उस के आरम्भ और अन्त का भाग नष्ट हो गया। दण्डी के शिष्यों अथवा पीछे के लेखकों ने अपनी स्मृति से इस नष्ट भाग की पूर्ति पीठिकाओं के रूप में कर दी। ये लेखक कौन थे यह अब पता लगाना कठिन है।

९८. श्री एम० आर० कवि के मत में पूर्वपीठिका का निर्माण १२५० ई० के दशकुमारचरित के तेलगू भाषा के अनुवाद के आधार पर हुआ है। परन्तु यह मत माननीय नहीं। यदि १२५० का तेलगू अनुवाद पूर्वपीठिका का आधार हो और उस समय दशकुमारचरित अपने पूर्ण रूप में हो तो पूर्वपीठिका और दशकुमारचरित में घटनाओं के वर्णन में विषमता कैसे आई, यह स्पष्ट नहीं। अतः १२५० ई० से पूर्व ही पूर्वपीठिका बन चुकी थी। हमारे विचार से तो यह घटना दण्डी के समय की ही है जब कि यह कृति बहुत प्रसिद्ध न हो पाई थी। और उस की प्रतियां भी अधिक नहीं थीं। सम्भवतः एक ही थी। उसी समय ग्रंथ के कुछ भागों के खो जाने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। नहीं तो किसी न किसी स्थान पर तो पूर्ण दशकुमारचरित मिल सकता था जिस से नष्ट भाग का उद्धार सम्भव था।

१७. पीठिकाएं—

९९. पूर्व और उत्तरपीठिकायें भी भिन्न-भिन्न शैली में हैं। उत्तरपीठिका में पूर्वपीठिका के लम्बे-लम्बे समासों, लुङ्, आदि लकारों के प्रयोग, अनुप्रास और यमक के प्राचुर्य, पदसौन्दर्य, अलंकारों के सन्निवेश और वर्णन की विशदता आदि का अभाव है। वहां तो ल्यप् का बहुल प्रयोग, पुनरावृत्ति और अस्पष्टता खटकती हैं। अतः ये दोनों पीठिकाएं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की हैं।

१००. पूर्वपीठिका के पांचों उच्छ्वासों में भी शैली का तारतम्य है। पहला उच्छ्वास भद्दी और अपरिष्कृत शैली में है। पर लेखक उत्तरोत्तर अधिक अच्छा लिखने में सफल होता है। लेखक ने दण्डी की शैली का अनुकरण करने का महान् प्रयास किया है, परन्तु इस में मुख्य भाग के सौन्दर्य और प्रवाह का अभाव है।

१८. मुख्य भाग और पीठिकाओं में घटनाओं की विषमता——

१०१. दशकुमारचरित और पीठिकाओं की घटनाओं की अधोलिखित विषमताएं विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

१. पूर्वपीठिका में अर्थपाल को तारावली का पुत्र बताया गयाहै, परंतु मूल के चौथे उच्छ्वास में वह कान्तिमती का पुत्र है।

२. पूर्वपीठिका में प्रमति सुमति का पुत्र है, पर दशकुमारचरित में कामपाल का पुत्र है।

३. दशकुमारचरित के तृतीय उच्छ्वास की उपहारवर्मा की कथा पूर्वपीठिका के वर्णन से भिन्न है।

४. दशकुमारचरित में मालव में मानसार का पुत्र राज्य करता है और मानसार ही राजवाहन को मृत्युमुख से बचाता है, पर उत्तर-पीठिका में मानसार को ही राजा बताया गया है और राजवाहन के हाथों उस की मृत्यु।

१०२. याद रहे कि उत्तरपीठिका के अल्प भाग का ही सम्बन्ध मूल दशकुमारचरित से है, शेप भाग का सम्बन्ध पूर्वपीठिका से ही है।

१०३. कुछ विद्वानों के मत में अष्टम उच्छ्वास का विश्रुतचरित उत्तरपीठिका का अङ्ग है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशित सटीक और हिन्दी अनुवाद सहित दशकुमारचरित में समस्त ग्रन्थ को पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका में विभक्त कर दिया गया है। यह सभी विद्वान् मानते हैं कि उत्तरपीठिका विश्रुतचरित के बीच में आरम्भ होती है। यदि अष्टम उच्छ्वास के विश्रुतचरित को उत्तरपीठिका का अङ्ग माना जाय, तो मूल पुस्तक का विश्रुतचरित मृग्य हो जायगा। यह भी विचारणीय है कि क्या अष्टम उच्छ्वास का विश्रुतचरित कथा के बीच में आरम्भ होता है? यह स्वतः सिद्ध है कि न तो विश्रुतचरित का कोई और भाग उपलब्ध होता है, न अष्टम उच्छ्वास विश्रुतचरित के बीच में आरम्भ होता है। यदि समस्त ग्रन्थ के पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका—ये दो ही विभाग किए जाएं, तो अष्टम उच्छ्वास की समाप्ति के बाद के अंश में और मध्य भाग तथा पूर्वपीठिका के वर्णनों में ऊपर प्रदर्शित वैषम्यों का समाधान सम्भव नहीं होगा। साथ ही दण्डी के अपने समस्त ग्रन्थ का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। अतः अष्टम उच्छ्वास का विश्रुतचरित उत्तरपीठिका का अंश नहीं है और दण्डी का मूल लेख है।

१६. पीठिकाओं के संस्करण—

१०४. पीठिकाओं के अनेक रूप मिलते हैं। इन में से इस संस्करण में मुद्रित पीठिकाओं के अतिरिक्त अन्य मुख्य-मुख्य रूपों का वर्णन नीचे देते हैं—

१०५. श्री अगाशे ने भट्टनारायण कृत एक छोटी-सी पूर्वपीठिका छापी है और उसे प्रचलित पीठिका से श्रेष्ठ बताया है। परन्तु वह गुणों में बहुत हीन है और दण्डी की शैली से बहुत पीछे रह जाती है।

१०६. उत्तरपीठिका का एक रूप दशकुमारचरितशेष निर्णयसागर प्रेस, बम्बई के प्रथम संस्करण में छपा था। इस का लेखक चक्रपाणि था। यद्यपि यह बहुत लम्बी है, परन्तु दण्डी की पवित्र और ओजस्विनी शैली के समकक्ष नहीं है। तीसरी उत्तरपीठिका पद्मनाथ की है, और मद्रास से छपी है। चौथी पण्डित गोपीनाथ की अभी अमुद्रित ही है।

२०. दशकुमारचरित की कथावस्तु—

१०७. इस काव्य की कथा उच्छ्वासों के क्रम से अगले अनुच्छेद में दी गई है। यहां पर मूल कथा-मात्र संक्षेप में दी जाती है—

१०८. मगध देश में पुष्पपुर नाम की नगरी में राजहंस नामक एक प्रतापी राजा राज्य करता था। उस की पत्नी वसुमती समस्त ललनाओं में सब से अधिक गुणवती और सुन्दर थी। राजहंस ने मालवराज मानसार पर आक्रमण किया। मानसार की हार हुई। हार से लज्जित हो, उस ने शिवजी की उपासना कर के एक दिव्य शक्ति प्राप्त की। अब उस ने राजहंस पर आक्रमण किया और उसे हरा कर उस के राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। राजहंस को अपने मंत्रियों और परिवार के साथ विन्ध्यवन में आश्रय लेना पड़ा। इस के वृद्ध मन्त्रियों के नाम धर्मपाल, पद्मोद्भव और सितवर्मा थे। धर्मपाल के सुमन्त्र, सुमित्र और कामपाल, पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोद्भव तथा सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा नाम के पुत्र हुए। इन में से कामपाल, रत्नोद्भव और सत्यवर्मा विदेश चले गए और शेष पिताओं की मृत्यु पर मन्त्री बन गए।

१०९. कुछ काल पश्चात् वसुमती ने राजवाहन को जन्म दिया। इधर राजा के मन्त्रियों के भी पुत्र हुए। कामपाल, रत्नोद्भव और सत्यवर्मा के पुत्र भी राजा के पास आ गए। राजा के मित्र प्रहारवर्मा के भी दो पुत्र राजा के पास लाए गए। जब ये सब कुमार पढ़-लिख

कर योग्य हो गए तो वामदेव के कहने पर ये कुमार दिग्विजय के लिए भेज दिये गए। इन कुमारों की संख्या दस थी।

११०. राजवाहन ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर के विन्ध्याटवी के बीच में शिविर डाला। वहां उसे मातङ्ग नामक ब्राह्मण वेषधारी एक किरात मिला, जिस ने राजवाहन को अपनी कथा सुनाई कि उस के वंशज ब्राह्मण अपना कर्त्तव्य छोड़ कर लुटेरे बन गए हैं। वह भी उन के साथ लूट का घृणित कर्म किया करता था। एक बार उस ने अपने साथियों से एक ब्राह्मण को प्राण-दान देने का आग्रह किया। साथियों ने उसे बुरा-भला कहा और उस के विरोध करने पर उसे मार कर छोड़ गए। अब वह यमराज के पास पहुँचा जिस ने अलौलिक यन्त्रणाओं को देख कर उसे वापिस अपने शरीर में जाने की आज्ञा दी। पुनः जीवित होने पर, स्वस्थ होने के उपरान्त वह शिव की उपासना करने लगा। प्रसन्न हो कर शिव जी ने स्वप्न में दर्शन दे कर उसे एक गुफा में पड़े हुए ताम्रशासन के अनुसार क्रिया कर के पाताल लोक का राज्य प्राप्त करने का उपाय बताया। अब मातङ्ग राजवाहन को साथ ले कर शिव जी के बताए हुए बिल में गया और ताम्रशासन ले कर पाताल में पहुँचा। राजवाहन की सहायता से ताम्रशासन की विधि से क्रिया कर के मातङ्ग ने दिव्य शरीर प्राप्त किया। इसी समय पाताल के असुरराज की पुत्री कालिन्दी ने उसे अपना पति बना कर पाताललोक का राजा बना दिया। अब जब राजवाहन मातङ्ग से विदा ले कर अपने शिविर-स्थान पर लौटा तो उस के साथी उस की खोज में जा चुके थे। राजवाहन भी उन की खोज करता हुआ पृथ्वी पर घूमने लगा। उज्जयिनी के समीप उस की भेंट सोमदत्त और पुष्पोद्भव से हो गई। राजवाहन पुष्पोद्भव के साथ उज्जयिनी में रहने लगा। वहां उस का प्रेम अवन्तिसुन्दरी से हो गया, जिस के कारण वह बन्दी बन गया। उज्जयिनी के राजा चण्डवर्मा ने चम्पा के राजा सिंहवर्मा पर आक्रमण

किया और राजवाहन को लकड़ी के पिंजरे में बन्द कर के साथ ले गया। यहां पर चण्डवर्मा राजवाहन के साथी अपहारवर्मा द्वारा मारा गया। सिंहवर्मा की सहायता के लिए आए हुए राजाओं में उस के सारे मित्र मिल गये। सब ने अपनी-अपनी कथा सुनाई।

१११. जिस समय ये अपनी-अपनी कथा आदि सुना कर एक दूसरे को आनन्दित कर रहे थे उसी समय कुमारों के लिए तुरन्त लौटने की आज्ञा ले कर पुष्पपुर से राजहंस का संन्देशवाहक आया। सब यथोचित प्रबन्ध के साथ लौट पड़े। मार्ग में मालवराज मानसार को हरा कर मार दिया गया। उस के राज्य को अपने अधीन कर के राजवाहन ने उस का समुचित प्रबन्ध किया। अब पुष्पपुर में पहुँच कर वसुमती, राजहंस और वामदेव को प्रणाम कर के सब ने अपनी-अपनी कथा सुनाई। राजा राजहंस ने कुमारों को भिन्न-भिन्न राज्यों का राजा बना कर वानप्रस्थ ले लिया। इधर सभी कुमार अपने-अपने राज्य का उपभोग करते हुए राजवाहन की छत्रछाया में सानन्द रहने लगे।

२१. दशकुमारचरित की संक्षिप्त कथा

अ. पूर्वपीठिका

प्रथम उच्छ्वास—(कुमारोत्पत्ति)

११२. मगध की राजधानी पुष्पपुर में एक अत्यन्त उदार, मनस्वी और विनीत राजा राजहंस राज्य करता था। वसुमती नाम की उस की रानी सौन्दर्य में अनुपम थी। धर्मपाल, पद्मोद्भव और सितवर्मा नामक उस के कुलक्रमागत तीन मन्त्री थे। इन में धर्मपाल के सुमन्त्र, सुमित्र और कामपाल, पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोद्भव तथा सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा नाम के पुत्र हुए। इन में से कामपाल स्वेच्छाचारी जीवन विताने लगा। रत्नोद्भव व्यापार के लिए समुद्र-यात्रा करने लगा। संसार की असारता का अनुभव कर सितवर्मा

तीर्थयात्रा को चला गया। शेष भाई अपने पिताओं की मृत्यु होने पर मन्त्री बन गए।

११३. एक बार राजहंस और मालवदेश के राजा मानसार का आपस में युद्ध छिड़ गया। पहले तो राजहंस जीत गया; परन्तु पीछे शिव की शक्ति से सम्पन्न मानसार की जीत हुई। राजहंस को हार कर विन्ध्यवन में आश्रय लेना पड़ा। खोए हुए राज्य को प्राप्त करने के लिए मानसार के समान तप करने की अभिलाषा से दीक्षा लेने के लिए राजा राजहंस मुनि वामदेव की सेवा में पहुँचा, परन्तु उन के उपदेश और सम्मति से पुत्र के जन्म और उस के दिग्विजय के काल तक तप न कर के मन में सान्त्वना और आशा को स्थान दे कर रहने लगा। गर्भ के दिन पूरे होने पर उसे एक पुत्ररत्न मिला जिस का नाम राजवाहन रक्खा गया। इसी समय चारों मन्त्रियों में से सुमति के प्रमति, सुमन्त्र के मित्रगुप्त, सुमित्र के मन्त्रगुप्त और सुश्रुत के विश्रुत नाम के पुत्र हुए। इधर कुछ ही दिनों के भीतर भिन्न-भिन्न समयों पर नीचे लिखे कुमार भी पालन-पोषण के लिए राजहंस के पास लाये गए। इस प्रकार सब मिल कर दश कुमार हो गए।

११४. (१) मिथिला का राजा प्रहारवर्मा राजहंस का मित्र और सहायक था। राजहंस के हार जाने पर और मानसार से छोड़ दिये जाने पर प्रहारवर्मा शीघ्रता से अपने देश की ओर लौटा, परन्तु मार्ग में शबरों ने उस पर आक्रमण किया और सब कुछ लूट लिया उस के दो बच्चे थे। दोनों किरातों के हाथों में जा पड़े। उन में से एक को बलि देने को उद्यत किरातों से बचा कर एक तापस ने राजहंस के पास पहुँचा दिया। राजा ने इस का नाम उपहारवर्मा रख दिया और उचित पालन-पोषण करने लगा।

११५. (२) एक बार राजा ने एक शबरी की गोद में एक कुमार को देख कर उस का वृत्तान्त पूछा। उस ने बताया कि वह कुमार

प्रहारवर्मा की लूट में हाथ लगा था। राजा ने उसे प्रहारवर्मा का दूसरा पुत्र निश्चय कर दान आदि दे कर उसे ले लिया और अपहारवर्मा नाम रख कर पालने लगा।

११६. (३) रत्नोद्भव सुवृत्ता नाम की अपनी गर्भवती पत्नी के साथ समुद्र में यात्रा कर रहा था। तूफान से जहाज टूट कर डूब गया। पति पत्नी अलग हो गए। सुवृत्ता धात्री के साथ किनारे पर पहुँची। वहां पर उस के एक पुत्र हुआ। यह पुत्र अपनी माता से अलग हो गया और एक मुनि के हाथ लगा। उस ने इसे ला कर राजा को दे दिया। उस का नाम पुष्पोद्भव रक्खा गया।

११७. (४) कामपाल ने मणिभद्र नामक यक्ष की पुत्री तारावली से विवाह किया। इस से एक पुत्र हुआ। तारावली उसे ले कर वसुमती के पास आई और पालने की प्रार्थना कर पुत्र को रानी को सौंप कर चली गई। इस का नाम अर्थपाल पड़ा।

११८. (५) सत्यवर्मा के पुत्र को उस की मौसी और सौतेली माता ने धाय के साथ किसी वहाने से नदी में ढकेल दिया। धाय ने बच्चे को बचाया। स्वयं एक बहते हुए वृक्ष के सहारे किनारे पर पहुंची। परन्तु वृक्ष पर एक काला सांप था। सांप ने उसे काट लिया। दैवयोग से एक ब्राह्मण उधर से निकला। धाय उसे कथा सुना कर बच्चे को सौंप कर मर गई। ब्राह्मण भी कुमार को राजा के पास ले आया। उस ने इस का नाम सोमदत्त रख कर यथावत् पाला।

११९. इस प्रकार दशों कुमार साथ-साथ पलने लगे। समयक्रम से वे सब विद्याओं को सीख कर उन में पारंगत हो गए।

दूसरा उच्छ्वास--(द्विजोपकृति)

१२० अब कुमार पूर्ण युवा थे। सब शिक्षा प्राप्त कर चुके थे और उत्तरदायित्व सम्भालने योग्य थे। अतः वामदेव की सम्मति से

राजा ने सब कुमारों को उचित उपदेश दे कर शुभ मुहूर्त्त में दिग्विजय के लिये भेज दिया। राजा से विदा हो कर वे चलते-चलते विन्ध्यवन के बीच में पहुंचे। यहां इन्हों ने अपना डेरा डाल दिया! यहां एक ब्राह्मण ने आ कर राजवाहन को अपनी कथा सुनाई कि वह किरातों का जीवन बिताता था। एक बार वह एक ब्राह्मण की रक्षा में मारा गया। प्रेतपुरी पहुंच कर यम के आदेश से फिर जीवित हो गया और शिव की उपासना करने लगा। शिव ने स्वप्न में उसे पाताल का राज्य प्राप्त करने की विधि बताई और राजवाहन से सहायता लेने को कहा। राजावहन ने ब्राह्मण के साथ जा कर उस की सहायता की जिस से ब्राह्मण की इष्टसिद्धि हो गई।

१२१. अब राजवाहन ब्राह्मण से विदा ले कर शिविरस्थान पर पहुँचा। उस के मित्र पहले ही उस की खोज में निकल चुके थे। अतः राजवाहन भी उन की खोज में निकल पड़ा और घूमते हुए उज्जयिनी पहुंचा। वहां उस की सोमदत्त से भेंट हुई। अब सोमदत्त ने अपनी कहानी सुनाई।

तीसरा उच्छ्वास—(सोमदत्तचरित)

१२२. घूमते हुए सोमदत्त एक जंगल में पहुंचा। वहां एक नदी के किनारे पर उसे एक अमूल्य मणि मिली। वह मणि को ले कर एक मन्दिर में पहुंचा। पास ही एक राजा अपनी सेना डाले हुए पड़ा था। मन्दिर में एक दुःखी ब्राह्मण मिला। उस ने सोमदत्त को बताया कि यह लाट देश का राजा मत्तकाल है। इस ने इस देश के राजा वीरकेतु से उस की पुत्री वामलोचना को मांगा। वीरकेतु के इंकार करने पर मत्तकाल ने आक्रमण कर दिया। वीरकेतु डर गया। उस ने अपनी पुत्री को उपहार के रूप में दे कर अपने मन्त्री मानपाल को उसे पहुंचाने के लिये भेज दिया। मार्ग में मानपाल ने मत्तकाल को मारने का षड्-यन्त्र रचा था। यह सुन कर सोमदत्त ने वह मणि ब्राह्मण को दे दी और स्वयं मन्दिर में सुखपूर्वक सो गया। इधर ब्राह्मण वहां से चला

गया. परन्तु मत्ताकाल के सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया। सैनिकों ने उसे कोड़ों से पीटा और उस के बताने पर उस के हाथ पीछे बांध कर उसे मन्दिर में लाये। वहां ब्राह्मण के बताने पर उन्हों ने सोमदत्त को पकड़ लिया। सोमदत्त ने बहुत कहा कि वह निर्दोष है। पर कौन सुनता था। उसे कारागार में लाकर दूसरे कुछ व्यक्तियों के साथ यह कह कर कि 'ये हैं तुम्हारे साथी बन्द कर दिया। इन दूसरे कैदियों ने बताया कि वे मानपाल के दास थे और उस की आज्ञा से मत्ताकाल को मारने गये थे। पर वह वहां न था। अतः वे बहुत-सा धन ले कर भाग गये, परन्तु पकड़े गए। धन में से एक रत्न खो गया था। उस के निकलवाने के लिए सब को मारने की आज्ञा हो चुकी थी। सोमदत्त ने अपना वृत्तान्त सुनाया। आधी रात बीतने पर वह अपने और अन्य सब के बन्धन तोड़ सन्तरियों के हथियार ले मानपाल के तम्बू में पहुंच गया। मानपाल सब वृत्तान्त सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ। मत्ताकाल ने दूत भेज कर चोरों को मांगा। परन्तु मानपाल ने न केवल देने से इंकार कर दिया बल्कि उसे बहुत अपशब्द कहे। मत्तकाल ने क्रुद्ध हो कर आक्रमण कर दिया। दोनों का घोर युद्ध हुआ। सोमदत्त ने मत्तकाल का सिर काट लिया। मत्ताकाल की सेना भाग गई। विजय मानपाल और राजा वीरकेतु के हाथ रही। वीरकेतु ने सोमदत्त का बड़ा मान किया और सब की सम्मति से वामलोचना का विवाह सोमदत्त से कर दिया और उसे अपना युवराज बना लिया। सोमदत्त अब सुखी था। मित्र के वियोग से व्याकुल हो कर एक तपस्वी की सम्मति से उज्जयिनी में महाकाल में स्थापित शिव की प्रतिमा की पूजा के लिये आया और वहां उसे अपने मित्र राजवाहन के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो गया।

१२३. सोमदत्त ने अपनी कथा समाप्त की ही थी कि सामने से पुष्पोद्भव भी आ पहुंचा। तीनों मिल कर परम प्रसन्न हुये। अब राजवाहन की जिज्ञासा पर पुष्पोद्भव ने अपनी कथा सुनाई।

चौथा उच्छ्वास – (पुष्पोद्भवचरित)

१२४. कुछ दिन घूमने के पश्चात् एक दिन पुष्पोद्भव ने अपने सामने एक पुरुष को शैलशिखर से गिरते हुये देखा। सौभाग्य से यह उस का पिता रत्नोद्भव ही था। १६ वर्ष हुये उस का जहाज समुद्र में डूब गया था। इस विपत्ति में वह अपनी पत्नी से अलग हो गया था। खोज करने पर भी वह न मिली। अब तक तो रत्नोद्भव ने आशा से जीवन को धारण किया हुआ था परन्तु अब वह पत्नी के वियोग को न सह सका। अतः आत्महत्या करने का प्रयत्न किया। इसी प्रयास में पिता का पुत्र से मेल हो गया। कुछ ही काल वाद एक दिन पुष्पोद्भव ने एक स्त्री को अपनेआप को चिता में जलाने से रोका। दैव की माया। यह स्त्री उस की माता ही निकली। माता-पिता को ले कर वह उज्जयिनी में आया। यहां पर वन्धुपाल नामक एक धनिक से उसका परिचय हो गया। वन्धुपाल की एक सुन्दरी कन्या थी वालचन्द्रिका। पुष्पोद्भव इस के प्रेम में फंस गया। वालचन्द्रिका भी पुष्पोद्भव से प्रेम करने लगी। उज्जयिनी के मन्त्री और कुमार दारुवर्मा ने वालचन्द्रिका से विवाह की प्रार्थना की। परन्तु वालचन्द्रिका उस के क्रूर कर्मों से उद्विग्न थी। अतः पुष्पोद्भव से मिल गई। पुष्पोद्भव की सम्मति से उस ने घोषणा करा दी कि उस पर एक यक्ष ने अधिकार कर लिया है। जो उसे उस यक्ष से छुड़ायेगा वही वालचन्द्रिका का पति होगा। दारुवर्मा ने यक्ष की कथा की परवाह न की और वालचन्द्रिका को आकृष्ट करने का प्रयत्न करने लगा। पुष्पोद्भव दासी के रूप में वालचन्द्रिका के पास ही था। उस ने दारुवर्मा को मार दिया और 'दारुवर्मा को यक्ष ने मार दिया' यह चिल्लाता हुआ घर से वाहर निकल आया। इस समय के शोर और घवराहट में वह वालचन्द्रिका के साथ निकल गया और कुछ दिनों वाद दोनों का विवाह हो गया। वन्धुपाल शकुन देख कर भविष्य

वाणी किया करता था। इसी ने राजवाहन के आगमन की बात पुष्पोद्भव को बताई थी। अतः पुष्पोद्भव अपने मित्र से मिलने आया था। कथा की समाप्ति पर सब उज्जयिनी में आ गये। राजवाहन ने ब्राह्मणकुमार का रूप ग्रहण किया और शीघ्र ही अपनी शिक्षा से प्रसिद्ध हो गया।

पांचवां उच्छ्वास—(अवन्तिसुन्दरीपरिणय)

१२५. राजवाहन उज्जयिनी में रह रहा था। एक दिन उस का अपने पिता के शत्रु–मानसार की रूपवती पुत्री अवन्तिसुन्दरी से साक्षात्कार हुआ। दोनों एक दम परस्पर प्यार करने लगे और वियोग में व्याकुल हो गये। मानसार ने अपने पुत्र दर्पसार को राज्य सौंप दिया था। दर्पसार भी दारुवर्मा और चण्डवर्मा को राज्य की देख-भाल के लिये नियुक्त कर के तप करने चला गया। दारुवर्मा को पुष्पोद्भव ने पहले ही मार दिया था। अतः अब चण्डवर्मा अकेला ही राज्य की देख-भाल कर रहा था। अभी राजवाहन अवन्तिसुन्दरी को प्राप्त करने की चिन्ता में ही था कि उसे एक ऐन्द्रजालिक मिला। इस ऐन्द्रजालिक ने मालवराज को जादू के खेल दिखाते हुये तथाकथित जादू के एक राजकुमार और राजकुमारी का विवाह रचाया। ये दोनों राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी ही थे। खेल की समाप्ति पर ऐन्द्रजालिक की आज्ञा से सब मायापात्र स्थान छोड़ गये। अतः पूर्व प्रबन्ध की सहायता से राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी भी अज्ञात रूप में कन्यान्तःपुर में पहुंच गये और सुखपूर्वक रहने लगे।

(पूर्वपीठिका समाप्त हुई।)

आ—दशकुमारचरित (मुख्य भाग)

पहला उच्छ्वास—[राजवाहनचरित]

१२६. इस प्रकार सुखपूर्वक रहते हुये राजवाहन और उस की

प्रेमिका एक रात सो रहे थे कि राजवाहन के पैरों में पिछले जन्म के शाप से एक चान्दी की शृंखला अपने आप पड़ गई। इस शाप की अवधि दो मास थी। राजकुमारी घबरा गई और उसे रहस्य को गुप्त रखने का ध्यान न रहा। वह रोने और चिल्लाने लगी। सन्तरियों ने आ कर राजवाहन को देखा और चण्डवर्मा को सूचना दी। वह क्रोध में भरा हुआ आया। यह देख कर कि यह तो उस के भाई दारुवर्मा की मृत्यु का कारण बालचन्द्रिका के पति पुष्पोद्भव का मित्र ब्राह्मणपुत्र था जो रूप और कला की मस्ती में राजकुमारी को दूषित कर रहा था, उस का क्रोध भड़क उठा। उस ने राजवाहन को बुरी तरह घसीटा। राजवाहन ने अवन्तिसुन्दरी को शाप वृत्तान्त की याद दिला कर उसे दो मास तक प्रतीक्षा करने को कहा। चण्डवर्मा ने राजवाहन को फांसी देनी चाही। मानसार और उस की पत्नी ने जमाई का पक्ष लिया। यद्यपि वे उसे छुड़ाने में तो समर्थ न हुये परन्तु अपनी हत्या की धमकी से उस की हत्या दर्पसार की आज्ञा आने तक रुकवा दी। सब समाचार दर्पसार को लिख कर भेज दिया गया और राजवाहन को एक लकड़ी के पिंजरे में बन्द कर दिया गया। साथ ही पुष्पोद्भव को भी सकुटुम्ब कैद कर दिया गया और उस की सम्पत्ति को ज़ब्त कर लिया गया। चण्डवर्मा ने अंग के राजा सिंहवर्मा से उस की पुत्री को अपने लिये मांगा। सिंहवर्मा ने इंकार कर दिया। इस पर चण्डवर्मा ने अङ्ग की राजधानी चम्पा पर आक्रमण किया। सिंहवर्मा ने अपनी सहायता के लिये आते हुये मित्रों की प्रतीक्षा न की और युद्ध करने लगा। उस की सेना मारी गई और वह अपनी पुत्री के साथ चण्डवर्मा के हाथों बन्दी हो गया।

१२७. चण्डवर्मा अपने विवाह की तैयारी कर ही रहा था कि दर्पसार से राजवाहन के वध की आज्ञा आ गई। राजवाहन को पिंजरे से निकाल कर हाथी के पैर से कुचलवाने के लिये लाया गया।

परन्तु आश्चर्य। उस के पैरों की रजतशृंखला सुरतमञ्जरी नाम की अप्सरा बन गई। वह अपना वृत्तान्त सुना कर और राजवाहन को प्रणाम कर के चली गई।

१२८. इसी बीच एक ध्वनि सुनाई पड़ी—'एक चोर ने सिंहवर्मा की पुत्री अम्बालिका को राग में पकड़ने के लिये फैलाये हुये हाथ में ही पकड़ कर चण्डवर्मा को मार डाला है और वह चोर निःशंक घूम रहा है।' यह चोर राजवाहन का मित्र अपहारवर्मा ही था। राजवाहन ने हाथी पर चढ़ कर उसे बुलाया और हाथी पर चढ़ा लिया। दोनों चण्डवर्मा की सेना के वीरों से लड़ कर उन को मारने लगे। इतने में ही सिंहवर्मा के सहायक आ पहुंचे और चण्डवर्मा की सेना हार गई। इन सिंहवर्मा के सहायकों में राजवाहन के शेष मित्र उपहारवर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त और विश्रुत मिल गए। परम प्रसन्न हो कर राजवाहन ने बारी-बारी सब की कथा सुनी। पहले अपहरवर्मा ने अपना हाल सुनाया।

दूसरा उच्छ्वास—(अपहारवर्मचरित)

१२९. घूमते-घूमते अपहारवर्मा मरीचि मुनि की सेवा में पहुंचा और सहायता की प्रार्थना की। मुनि ने उसे सहायता देनी स्वीकार कर ली परन्तु उसे चम्पा नगरी में ही रहने का आदेश दिया। साथ ही मुनि ने भी अपनी कथा सुनाई। काममञ्जरी नाम की एक वेश्या ने एक शर्त को जीतने के लिये मरीचि को अपने सौन्दर्यजाल में फँसाया, परन्तु पीछे उस का तिरस्कार कर के घर से निकाल दिया। अपहारवर्मा एक रात मरीचि के आश्रम में रह कर दूसरे दिन चम्पा नगरी की ओर चल पड़ा। मार्ग में विमर्दक नाम का एक व्यक्ति मिला। यह काममञ्जरी पर मुग्ध था। उस दुष्टा ने स्थिति से लाभ उठाया और विमर्दक की सब धन-सम्पत्ति ले कर उसे भिखारी बना दिया। अपहारवर्मा ने वचन दिया कि वह विमर्दक को उस की सम्पत्ति

वापिस प्राप्त करने में पूरी-पूरी सहायता देगा। अपहारवर्मा ने जुआरी का रूप धारण किया और चोरी भी करने लगा। एक बार अपने रात्रिकर्मों में उस की भेंट कुवेरदत्त की पुत्री कुलपालिका से हुई। कुवेरदत्त ने कुलपालिका का विवाह धनमित्र से करने का निश्चय किया। परन्तु धनमित्र कुछ काल पश्चात् ही अपनी राजोचित दान-प्रणाली से धन-हीन हो गया। धन के लोभी कुवेरदत्त ने अब अपनी पुत्री का विवाह अर्थपति से रचाने का प्रवन्ध किया। कुलपालिका धनमित्र से प्रेम करती थी। अतः विवाह से बचने के लिये वह धनमित्र के घर जा रही थी। अपहारवर्मा ने कुलपालिका की सहायता करना स्वीकार कर लिया और उसे ले कर धनमित्र के पास पहुंचा। कुलपालिका के साथ अपहारवर्मा और धनमित्र कुवेरदत्त के घर गये। कुवेरदत्त की सम्पत्ति लूट कर और कुलपालिका को वहां छोड़ कर दोनों लौट गये। मार्ग में अर्थपति के घर चोरी की। इन आकस्मिक दुर्घटनाओं के कारण अर्थपति और कुलपालिका का विवाह एक मास के लिये स्थगित कर दिया गया। अपहारवर्मा ने लूट के माल से धनमित्र को धनी वना कर प्रसिद्ध कर दिया कि धनमित्र के पास एक जादू का वटवा है जो प्रतिदिन प्रभूत सुवर्णराशि उगलता है। कुवेरदत्त ने यह सुना तो वहुत प्रसन्न हुआ और अपनी पुत्री का विवाह धनमित्र से कर दिया।

१३०. काममञ्जरी की छोटी वहन रागमञ्जरी परम सुन्दरी थी। अपहारवर्मा उस से प्रेम करने लगा और काममञ्जरी से रागमञ्जरी को मांगा। दोनों में यह प्रतिज्ञा हुई कि अपहारवर्मा जादू के वटवे को काममञ्जरी को ला दे और काममञ्जरी उन सव का धन लौटा दे जिन जिन से उस ने लिया था तथा रागमञ्जरी का विवाह अपहारवर्मा से कर दे। इस प्रकार विमर्दक को उस की धन-सम्पत्ति वापिस मिल गई। अपहारवर्मा ने धनमित्र से वटवा ला कर काममञ्जरी को दे

दिया। धनमित्र ने राजा को सूचना दे दी कि उस का जादू का बटवा चोरी चला गया है। काममञ्जरी डर गई और उस ने वह बटवा धनमित्र को लौटा दिया तथा राजदण्ड से बचने के लिये अपहारवर्मा की सम्मति से यह घोषित कर दिया कि यह बटवा उस को अर्थपति ने दिया था। राजा ने अर्थपति को अपराधी घोषित कर देश से निकाल दिया और उस की सम्पति को राजायत्त कर लिया।

१३१. एक वार अपहारवर्मा ने सन्तरियों पर आक्रमण कर दिया परन्तु पकड़ा गया। जेल का अध्यक्ष कण्टक राजकुमारी अम्बालिका पर आसक्त था। वह जेल से राजभवन तक एक सुरङ्ग खुदवाना चाहता था। अतः उस ने इस कुशल चोर से काम लिया। अपहारवर्मा ने सुरङ्ग तो खोद ली पर साथ ही कण्टक को भी मार दिया। अब वह स्वयं अम्बालिका के अन्तःपुर में पहुंचा। उस सुन्दरी को देख कर अपहारवर्मा उस से प्रेम करने लगा। राजकुमारी सो रही थी। उस ने जगाना उचित न समझा और लौट आया।

१३२. जब चण्डवर्मा ने चम्पा को घेर कर सिंहवर्मा और अम्बालिका को वन्दी बना लिया तो अपहारवर्मा ने उन की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझा और जब चण्डवर्मा अम्बालिका को अपनाना ही चाहता था तभी उसे मार दिया। मरीचि मुनि के कथन के अनुसार इसी समय उस की भेंट राजवाहन से हो गई।

१३३. अब उपहारवर्मा की वारी आई और उस ने अपनी कहानी इस प्रकार सुनाई।

तीसरा उच्छ्वास—(उपहारवर्मचरित)

१३४. राजवाहन की खोज करते-करते उपहारवर्मा विदेहराज्य में पहुंचा। नगर के बाहर ही एक मठिका में उस की अपनी पुरानी धाय से भेंट हुई। धाय ने बताया कि उस के पिता के राज्य पर विकटवर्मा आदि उस के बड़े भाई के पुत्रों ने अधिकार कर लिया है

और प्रहारवर्मा को रानी के साथ कैद में डाल दिया है । उपहारवर्मा ने अपना वृत्तान्त सुना कर धाय को बताया कि उस ने अपने माता-पिता को छुड़ाने का निश्चय कर लिया है । धाय की पुत्री की सहायता से उस ने अपने पति से घृणा करने वाली विकटवर्मा की परम सुन्दरी स्त्री कल्पसुन्दरी को अपने पति से विश्वासघात करने में दृढ़ कर अपने प्रेम को प्रकट किया । उस के पास अनेक प्रकार की भेंटें भेजीं और अन्त में अपना चित्र भी भेज दिया । जब कल्पसुन्दरी ने उपहारवर्मा से मिलने की उत्कट इच्छा प्रकट की तो उपहारवर्मा एक रात्री को धाय की पुत्री की सहायता से जा मिला । उपहारवर्मा ने कल्पसुन्दरी की सहायता से विकटवर्मा को मारने का षड्यन्त्र रचा । उस ने यह प्रसिद्ध करा दिया कि तान्त्रिक विधियों से राजा का स्वरूप बदला जा सकेगा । विकटवर्मा ने कल्पसुन्दरी की बात मान ली । उपवन में यज्ञ समाप्त होने पर कल्पसुन्दरी के वेष में उपहारवर्मा ने विकटवर्मा को मार कर अग्नि में फेंक दिया और अपने आप को बदले हुये रूप वाला विकटवर्मा घोषित कर दिया । विकटवर्मा से उस के गुप्त भेद पूछ लेने से वह मन्त्रियों को भी धोखा देने में सफल हो गया । उस ने विकटवर्मा के सब क्रूर कर्मों को बन्द करा दिया और अपने माता पिता को बन्धन-मुक्त कर उन्हें राज्य सौंप दिया और स्वयं युवराज बन गया । अपने मित्र सिंहवर्मा की सहायता के लिये जब वह सेना ले कर चम्पा पहुंचा तो उसे राजवाहन के दर्शन हो गए ।

१३५. अब अर्थपाल को आज्ञा मिली और उस ने अपनी कहानी इस प्रकार सुनाई ।

चौथा उच्छ्वास—(अर्थपालचरित)

१३६. एक बार अर्थपाल काशी में पहुंचा । वहां पर उसे एक पुरुष मिला जिस ने बताया कि उस का पिता कामपाल काशी के राजा चण्डसिंह का मन्त्री था । पर समयक्रम से अब सिंहघोष राजा था । इस दुष्ट-

मति ने बिना किसी न्याय के निरपराध कामपाल को उस के पद
हटा कर कैद कर दिया और उस के वध की आज्ञा दे दी। अर्थपाल
पिता को छुड़ाने का उपाय सोच लिया। उस ने एक विषैला सर्प
लिया और प्रतिक्षा करने लगा। जब सैनिक कामपाल को वध के लि
ले जाने लगे तब अर्थपाल ने सांप को कामपाल के सिर पर फेंक दिया
कामपाल सांप के काटने से बेहोश हो कर गिर पड़ा। अर्थपाल वि
के प्रभाव को दूर करने का मन्त्र जानता था। अतः मन्त्र की सहायत
से अर्थपाल ने विषवेग को रोक दिया। कामपाल इस बीच में म
हुआ घोषित हो चुका था। अर्थपाल राजा की अनुमति से पिता
शरीर को उठा लाया और उस को चिकित्सा द्वारा स्वस्थ कर दिया
अब पिता-पुत्र ने मिल कर सिंहघोष के वध की योजना बनाई
अर्थपाल ने राजभवन तक एक सुरङ्ग खोदी और उस के रास्ते राज
कुमारी मणिकर्णिका के अंतःपुर में पहुँच गया। परिजनों ने प्रर्थन
की कि अर्थपाल राजकुमारी से विवाह कर ले। अर्थपाल ने विवाह क
प्रतिज्ञा कर ली और सिंहघोष के भवन में पहुंचा। राजा सो रहा था
अर्थपाल ने उसे बन्दी बना लिया और पिता के पास ले आया। अब
राज्य कामपाल के हाथ में आ गया। अर्थपाल का विवाह मणिकर्णिक
से हो गया और वह युवराजपद से विभूषित हो गया। जब व
अङ्गराज की सहायता के लिए सेना ले कर चम्पा पहुँचा तो वह
राजवाहन से भेंट हो गई।

१३७. अब प्रमति ने अपना वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया।

पांचवां उच्छ्वास—(प्रमतिचरित)

१३८. यात्रा में एक बार उसे विन्ध्यवन में रात हो गई। अप
आप को रक्षा के लिए वनदेवता के अर्पण कर के विश्राम करने क
लिये वृक्ष के नीचे लेट गया। जब वह सो रहा था तो उस ने अनुभव
किया कि कोई उसे राजभवन में ले गया है। वहां उस ने एक सुन्दर

तरुणी को देखा। देखते ही वह उस के प्रेम में फँस गया। जाग कर वह अभी यह विचार कर ही रहा था कि यह घटना स्वप्न ही थी अथवा मतिविभ्रम, तभी एक अप्सरा आई और उस ने अपने आप को कामपाल की पत्नी तारावली बता कर कहा कि यह घटना सत्य थी। वह स्वयं उसे सोते हुये को श्रावस्ती की राजकुमारी नवमल्लिका के अन्तःपुर में ले गई थी। उस ने राजकुमारी को तो देख ही लिया था। अतः उसे प्रयत्न करना चाहिए। प्रमति को इस कार्य में पूर्ण सफलता मिलेगी। तारावली के चले जाने पर प्रमति ने श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में वह मुर्गों की लड़ाई का एक दृश्य देखने के लिए खड़ा हो गया। यहां पर उसे एक ब्राह्मण मिला। दोनों गहरे मित्र हो गये। राजकुमारी को प्राप्त करने के लिये दोनों ने मिल कर योजना बनाई। प्रमति ने ब्राह्मण की कन्या का वेप धारण कर लिया। ब्राह्मण उसे ले कर राजा के पास पहुँचा और प्रार्थना की कि राजा उस की पुत्री की तब तक देख-भाल करे जब तक वह उस युवक को खोज कर लाए जिसे उस ने अपनी पुत्री का वाग्दान दिया है। राजा ने स्वीकार कर लिया और प्रमति ने धीरे-धीरे राजकुमारी से परिचय बढ़ा कर अपना प्रेम प्रकट किया और बदले में उस का प्रेम पा कर अदृश्य हो गया और ब्राह्मण के पास जा पहुँचा। अब ब्राह्मण उसे अपने भावी जमाता का रूप दे कर राजा के पास ले गया और अपनी पुत्री को मांगा। परन्तु राजा उसे न लौटा सका। लौटाता भी कहां से। वह तो थी ही नहीं। ब्राह्मण ने एक न सुनी और धमकी दी कि यदि उस की पुत्री को न लौटाया गया तो वह अग्नि में जल जायगा। राजा ने विवश हो कर ब्राह्मण को मनाने के लिये अपनी पुत्री का विवाह प्रमति से कर दिया। जामाता के रूप में प्रमति शीघ्र ही राजा का विश्वासपात्र बन गया। सिंहवर्मा के संदेश पर वह भी सेना ले कर चम्पा नगरी पहुँचा और वहां राजवाहन के दर्शन प्राप्त किए।

१३९. अब मित्रगुप्त को आज्ञा मिली और उस ने अपनी कहानी सुनानी आरम्भ की।

छठा उच्छ्वास—(मित्रगुप्तचरित)

१४०. अपने भ्रमण में वह एक बार सुह्मदेश की राजधानी 'दामलिप्त' में पहुँचा। यहाँ के राजा ने दुर्गा देवी के वरदान से भीमधन्वा नामक पुत्र और कन्दुकवती नाम की पुत्री को प्राप्त किया था। वर के साथ ही देवी ने आदेश दिया था कि राजकुमारी प्रतिवर्ष जनता में जा कर एक उत्सव में गेंद खेला करेगी। उसी उत्सव में वह अपना वर स्वयं चुनेगी। भीमधन्वा को कन्दुकवती के इस प्रकार चुने हुये पति की आज्ञा माननी होगी। जिस समय मित्रगुप्त दामलिप्त में पहुँचा उस समय वार्षिक उत्सव हो रहा था। मित्रगुप्त भी उत्सव देखने गया। राजकुमारी ने उसे देख कर अपना भावी पति चुन लिया। भीमधन्वा एक अज्ञात व्यक्ति की आज्ञा में कैसे रह सकता था। उस के सम्मान को धक्का पहुँचा। अतः उस का क्रोध भड़क उठा। उस ने आज्ञा दी कि मित्रगुप्त को समुद्र में फेंक दिया जाए। जिस समय मित्रगुप्त समुद्र के जल में हाथ पैर मार रहा था उसी समय यवनों का एक जलयान उधर से निकला। यवनों ने उसे बचा लिया। ये यवन मित्रगुप्त को दास बनाना चाहते थे। सौभाग्य से एक दूसरे जहाज वालों ने इस जहाज पर आक्रमण किया। मित्रगुप्त ने अपना कौशल दिखाया और अपने पराक्रम से आक्रमणकारियों को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस जहाज का कप्तान भीमधन्वा था। वह बन्दी बनाया गया और मित्रगुप्त को मुक्त कर दिया गया। प्रतिकूल वायु के बल से जहाज एक द्वीप में किनारे जा लगा।

१४१. मित्रगुप्त उतर कर द्वीप में घूमने गया। यहां उसे एक राक्षस मिला जिस ने उस से चार प्रश्न पूछे— १. क्रूर कौन है? २. गृहस्थी को सब से अधिक आनन्ददायक कौन है? ३. काम क्या है?

४. कठिन ध्येय की प्राप्ति का साधन क्या है ? राक्षस ने साथ ही कहा कि यदि मित्रगुप्त उस के प्रश्नों का उत्तर न दे सका तो वह उसे खा जायेगा। मित्रगुप्त ने इन प्रश्नों के १. स्त्री का हृदय २. पत्नी के गुण ३. संकल्प और ४. प्रज्ञा उत्तर दिये और अपने कथन को धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती के आख्यानों से स्पष्ट किया। राक्षस परम प्रसन्न हुआ। इसी समय एक अन्य राक्षस एक विरोध करती हुई स्त्री को आकाश मार्ग से ले जा रहा था। मित्रगुप्त ने इस युवती की रक्षा की। दैव की गति से वह उस की भावी पत्नी कन्दुकवती ही निकली। अब मित्रगुप्त कन्दुकवती के साथ दामलिप्त में आया। वृद्ध राजा ने मित्रगुप्त का स्वागत किया और उसे अपना जामाता स्वीकार कर लिया। यह राजा चम्पा के राजा सिंहवर्मा का मित्र था। उस की पुकार पर मित्रगुप्त सेना ले कर चम्पा पहुँचा। वहां पर उसे राजवाहन के दर्शनों का सुख प्राप्त हुआ।

१४२. अब राजवाहन की आज्ञा से मन्त्रगुप्त ने अपना हाल सुनाया।

सातवां उच्छ्वास—[मन्त्रगुप्तचरित]

१४३. राजवाहन की खोज करते हुए वह एक बार कलिङ्ग देश में पहुँचा। नगर के बाहर श्मशान में उस ने देखा कि एक सिद्ध एक तरुणी को अलौकिक सिद्धि प्राप्त करने के लिए बलि देने को तय्यार है। मन्त्रगुप्त ने इस युवती को उस सिद्ध के हाथ से बचाया। पूछने पर पता चला कि वह कलिङ्ग की राजकुमारी कनकलेखा थी। सिद्ध ने एक भूत के द्वारा उसे श्मशान में मंगा लिया था। दोनों का पर-

स्पर प्रेम हो गया। मन्त्रगुप्त अज्ञात वेष में राजकुमारी के अन्तःपुर में उसी के साथ रहने लगा। एक वार जव कलिङ्ग का राजा कर्दन अपने कुटम्ब के साथ कुछ दिन के लिए समुद्र के किनारे रह रहा था तव आन्ध्र के राजा जयसिंह ने उस पर आक्रमण कर के उसे वन्दी बना लिया। मन्त्रगुप्त राजा को छुड़ाना चाहता था। भाग्य से शीघ्र ही उसे अवसर मिल गया। जयसिंह कनकलेखा से विवाह करना चाहता था। परन्तु उस ने सुन रक्खा था कि राजकुमारी एक यक्ष के अधीन है। जव तक उसे यक्ष से मुक्ति न दिलाई जायगी तब तक इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। मन्त्रगुप्त ने एक पहुँचे हुए तपस्वी का भेस भरा और राजा के पास पहुँचा। राजा ने यक्ष को दूर करने में इस तपस्वी से सहायता मांगी। तपस्वी ने सहर्ष सहायता देनी स्वीकार कर ली। इस तपस्वी ने उस से कहा कि वह एक विशेष सरोवर में स्नान करे। तपस्वी मन्त्र वोलेगा और राजा का शरीर वदल जायेगा। इस वदले हुए शरीर से युद्ध कर के वह यक्ष पर विजयी होगा। जयसिंह सरोवर में घुस गया। मन्त्रगुप्त ने पहले ही सब प्रवन्ध कर रक्खा था। अतः उस ने राजा को वहीं मार दिया और स्वयं परिवर्तित शरीर वाला वन कर तालाव में से निकल आया। अव उसे कर्दन और राजकुमारी को मुक्त करने में कोई कठिनाई न रही। कर्दन अव कलिङ्ग और आन्ध्र दोनों देशों का राजा हो गया। मन्त्रगुप्त का विवाह कनकलेखा से हो गया। सिंहवर्मा की प्रार्थना पर मन्त्रगुप्त को उस की सहायता के लिए भेजा गया। यहां उसे राजवाहन के दर्शन हुए।

१४४. अन्त में विश्रुत ही रह गया था। अव उस ने भी अपनी कहानी सुनानी आरम्भ की।

आठवां उच्छ्वास (विश्रुतचरित)

१४५. विन्ध्यवन में घूमते हुए विश्रुत ने एक लड़के को एक कुएं के किनारे बैठा देखा। बालक की प्रार्थना पर विश्रुत ने उस के रक्षक और सेवक नालीजंघ को कुएं से बाहर निकाला। नालीजंघ ने बताया कि वह बालक विदर्भ का राजकुमार भास्करवर्मा था। उस का पिता अनन्तवर्मा कुसंगति में पड़ गया। वह राजनीति से शून्य था। अतः उसने राज-काज का ध्यान न रक्खा। पड़ोस के अश्मकराज वसन्तभानु ने विदर्भ पर आक्रमण कर के अनन्तवर्मा को मार दिया और स्वयं विदर्भ देश का राजा बन गया। पति की मृत्यु पर वसुन्धरा अपनी पुत्री मञ्जुवादिनी और पुत्र भास्करवर्मा को ले कर अपने देवर, माहिष्मती के राजा मित्रवर्मा के पास चली आई। परन्तु मित्रवर्मा छली मित्र निकला। उस की कुदृष्टि देख कर रानी ने नालीजंघ को भास्करवर्मा को सुरक्षित स्थान पर ले जाने की आज्ञा दी। विश्रुत ने सुन कर कहा कि उस के पिता और भास्करवर्मा की माता का नाना एक ही था। इस ने भास्करवर्मा को विदर्भ का राज्य वापिस लेने में सहायता का वचन दिया। इतने में वहाँ एक शिकारी आ निकला। उस ने बताया कि माहिष्मती में उत्कल के राजा प्रचण्डवर्मा और मञ्जुवादिनी का विवाह होने वाला है। विश्रुत ने नालीजंघ को एक माला और वत्सनाभ विष दे कर रानी के पास भेजा और एकान्त में रानी को सब समाचार बता कर यह प्रसिद्ध करने को कहा कि 'कुमार को एक सिंह ने खा लिया है।' साथ ही रानी को सन्देश भेजा कि "वह मित्रवर्मा को कहलाए कि 'राजकुमार तो मर ही चुका है। अब मैं जैसा आप कहोगे वैसा ही करूंगी।' जब वह समीप आये तो पहले वत्सनाभ में भिगोई हुई माला से उस के सीने पर प्रहार कर कहना कि 'यदि मैं पतिव्रता हूं तो तुम इसी माला के प्रभाव से मर

जाओ।' फिर उसी माला को अन्य ओषधि वाले पानी में धो कर मंजुवादिनी को पहना देना। मित्रवर्मा के मरने पर प्रचण्डवर्मा को कहला भेजना कि 'राज्य शासकहीन है। अतः वह राज्य के साथ मंजुवादिनी को भी स्वीकार कर ले।' तब तक हम दोनों कापालिक के वेष में श्मशान में रहेंगे। फिर रानी मुख्य मुख्य अधिकारियों और अन्य व्यक्तियों को बुला कर कहे कि 'रात को स्वप्न में देवी विन्ध्यवासिनी ने दर्शन दे कर कहा है कि आज से चौथे दिन प्रचण्ड-वर्मा मर जायगा। मैं ने व्याघ्ररूपिणी हो कर तुम्हारे पुत्र को अपनी रक्षा में ले लिया है। वह एक द्विजकुमार के साथ पांचवें दिन मेरे मन्दिर में से निकलेगा। यह द्विजकुमार राजकुमार को अपने राज्य में स्थापित करेगा। वह मञ्जुवादिनी इस द्विजकुमार की पत्नी निश्चित की गई है।'' नालीजंघ ने सब इसी प्रकार करा दिया। विश्रुत भी कापालिक का वेष धारण कर माहिष्मती में पहुँचा। जब प्रचण्डवर्मा आमोद-प्रमोद में मग्न था तो यह भी नर्तक के रूप में उस को प्रसन्न करने लगा। अवसर पा छुरे से प्रचण्डवर्मा के सिर को काट कर भाग गया। अगले दिन वह पहले प्रसिद्ध किये हुए के अनुसार मन्दिर में प्रतिमा के नीचे से कुमार के साथ निकल आया। यहां पर वह पहले छुप गया था। रानी ने मञ्जुवादिनी का विवाह विश्रुत से कर दिया। अब वह भास्करवर्मा को राजा बना कर स्वयं राज्य की देख-भाल करने लगा। फिर नालीजंघ के द्वारा आर्यकेतु के मन के भाव जाने। उसे पूरा विश्वास था कि विश्रुत में दिव्य शक्ति है। विश्रुत ने भी अनेक उपायों से उसे और प्रजाजनों को अपने पक्ष में कर लिया।

(मुख्य दशकुमारचरित समाप्त हुआ।)

इ—उत्तरपीठिका—[उपसंहार]

(विश्रुत की कथा का शेष भाग)

१४६. अब विश्रुत के अधिकार में उत्कल और माहिष्मती के राज्यों की सेनाएं थीं। वह स्वयं नीति में वसन्तभानु से किसी भी रूप में कम न था। विदर्भ की प्रजा पहले ही भास्करवर्मा में अनुरक्त थी। अब विश्रुत ने धनादि से पूरी तरह उन्हें अपनी ओर कर लिया। वसन्तभानु के अन्तरङ्ग और वाह्य सेवकों और सेना में अपनी दिव्य शक्ति की प्रसिद्धि करा कर उन्हें अपने स्वामी के प्रति विमुख कर दिया। वसन्तभानु ने स्थिति बिगड़ती देख कर विश्रुत और भास्कर-वर्मा पर आक्रमण किया। विश्रुत ने अकेले ही बढ़ कर वसन्तभानु को द्वन्द्वयुद्ध में मार दिया। वसन्तभानु की सेना चित्रवत् खड़ी रही और विश्रुत की ललकार पर उस ने विश्रुत की अधीनता स्वीकार कर ली। विश्रुत ने विदर्भ में आ कर भास्करवर्मा को वहां का राजा बना दिया। विश्रुत ने राजा और उस की माता वसुमती से आज्ञा ले कर राजवाहन की खोज में जाना चाहा, पर सफल न हुआ। इतने में सिंहवर्मा का सन्देश पहुंचा। विश्रुत सेना ले कर चम्पा में आया तो उस के सौभाग्य से वहां राजवाहन से भेंट हो गई।

(ग्रन्थ का उपसंहार)

१४७. जब सब राजकुमार आपस में मिल कर हर्ष से बातें कर रहे थे, तभी पुष्पपुर से एक दूत राजा राजहंस का आज्ञापत्र ले कर आया। राजहंस ने लिखा था कि विन्ध्यवन से लौटी हुई सेना से राजवाहन के अदृश्य हो जाने और कुमारों के उस की खोज में चले जाने की बात सुन कर वसुमती और राजहंस ने प्राण त्यागने का निश्चय किया। परन्तु वामदेव ने उन्हें आश्वासन दिया कि सब कुमार

सकुशल दिग्विजय कर सोलह वर्ष के पश्चात् लौट आयेंगे। सोलह वर्ष की अवधि समाप्त होती देख वे फिर वामदेव के पास गए। उस के बताने पर कुमारों को बुलाने के लिए सैनिक भेजे थे और तुरन्त चले आने की आज्ञा दी थी।

१४८. सब ने राजा की आज्ञा को स्वीकार किया। अपने-अपने राज्यों की समुचित व्यवस्था कर अपनी पत्नियों और परिमित सेना के साथ पुष्पपुर की ओर चल पड़े। मार्ग में मालवराज मानसर से युद्ध किया। वह युद्ध में हार गया और मारा गया। राजवाहन ने कैद में पड़े हुए पुष्पोद्भव और उस के कुटुम्ब को कैद के बाहर निकाला और अवन्तिसुन्दरी को ले कर सब के साथ पुष्पपुर पहुंचा। राजा और रानी अपने पुत्र और अन्य कुमारों से मिल कर और उन के चरित सुन कर परम प्रसन्न हुए। राजहंस ने राजवाहन को राज्य दे कर स्वयं वानप्रस्थ ले लिया। शेष कुमार भी राजवाहन को अपना स्वामी मान कर अपने-अपने राज्यों का न्यायपूर्वक प्रबन्ध करने लगे। अब कुमारों की उन्नति का समय था। अतः वे परम उत्कृष्ट देवताओं को भी अप्राप्य सुख और समृद्धि का उपभोग करने लगे।

उ. दशकुमारों का परिचायक चित्र

१४९ दण्डी ने अपने चरितों को सुनाने में कुमारों का क्रम १. सोमदत्त, २. पुष्पोद्भव, ३. राजवाहन, ४. अपहारवर्मा, ५. उपहारवर्मा, ६. अर्थपाल, ७. प्रमति, ८. मित्रगुप्त, ९. मन्त्रगुप्त और १०. विश्रुत रक्खा है। प्रथम उच्छ्वास में इन की उपलब्धि का क्रम १. राजवाहन, मन्त्रियों के पुत्र—२. प्रमति, ३. मित्रगुप्त, ४. मन्त्रगुप्त, ५. विश्रुत, ६. उपहारवर्मा, ७. अपहारवर्मा, ८. पुष्पोद्भव, ९. अर्थ-

पाल और १०. सोमदत्त हैं। इन सब कुमारों के पिता आदि का परिचयात्मक चित्र इस प्रकार है—

(क) राजहंस (मगध का राजा)
- राजवाहन (१)

(ख) प्रहारवर्मन् (राजहंस का मित्र और विदेह का राजा)
- अपहारवर्मन् (२)
- उपहारवर्मन् (३)

(ग) धर्मपाल (राजहंस का मन्त्री)
- सुमन्त्र — मित्रगुप्त (४)
- सुमित्र — मन्त्रगुप्त (५)
- कामपाल — अर्थपाल (६)

(घ) पद्मोद्भव (राजहंस का मन्त्री)
- सुश्रुत — विश्रुत (७)
- रत्नोद्भव — पुष्पोद्भव (८)

(ङ) सितवर्मन् (राजहंस का मन्त्री)
- सुमति — प्रमति (९)
- सत्यवर्मन् — सोमदत्त (१०)
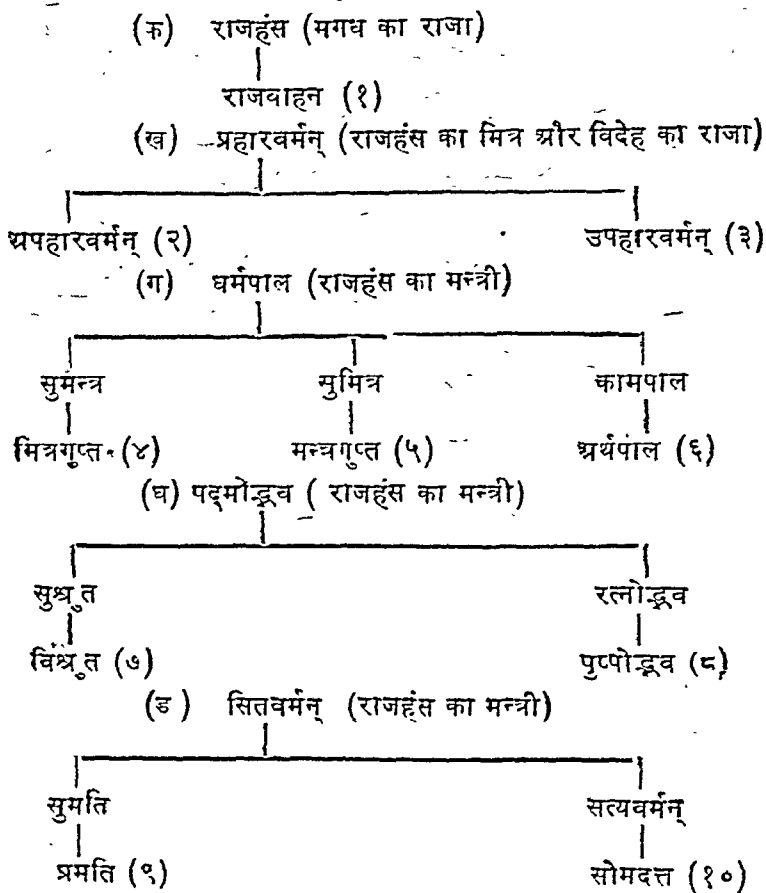
२२—दशकुमारचरित की कथावस्तु का स्रोत—

१५०. इस ग्रन्थ की कथा कवि की कल्पना की उद्भूति ही प्रतीत होती है। यह सिद्ध नहीं हो सका है कि कवि ने अन्य किसी ग्रन्थ से

अपनी वस्तु के निर्माण में सहायता ली है। श्री अगाशे ने यद्यपि कथा-सरित्सागर से कुछ ऐसी घटनाएं सकलित की हैं जो दशकुमारचरित से मिलती-जुलती हैं। परन्तु ये घटनाएं सूक्ष्म संकेत मात्र हैं और इन से दण्डी की मौलिकता और कल्पना को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचता है।

१५१. कुछ विद्वानों के मत में मानसार द्वारा राजहंस का हराया जाना और वसन्तभानु का अन्त तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर ही वर्णित किये गए हैं। परन्तु दण्डी की दृष्टि ऐतिहासिक नहीं है। अतः इन घटनाओं में भी इतिहास का कोई रूप दशकुमार-चरित में नहीं मिलता है। यह ग्रन्थ तो सर्वथा काल्पनिक है और आज-कल के काल्पनिक उपन्यासों के समान ही अन्य किसी ग्रन्थ के आधार पर नहीं लिखा गया है। श्री काले लिखते हैं—

'He is fully entitled to the credit of having created an original romance of great interest and charm in which the life of the middle class as well as of the ruling caste is portrayed with discrimination and a due sense of proportion.'

अर्थात् 'उन्हें रुचि और आनन्द का मौलिक उपन्यास सृजन करने का श्रेय है, जिस में मध्यम श्रेणी और शासक जाति दोनों का जीवन विवेकपूर्वक और सीमा के भीतर चित्रित किया गया है।' इतना माना जा सकता है कि दण्डी की कल्पना की भित्ति का आधार उस के समकालीन अथवा कुछ पहले की घटनाएं रही होंगी, भले ही उन की ऐतिहासिकता यहां अभीष्ट न हो।

२३—दण्डी के गुण

१५२. ग्रन्थ उच्च कोटि का है। और जो प्रशंसा इस की की गई है वह ठीक ही है। यद्यपि यह कालिदास, भवभूति और बाण के समान

उत्कृष्ट शैली में नहीं है तो भी वह इन के अतिरिक्त और किसी से कम नहीं है।

१५३. ग्रन्थ की योजना में दण्डिन् ने कौशल का परिचय दिया है। वे अपने भावों और चित्रों को परिवर्तित करते रहते हैं। वे रूप को भी बदलते हैं। सामान्यतः समस्त ग्रन्थ में धाराप्रवाह आख्यान हैं, परन्तु छठे उच्छ्वास में चार छोटी-छोटी कहानियाँ भी जोड़ दी गई हैं। कवि छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं।

१५४. दण्डिन् सरल और सादा वर्णन में कुशल हैं। उन्हों ने अपने पात्रों के संवादों में वाणी के विस्तार का परिहार किया है।

१५५. दडिन् यथार्थवादी कहे जा सकते हैं। इन्हों ने वस्तुस्थिति जैसी देखी वैसी वर्णित की। ब्राह्मणों के दोषों के चित्रण में, मुनियों और बौद्ध भिक्षुणियों आदि के अनाचार के वर्णन में वे जरा भी संकोच नहीं करते हैं।

१५६. दण्डिन् के हास्य और प्रत्युत्पन्नमतित्व आधुनिक दृष्टि से बहुत श्लाघनीय हैं। समस्त ग्रन्थ राजकुमारों के असंयत कर्मो, अपनी कामना को पूर्ण करने के निश्चयों और नैतिक नियमों के प्रति उपेक्षा आदि के उपहास से व्याप्त हैं। चोरी, हत्या और परदारगमन के कामों में बुद्धिकौशल का परिचय अनेक बार मिलता है।

२४. दण्डी की वर्णनशक्ति—

१५७ दण्डी में वर्णन की प्रभूतशक्ति है। इन के वर्णन उर्वर कल्पनाओं के कारण रमणीय हैं। वे सजीव, ओजस्वी और अनेकविध हैं। उन में स्पृहणीयता, स्वाभाविकता और नवीनता हैं। स्त्रियों के सौंदर्य, पुरुषों के स्वभाव, रूप और कर्मो, युद्ध, सेना, शस्त्रास्त्रों, विरह, सम्भोग, आकस्मिक विपत्तिजन्य व्याकुलता, क्रोध, वेशाचार आदि, सन्ध्या, वसन्त ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, जामाता कन्यान्तःपुर में सुप्त राजकन्याओं और भीत स्त्रियों की दशा आदि के वर्णन सुन्दर, रोचक.

विशद परन्तु संक्षिप्त हैं। ये बाण के समान कल्पनाप्रसूति में समर्थ हैं, परन्तु बाण की तुलना में इन के वर्णन बहुत छोटे हैं, आयाम में उन की कोई तुलना नहीं। न वे काव्य जगत् को उच्छिष्ट छोड़ने वाले हैं, तथापि वे ससार, गागर में सागर भरने वाले, कथाप्रवाह को अक्षुण्ण रखने वाले, ललित और आकर्षक हैं। यहां जहां कालिदास के समान व्यञ्जना नहीं है, वहां भवभूति के समान विस्तार भी नहीं है। कई वार इन वर्णनों में संवादों ने नई शक्ति भर दी है। दण्डी के वर्णनों में अनेकों ऐसे भी मिल जाएंगें जो बाण में दुर्लभ है। राजहंस, मानसार से उस के युद्ध, दर्पसार, चण्डवर्मा, अंगराज पर आक्रमण, कुमारनिवह, वसन्तसय, अवन्तिसुन्दरी के विरह, उस के रोने पर राजभवन में व्याकुलता, चण्डवर्मा के क्रोध आदि के वर्णनों में दण्डी की विविध द्रुत चित्रमय वर्णनशक्ति का अनायास ही अनुभव किया जा सकता है।

१५८. दण्डी मानसिक भावों के चित्रण में पर्याप्त सफल हुए हैं। रजत शृंखला से बंधे हुए राजवाहन को कन्यान्तःपुर में देख या सुन कर चण्डवर्मा और दर्पसार के विचारों में गर्व, व्यावहारिक बुद्धि का अभाव और औद्धत्य हैं, परन्तु मानसार और उस को पत्नी पुत्री-प्रेम से पीडित होने से कोमल और दयालु हैं तथा उस के सुख के लिए जामाता का वध नहीं होने देते हैं। चण्डवर्मा अपनी प्रेमिका के भावों के कारण ही उस के पिता सिंहवर्मा का प्राणान्त नहीं करता है। काममञ्जरी के मरीचि से एकान्त वार्तालाप को शुकनासोपदेश की प्रतिक्रिया माना जा सकता है। इस में काम और अर्थ की उपयोगिता और कमनीयता का मनोहारी और विश्वासोत्पादक वर्णन है। इस वार्तालाप में काममञ्जरी की चेष्टाओं और मरीचि के राग के चित्रण स्वाभाविक और यथार्थ हैं।

१५९. वस्तुतः दण्डी किसी भी अवस्थाविशेष का वर्णन करने में

सिद्धहस्त हैं। उन के प्रकृति के संक्षिप्त चित्रों में कल्पनाकौशल और सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति का अच्छा परिचय मिलता है।

२५. दण्डी की कहानीकला

१६०. दण्डी की कहानीकला पर्याप्त ऊंचे स्तर की है। ये छोटी-छोटी कहानियां लिखने में भी प्रवीण हैं। कुमारों की प्राप्ति की कथाओं में वहुशः घटनाओं में साम्य पाया जाता है। प्रथम उच्छ्वास में जो कथा दी गई हैं उन की मूल दशकुमारचरित में पुनरुक्ति की गई है। दण्डी की समस्त कहानियां घटना और वर्णन प्रधान हैं। उन के मूल में वित्त या अर्थ सिद्धि ही एक मात्र प्रमुख लक्ष्य है। क्यों कि वह सब कार्यो का निमित्त है। इस की सिद्धि के लिए छल-कपट, चोरी, हत्या, परदार-गमन, कन्यान्तःपुरदूषण आदि जघन्य कर्म किए जाते हैं। घटना के साथ यहां काम या सुरतक्रीड़ा का भी पूर्ण साम्राज्य लक्षित होता है। सर्वत्र स्वार्थ का बोलवाला है। राष्ट्रहित की कल्पना का सर्वथा अभाव पाया जाता है। सिंहवर्मा की सहायता के लिए राज्याधिकारप्राप्त राजवाहन के मित्र राष्ट्रहित की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत मैत्री या युद्धसन्धि के कारण ही जाते हैं।

१६१. दण्डी की कहानियां चमत्कारों और अन्धविश्वासों की भित्ति पर खड़ी हुई हैं। इन में आत्मघात, हत्या और परदारगमन के साधनों, गूढ़ वास, अभिज्ञान के प्रयोग, झूठी घोषणाओं, प्रेमपत्रों और इन्द्रजाल का भी प्रमुख योग है। रत्नोद्भव और उस की पत्नी के मिलन में, अवन्तिसुन्दरी और राजवाहन के प्रेमव्यापार मे और इस के आगमन में आकस्मिकता अनावृत रूप में उपस्थित होती है। पुष्पोद्भव का रत्नोद्भव को घटनाओं का सुनाना सामान्य कोटि का रूखा-फीका इतिवृत्तवर्णन सदृश है।

१६२. दण्डी अलौकिक और प्राकृतिक घटनाओं को भी सहज रूप में वर्णन करते हुए स्वाभाविकता से ओतप्रोत कर देने में परम

कुशल कहे जा सकते हैं। वे तान्त्रिक साधना से शिष्यों को उत्पन्न कर देते हैं। सिद्धाञ्जन से भूमिस्थ कोष का ज्ञान करा खनन से उसे ग्रहण कराते हैं।

१६३. कवि के नायक और नायिकाएं साक्षात् या स्वप्न या चित्र में दर्शन, किसी के द्वारा रूपवर्णन, अथवा पति से असन्तोष के कारण एक दूसरे के प्रेमपाश में आवद्ध हो जाते हैं। पुष्पोद्भव और वालचन्द्रिका के, कल्पसुन्दरी और उपहारवर्मा के, राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी के प्रेम इन्हीं श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं। प्रेम की मस्ती में लोकविषयक विवेकशून्यता खटकती है। शाम्ब का शाप, राजवाहन का निगडित होना और उस से मुक्त होना चमत्कार ही है, यथार्थ इन से कोसों दूर है। तथापि इन चमत्कारों के प्रयोग से कोई विशेष उदात्त भावना प्रादुर्भूत होती दिखाई नहीं देती है। चौदह भुवनों के वृत्तश्रवण पर अवन्तिसुन्दरी के उद्गार और चेष्टाएं कन्या-स्वभाव के प्रतिकूल ही कही जा सकती है। हां, यह माना जा सकता है कि आत्मसमर्पण करने वाली गान्धर्व विवाह करने वाली अवन्ति-सुन्दरी इतनी कामपरायण और वाचाल हो गई है कि सामान्य कुलीन भारतीय नारी के स्वभाव के विपरीत आचरण करती है। कल्पसुन्दरी की चेष्टाएं, भावनाएं और प्रतिक्रिया पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। प्रेम के वशीभूत हो नायक-नायिका के अपसरण या भाग जाने का वर्णन भी कवि ने लोक की घटनाओं और शाश्वत मानव स्वभाव के आधार पर प्रस्तुत किया हैं।

१६४. संवादों ने कवि की कहानियों में नई स्फूर्ति, नया जीवन, ऊर्जस्विता, विशदता और प्रवाह की सृष्टि की है। इन के संवाद प्रवाहमय, सामान्यतः सरल, हृदयावर्जक, प्रसाद, माधुर्य और ओजगुण से व्याप्त हैं। उन में असमास, अल्पसमास और दीर्घ और वहुल समास की शैलियों का प्रकरण और परिस्थित्यनुसार प्रयोग किया गया

है। कहानियों के अन्त में राजवाहन द्वारा कुमारों के इतिवृत्तों का अभिनन्दन दुष्कर्मों को भी उपयोगी और प्रशस्त बताता है, क्यों कि ये कर्म कर्त्तव्य और लक्ष्य की सिद्धि की दृष्टि से किए गए थे। वस्तुतः दण्डी साधनों और कार्यप्रणाली के औचित्यानौचित्य को नहीं देखते हैं, वे परिणामफल को ही देखते हैं।

२६. दशकुमारचरित में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

(अ) राजनैतिक स्थिति

१६५. दशकुमारचरित में चौबीस प्रदेशों के नाम दिए गए हैं। ये प्रदेश मगध से ले कर उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश होते हुए दक्षिण में समुद्रतटों तक फैले हुए थे। ये प्रदेश मगध, मालव, विदेह, अंग, काशी, कलिंग, आन्ध्र, विदर्भ, माहिष्मती, वनवासी, अश्मक, कुन्तल, मुरला, ऋचीक, कोंकण, नासिक्य, कामरूप, पुण्ड्र, श्रावस्ती, सुह्म, त्रिगर्त, द्रविड, सौराष्ट्र और शूरसेन थे। इन के राजाओं के नाम भी दिए गए हैं। इन राजाओं में मैत्री सम्बन्ध थे। सिंहवर्मा पर आक्रमण होने पर उस के अनेकों मित्रराजा उस की सहायता के लिए दौड़ते हैं। शत्रु राज्यों को हस्तगत करने के लिए उपजाप और अन्य षड्यन्त्र रचे जाते हैं। राज्य को आत्मसात् करने के लिए चोरी, वध, परदारगमन आदि जघन्य उपायों का भी अवलम्बन करना शिष्ट माना जाता था। छल-कपट, अन्धविश्वास, घूस आदि का प्रचुर लाभ उठाया गया है।

आ. सभ्यता, संस्कृति और धर्म

१६६. तत्कालीन समाज भाग्यवादी था। बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। जनता मन्त्रों, मणियों और औषधियों के चमत्कारों, शरीरपरिवर्तन, आकाशवाणी और विष्णु सदृश देवों की अविष्णुता में विश्वास रखते थे। ज्योतिष का प्रचलन था। शकुनों और मुहूर्तों

को देख कर कार्य प्रारम्भ किए जाते थे। नरक में सिंहासनासीन यमराज और उस के मन्त्री चित्रगुप्त की सेवा में मृतकों के उपस्थित होने की धारणा बद्धमूल प्रतीत होती है। नरक की कल्पना पुराणानुसारिणी है।

१६७. गृह्य संस्कारों में सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चौल, उपनयन और दाह का नाम आया है। विवाह का उल्लेख है, परन्तु वह उल्लेख संस्कार के रूप में नहीं आया है। विवाह-विधियों में गन्धर्वविवाह का ही प्रचलन दिखाया गया है। इस विवाह के मूल में स्वप्न में, चित्र में अथवा साक्षात् दर्शन से प्रेम की उत्पत्ति है। अन्तर्जातीय और अन्तर्देशीय विवाह बहुशः प्रचलित थे। जातिवाद लचीला था। यक्षों से विवाहसम्बन्ध विरल और आश्चर्य का कारण था।

१६८. शिव की पूजा सविशेष प्रचलित थी। उज्जयिनी के महाकाल की भारी मान्यता थी। वह इष्टसिद्धि देने वाला माना जाता था। कवि ने प्रत्यभिज्ञान शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है, जिस से प्रत्यभिज्ञान शैव दर्शन के प्रति उस की आस्था का आभास मिलता है। तान्त्रिक विधियों से होम किए जाते थे। इन के लिए समिधाएं वनों से लाई जाती थीं। इन होमों में आत्मदेह की आहुति की कल्पना भी थी। श्मशान में तन्त्र या योगसिद्धि से राक्षसों को वश में कर उन से अभीष्ट काम कराने की शक्ति में विश्वास प्रचलित था। दिगम्बर जैन साधु—क्षपणक का भी दण्डी ने उल्लेख किया है। तीर्थों में स्नानों की प्रथा थी। मुनि और तपस्वी वनों में रहते थे। समाज में इन के लिए महती सम्मान-भावना थी।

१६९. जंगलों में शवरों या किरातों का आतंक था। ये राजाओं तक को युद्ध में हरा कर लूट लेते थे। सार्थवाह अपने साथ योधाओं का समूह ले कर चलते थे। ये किरात पल्लियों या छोटी बस्तियों में

रहते थे। जिन्हें पत्वरण भी कहते थे। ये चण्डी के उपासक थे और अपनी जीत के उपलक्ष में उस पर मनुष्यबलि चढ़ाते थे। इन में कुछ विप्र–ब्राह्मण भी थे। ऐतरेय ब्राह्मण के मत में किरात दस्यु आदि विश्वामित्र की सन्तान हैं। ये युद्ध आदि में बाणों का प्रयोग करते थे। समुद्रों में भी डाकू जहाजों पर आक्रमण कर उन्हें लूटा करते थे। इन डाकुओं में राजघरानों के व्यक्ति भी पाए जाते थे।

१७०. भारतीय समुद्रमार्ग से अरब जैसे सुदूर देशों से वाणिज्य किया करते थे। समुद्री डाकुओं और अन्य आपदाओं की दृष्टि में उन का उद्यमी और क्रियाशील होना व्यक्त होता है। विदेशी व्यापारियों से वे विवाह आदि सम्बन्ध द्वारा आत्मीयता भी स्थापित किया करते थे। स्थल मार्ग में उन के बड़े-बड़े सार्थवाह जंगलों तक में जाया करते थे।

१७१. मनोरंजन के लिए कन्दुकक्रीड़ा, मुरगों की लड़ाई, उपवनविहार, समुद्रतट पर विचरण और मदनोत्सव आदि का प्रचलन था। जुआ सुप्रचुर था। वेश्यावृत्ति सुप्रचलित और समाज में मान्य थी।

१७२ शिक्षा में देश की विभिन्न लिपियों, भाषाओं, वेद, वेदांग, काव्य, नाटक, आख्यानक, आख्यायिका इतिहास, चित्र, कथा, पुराण, धर्मशास्त्र, शब्दशास्त्र (व्याकरण), ज्योतिष, तर्क, मीमांसा आदि शास्त्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीति, वीणा आदि वाद्य, संगीत, साहित्य, मणि मन्त्र और औषधों के छलमय प्रयोग, हाथी घोड़े आदि की सवारी, विभिन्न प्रकार के आयुधों के प्रयोग और चोरी, जुआ आदि कपट कर्मों का विभिन्न आचार्यों द्वारा अध्यापन किया जाता था।

१७३. स्त्रियों की स्थिति को बुरा कहना सम्भव नहीं। समाज में उन का विशिष्ट स्थान रहा प्रतीत होता है। बच्चों की रक्षा और पालन-पोषण के लिए धाय रखने की प्रथा थी। पत्नी की बहन से

भी विवाह किया जा सकता था। दूसरे को मार कर उस की पत्नी को अपनी प्रेयसी बनाना भी प्रचलित था। छल-कपट से साध्वी स्त्रियों को भी आत्मसात् कर दुष्ट जन दूषित कर देते थे। सम्भवतः पुरुषों को उन का विश्वास कम था, अतः वे यथार्थ स्थिति को अपने पति को भी बताने में डरती थी। कुछ बुद्धिमान जन गुणों के आधार पर ही विवाह करते थे। स्त्रियों की ईर्ष्या और सौतिया डाह का अभाव नहीं था।

१७४. समाज में धनिक और निर्धन उभयविध जन रहते थे। निर्धनों की सन्तान भी अधिक होती थी। वेश्याओं द्वारा धनिकों के धन का बहुशः अपहरण कर लिया जाता था।

१७५. चिकित्सा का विशेष प्रबन्ध रहा प्रतीत नहीं होता है। वृष्णिपाल कुछ चिकित्सा करते थे। मन्त्र और ओषधियों से विष की चिकित्सा की जाती थी।

१७६. नागरिकता के नियम भी निर्धारित थे। कुबेर की अनुमति से ही कामपाल का पुत्र राजवाहन की सेवा के लिए लाया जाता है। वन्दियों के हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाली जाती थीं। उन्हें हण्टरों से पीटा भी जाता था। चोरी की खोज लगाने का भी प्रयत्न किया जाता था। सैनिक अपराधियों से सद्व्यहार नहीं करते थे। दण्ड का विधान था।

२७. दशकुमारचरित में उपलब्ध सामग्री की उपादेयता।

१७७. इस ग्रन्थ से अनेक प्रकार की सामग्री मिलती है पर उस की उपादेयता कुछ नहीं क्यों कि वह बहुत ही साधारण कोटि की है। विलसन महोदय ने इस की भौगोलिक स्थिति को बड़ा महत्त्व दिया था, पर व्यर्थ। जिन स्थानों आदि का वर्णन और उल्लेख यहां पर है वे या तो इतने प्रसिद्ध हैं कि हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं करते या इतने अस्पष्ट हैं कि हमारे लिये उन का कोई मूल्य नहीं।

१७८. सामाजिक अवस्था भी कोई असाधारण नहीं। इस में पारदारिक, मूर्तिपूजा, स्वप्नों में विश्वास और आवागमन के सिद्धान्त आदि का चित्रण हुआ है। ये रीतियां हिन्दू समाज में सैंकड़ों वर्षों से अवाध गति से चली आ रही हैं। इस दिशा में समाज में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। केवल पुरुष की बलि को राज्य ने नियम द्वारा बन्द करा दिया है।

१७९. दशकुमारचरित में वर्णित लम्पटता और मूढ़ विश्वास पर भी अधिक बल नहीं देना चाहिए। ये दोनों ही प्रत्येक समाज के कुछ स्तरों में कम या ज्यादा रूप में अवश्य मिलते हैं पर यह कोई नहीं कहता कि सारा समाज उन्हीं के आधार पर केन्द्रित है। यही बात दशकुमारचरित के वर्णनों पर लागू होती है।

१८०. दशकुमारचरित में वर्णित राजनैतिक स्थितियों से भी कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना संभव नही है। इस में वर्णित राजाओं की ऐतिहासिकता और काल का कोई प्रामाणिक ज्ञान अभी नहीं हो पाया है। अतः दण्डी की तिथि के निर्णय में भी वह अनुपादेय है। यह सब होने पर भी दण्डी के काल की स्थितियों और इतिहास के ज्ञान के लिए इस सामग्री का महान् महत्त्व और उपादेयता हैं।

२८. दण्डी की शैली—

१८१. दण्डी की शैली साधारणतया सरल, स्निग्ध, धारावाहिनी, परिस्फुट और चित्ताकर्षक है। प्रायः दीर्घ समासों और श्लिष्ट तथा क्लिष्ट पदावली का प्रयोग नहीं किया गया है। उन के पद सुप्रयुक्त और सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले हैं। अनेक पदावलियां सारगर्भित और स्पृहणीय हैं। कवि को शब्दकोश पर पूरा पूरा अधिकार है और उस का

प्रयोग उच्च कोटि के कौशल और असाधारण पाण्डित्य का द्योतक है। अनुप्रास और यमक के प्रयोग में तो वे अनुपम हैं। देखिए—

"कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमकार्षुः।" पृ० २६। अनेक स्थलों पर पदावली में मनोहर झंकार हृदय को खिला देती है—

"मणिमयमण्डनमण्डलमण्डिता सकललोकललनाकुलललामभूता" ॥ पृ० ३४ ॥

१८२. उन की कल्पनाशक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उन के वर्णन सजीव और रमणीय हैं। उन के सूर्योदय और सूर्यास्त के वर्णन विशेषतया देखने योग्य हैं।

१८३. दण्डी का गद्य अपनी विशेषता रखता है। वह न तो सुबन्धु के गद्य के समान प्रत्यक्षरश्लेषमय है, न बाण की सरसस्वरवर्णपदा शैली में है। वह तो बहुत कुछ प्रतिदिन के काम में लाने योग्य गद्य का नमूना है। यह शैली दशकुमारों की कथाओं के वर्णन के लिए खूब उपयुक्त रही है।

१८४. दण्डी की शैली पंचतन्त्रादि कथा-पुस्तकों से मिलती-जुलती है। उस में बाण की कादम्बरी की शैली की ओजस्विता नहीं है। बाण अपने काव्य को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए समस्त साहित्यिक उपकरणों का प्रयोग करता है। उस के वर्णन में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग होता है। वर्णनबाहुल्य है और अनेक स्थानों पर वह उस में खो जाता है। उस का उद्देश्य संस्कार है, कथानक नहीं। परन्तु दण्डी ने इस लालच का सर्वथा त्याग किया है। उन्हें भाषा पर पूरा आधिपत्य था। अवन्तिसुन्दरीकथा से स्पष्ट है कि यदि वह चाहते तो बाण जैसी ही कृति उत्पन्न कर सकते थे। दशकुमारचरित के सातवें उच्छ्वास में ओष्ठ्य वर्णों का सर्वथा अभाव है। यह छटा बाण में कहीं भी नहीं मिलती। इस चित्रकाव्य के निर्माण में कहीं भी दुरूहता नहीं आई है।

यह इतने कौशल और चमत्कार से लिखा गया है कि यदि कवि आरम्भ में ही यह सूचना न दे+ तो अन्त तक इस का जानना सम्भव न हो।

१८५. दण्डी के शब्द चुने हुए हैं और साधारण सत्यों के वर्णन में विशेष रूप से सप्रवाह हैं। जैसे—

"इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते।"

"स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य।"

"न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्।"

१८६. दण्डी के इन्हीं गुणों पर मुग्ध हो कर भारतीय विद्वानों ने इन्हें निम्नलिखित प्रशंसाओं से विभूषित किया है—

१. "दण्डिनः पदलालित्यम्।"

२. "कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।"

३. "जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।"
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।"

निःसन्देह वाल्मीकि और व्यास के समान दण्डी की काव्यप्रतिभा स्वतः सिद्ध थी।

१८७. यद्यपि इस में अनेकों स्थलों पर व्याकरण की अशुद्धियां और अप्रचलित प्रयोग मिलते हैं, परन्तु उन अशुद्धियों में से अधिकांश या तो पूर्वपीठिका में मिलती हैं जो दण्डी की कृति नहीं, अथवा लिपिकों के प्रमाद ही प्रतीत होती हैं। अतः दण्डी बिलकुल निर्दोष उतरते हैं।

अ. लुङ् का प्रयोग

१८८. दण्डी के काव्य में लुङ् की छटा विशेष रूप से अवलोकनीय है। यहां कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य में लुङ् की सभी श्रेणियों के सुन्दर रूपों का प्रयोग किया गया है। णिजन्त धातुओं के लुङ् के प्रयोग भी मिलते हैं। नीचे दिए गए कुछ उदाहरणों से कवि

+ ललितवल्लभारभसदत्तदन्तक्षतव्यसनविह्वलाधरमणिनिरोष्ठ्यवर्णमात्मचरितमाचचक्षे। (६ठा उच्छ्वास।)

के लुङ्. के प्रयोग के कौशल और उस से उत्पन्न लालित्य और सौंदर्य का अनुमान किया जा सकता है। ऐसे उदाहरण उन की रचना में पद-पद पर मिलते हैं।

१. इत्युपधाय व मभुजम**शयिषि**। ततः क्षणादेवावनिदुर्लभेन स्पर्शेना-**सुखायिषत** किमपि गात्राणि, **आह्लादयिषते**न्द्रियाणि, **अभ्यम-नायिष्ट** चान्तरात्मा।

२. सर्वश्च समानदोषतया न कस्यचिच्छिद्रान्वेषणाया**यतिष्ट**।...स्वं स्वं चरित्रम**त्यचारिषुः**।.........अश्मकेन्द्रः प्रागुपेत्य प्रियतरोऽ**भूत्**। अपरेऽपि सामताः **समगंसत**।........नृत्य**मद्राक्षीत्**। अश्मकेन्द्रस्तु कुन्तलपतिमेकान्ते **समभ्यधत्त**।.........नैर्घृण्यात्तमेनं बालम-**जिघांसीत्**

३. तया क्षणं क्षणहीनया तूष्णी**मस्थायि**।.......अमात्यै**रभाणि**।.......विरोपितव्रणोऽ**कारि**।....कुमारं राज्ञे समर्प्या**वोचि**।

१८९. लुङ्. के एवंविध प्रयोग से पदों में विशेष लालित्य आ गया है। वे कोमल और हृदयावर्जक हो गए हैं। दण्डी का लुङ्. सामान्य भूत का निर्देशक है। वह अद्यतन, अनद्यतन और सुदूर भूत का द्योतक है। लुङ्. और लिट् के भी उचित प्रयोग किए गए हैं। सन्नन्त और इष्णुच् प्रत्यय के प्रयोग भी अपनी विलक्षण छटा दिखाते हैं।

आ. पदलालित्य

१९०. दण्डी अपने पदलालित्य के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। इस पदलालित्य की सृष्टि में वैदर्भी रीति, अनुप्रास, लुङ्. विभक्तियां, लिंग, कृदन्त और तद्धित प्रत्यय उन के सहायक बने हैं। उन के पदप्रयोगों में कर्णकटुता, काठिन्य, उच्चारणक्लिष्टता और अश्लीलता का अभाव है। उन में कोमलता, मसृणता, प्राञ्जलता, माधुर्य, प्रसाद और प्रवाह हैं। दण्डी के विकट बन्धों में भी इन गुणों का अभाव नहीं है। यथा—

१. तत्प्रथमावतीर्णकन्दर्पकारितकटाक्षदृष्टिस्तनुमार्गविलसितलीलान्वितभ्रूलता, श्वासानिलवेगान्दोलितैर्दन्तच्छदरश्मिजालैर्लीलापल्लवैरिव मुखकमलपरिमलग्रहणलोलानलीनस्ताडयन्ती..........

२. इष्टकूपतृष्णोत्पादनेनातिदूरव्यापारितानां प्राणहारिभिः क्षुत्पिपासाभिवर्धनैः, तृणगुल्मगुच्छच्छन्नतटप्रपातहेतुभिर्विषममार्गप्रधावनैः,....

३. अस्ति पुरा साम्बो नाम कश्चिन् महीवल्लभो मनोवल्लभया सह विहारवाञ्छया कमलाकरमवाप्य तत्र कोकनदकदम्बसमीपे निद्राधीनमानसं राजहंसं शनैर्गृहीत्वा बिसगुणेन तस्य.......

१११. पुष्यवर्मा, वसुमती आदि के वर्णनों में दण्डी का पद-लालित्य विशेष रूप में स्फुट हुआ है; पुष्यवर्मा के वर्णन में, लघु संवादों में और प्रणयचित्रण आदि में भाषा का बन्धन बहुत सरल, सुबोध, कोमल और हृदयहारी बना है।

६. शब्दचयन

११२. पदलालित्य की सृष्टि में शब्दचयन का विशेष योग है। दण्डी को संस्कृत शब्दकोष पर पूरा-पूरा अधिकार है। वे सुप्रयुक्त शब्दों का तो प्रयोग करते ही हैं, साथ ही नए पर्यायों की रचना करने में भी दक्ष हैं। ये मल्ल मल्ल, वीनोद्गमनीय, श्वोवनीय, नीवी (=मूलधन) शतह्रदा, अर्यवर्य, इभ्यकुमार, दर्वीकर, उदारक, अपमर्ष (=ज्वर), प्रगे-तन, वरिवस्यमान और एकपिंग जैसे अल्पप्रयुक्त अथवा अप्रयुक्त शब्दों का स्थल-स्थल पर प्रयोग करते हैं। सातवें उच्छ्वास के ओष्ठ्य वर्णों से हीन सुबोध, अपरिक्लिष्ट, लालित्य और सौंदर्य से सम्पन्न चित्रकाव्य की सृष्टि दण्डी के पदचयन में कौशल और भाषाधिकार का अनुपम उदाहरण है। भारवि, माघ आदि कवियों द्वारा रचित चित्रकाव्य रसहीन, काव्य में गड्डुभूत और रसिकों को उद्वेजक कहा जा सकता है, कुछ ऐसा मानते ही हैं, परन्तु दण्डी का यह निबन्धन इन समस्त दोषों से हीन और रस तथा भाव से समन्वित है।

उ. अलंकार

१९३. दण्डी ने शब्द और अर्थ—उभयविध अलंकारों की सुन्दर सृष्टि की है। इन अलंकारों से उन के वर्णन में वल, प्रखरता, हृदय-हारिता और अवबोध की मात्रा बहुत बढ़ गई है। इन की उपमाएं उपमान उपमेय आदि के सामञ्जस्य को प्रस्तुत करती हैं। उन में कालिदास आदि महाकवियों का—सा सौष्ठव पाया जाता है। इन की अलंकारयोजना काव्यरसास्वादान तथा कहानी के प्रवाह में कोई वाधा उपस्थित नहीं करती है। वह इन दोनों को तीव्रतर और सरस वना देती है। स्वप्न में कन्दुकवती को देख कर मित्रगुप्त उस के सौंदर्य से इतना मुग्ध हो जाता है कि वह उस के स्वरूप का निर्णय करने में समर्थ नहीं है। उस के मन में अनेकों कल्पनाएं उठती है——

"किमियं लक्ष्मीः। न हि न हि। तस्याः किल हस्ते विन्यस्तं कमलम्, अस्यास्तु हस्त एव कमलम्। भुक्तपूर्वा च सा पुरातनेन पुंसा पूर्तराजैश्च, अस्याः पुनरनवद्यमयातयामं च यौवनम्"।

कालिन्दी मातंग की प्रतीक्षा इसी प्रकार करती है जैसे चातकी वर्षाकाल की——"घनशब्दोन्मुखी चातकी वर्षागमनमिव तवालोकन-काङ्.क्षिणी चिरमतिष्ठम्।"

१९४. दण्डी ने दशकुमारचरित में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अर्थालंकारों, अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि शव्दालंकारों का वहुशः प्रयोग किया है। समासों में भी अलंकारों का प्रयोग पाया जाता है, यथा "कैलासकाशनीकाशमूर्त्या" में उपमा का प्रयोग किया गया है

ऊ. अवन्तिसुन्दरीकथा की शैली

१९५. जैसा पहले लिखा जा चुका है दण्डी की शैली और कवित्व का निखार अवन्तिसुन्दरीकथा में पाया जाता है। दशकुमारचरित के गुणों का यहां पूरा-पूरा विकास हुआ है। कहानीकला, चरित्रचित्रण,

पदलालित्य, वर्णनों का सौंदर्य आदि सब अपने उत्कर्ष पर हैं। इस कथा से सुव्यक्त हो जाता है कि दण्डी बाण के समान उच्च कोटि का गद्य लिखने में समर्थ हैं। इस कथा के नीचे दिए गए कतिपय सन्दर्भों से अवन्तिसुन्दरीकथा की शैली का अल्प सा आभास मिल सकेगा।

१ ....तरङ्गमयी भ्रूपताकयोः, इन्दीवरमयी नयनयुगे, रक्तोत्पलमयी दन्तच्छदे, कुमुदमयी ईषत्स्मितेषु.......अमृतमयी वचसि, प्रसादमयी मनसि, चक्रवाकमयी पयोधरयोः, आवर्तमयी नाभिरन्ध्रे, पुलिनमयी नितम्बतटेषु, पुष्करमयी पादतलयोः. अमर.......पभोगाय तीर्णा, मन्दाकिनीलीलाकरकान्तिरागप्राचुर्याणि, पञ्चैव महाभूतस्थाने निधाय निर्मितेव प्रजापतिना, प्रावृडिव घनगभीरस्तननाभिरमणी शरदिव सरसां कान्तिमुद्वहन्ती....... ... ...रोहिणीव बुधभावनस्य असुभ्योऽपि वल्लभा देवी वसुमती नाम।

२. कुसुमशरशरावलीष्विव विरहिजनहृदयदारिणीषु समन्ततः पतन्तीषु हंसमालासु वसुधाविभ्रमहेमचूर्णे रसनरेणुभिरभिनवमनसिजातुरास्विन्नसुभगा भुवनस्थलीषु...

३. प्रतिमुखस्थितकुवलयक्रोडादिवातिवामानामरज्यन्त लोचनानि। ....। न हि विवेकः क्षुभितस्य। जलमध्ये मौनमाचरन्तो मेखलाकलापाः स्थान एव गुणत्वं समर्थयांबभूवुः।

१९६. "अस्तु, इस में कोई सन्देह नहीं कि दण्डी काव्यशैली के एक बहुत बड़े आचार्य हैं। दशकुमारचरित जैसा जनप्रिय गद्यकाव्य संस्कृत-साहित्य में और कोई नहीं। वर्णनशक्ति का अपूर्व सौष्ठव, प्रभावोत्पादन और स्वभावसुन्दर रूपक और उपमाएं, कष्टसाध्य कल्पनाओं का अभाव, सब इस में विद्यमान हैं।" ×

२९. दशकुमारचरित में चरित्रचित्रण

१९७. ग्रंथ का विषय ही ऐसा है कि इस में चरित्रों के गम्भीर

× वेदव्यास संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९२६, पृ० ३२८

अध्ययन का अवसर ही नहीं। अतः कवि ने भी वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया है, चरित्रचित्रण पर कम। अतः दशों कुमारों के चरित्रों में दो चार गुणों की ही झलक मिलती है। राजवाहन ग्रन्थ के नायक हैं। ये युवक शिक्षित और सुन्दर हैं। ब्राह्मण की सहायता के लिए जाना इन के हृदय की स्वाभाविक सौम्यता का परिचय देता है। वीर होते हुए भी भाग्य में विहित होने के कारण अवन्तिसुन्दरी के संगम पर क्रुद्ध चण्डवर्मा द्वारा अपने वन्दी वनाए जाने को विना किसी विरोध के स्वीकार कर लेते हैं। कुमारों के चरित्रों की टिप्पणियों से उस की भद्रता और उदारता का झलक मिलती है। वह दूसरों के दोषों को प्रकट कर उन्हें दुःख नहीं देना चाहता। ये पिता के भक्त हैं और उन की आज्ञा मिलते ही पुष्पपुर को चल पड़ते हैं। वामदेव इन्हे सकल क्लेशों को सहन करने में समर्थ वताते हैं। जीवन की घटनाओं, विशेषतः पिंजरे में वन्द होने के काल के वृत्तों से इस की पुष्टि होती है। मातंग की दृष्टि में वह तेजस्वी और अमानुषशक्तिसम्पन्न है। कवि उसे लोकैकवीर कहता है। सोमदत्त के अनुसार वह सोमकुल का आभूषण और विशुद्ध यश की खान है। वालचन्द्रिका उसे सकल कलाओं में प्रवीण, युद्ध में निपुण तथा मणि मन्त्र और ओषधियों का ज्ञाता कहती है। वह स्वभाव से धीर, समस्त पौरुष की पराकाष्ठा और सहिष्णु है।

१९८. सोमदत्त बहुत वीर है। वह आपत्तियों में नहीं घबराता है। बुद्धि को स्थिर रखता है। वह साहसी है, पर आवेश में आ कर कुछ नहीं कर डालता है। अपने पराक्रम से ही वह अपने आप को मत्तकाल के वन्धन से मुक्त कर मानपाल से पूजा प्राप्त करने और युद्ध में जीत कर वामलोचना और युवराजपद का अधिकारी बनने में सफल होता है। यह स्वामिभक्त, शिष्ट, दयालु, योजनाओं में कुशल, तथ्यान्वेषी और अवसर का लाभ उठाने वाला है।

१६६. पुष्पोद्भव व्यापारपरायण, पत्नीप्रेमी, सिद्ध तापसों के कथनों में विश्वास रखने वाला, दुःख में घबरा जाने वाला, आत्मघात का प्रयास करने वाला, करुणाशील, माता पिता और स्वामी का भक्त तथा कर्त्तव्यशील है।

२००. अपहारवर्मा स्वामिभक्त और विश्वस्त मित्र है। वह कुशल, दूरदर्शी और सफल षड्यन्त्रकारी है। चौरकर्म, हाथी पर चढ़ने, द्वन्द्व तथा शस्त्रयुद्ध में कुशल है। वेशव्यवहार से उस का अच्छा परिचय मालूम पड़ता है। लोगों के अन्धविश्वास का वह पूरा-पूरा लाभ उठाता है। वह झूठ बोलने और धोखा देने में प्रवीण है।

२०१. उपहारवर्मा क्रियाशील, उत्साही और परदाररत है। वह तान्त्रिक कर्मकलाप तथा उस के खोखलेपन से परिचित है। उन की सहायता से वह विकटवर्मा की हत्या करने में तथा मन्त्रियों और प्रजा आदि में विश्वास जमाने में सफल हो जाता है। वह कामशास्त्र और स्त्रियों के मनोविज्ञान में प्रवीण है।

२०२. अर्थपाल शूरवीर युवा और कुशल योजक है। वह सर्पों के प्रकारों और विष के वेगों के तारतम्य को जानने वाला है। अतः ऐसे सर्प को चुनता है जिस का विष उस के पिता को अचेतन तो कर देता है, परन्तु मारने में समर्थ नहीं है। वह विषापनयन विद्या भी जानता है। सुरंग खोदने और अवसर को हाथ से न जाने देने वाला है। वह प्रलोभनों से विचलित नहीं होता है।

२०३. प्रमति सौम्यस्वभाव है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति भद्रता से करता है। वह मानता है कि वनदेवता हैं और वे बीहड़ वन में रात को सोते समय प्रार्थना किये जाने पर उस की रक्षा करते हैं। स्वप्न में ही वह प्रेमपाश में बन्ध जाता है। उसे मुर्गों की लड़ाई में रुचि है। कपटपूर्ण योजना बनाने में वह कुशल है। वेष बदलने, स्त्रियों के समान आचरण और व्यवहार करने में कुशल है। कन्या के रूप में

रहता हुआ भी वह राजकुमारी को अपने प्रेम में आवद्ध करने और अपने षड्यन्त्र में सम्मिलित करने में सफल हो जाता है। वह राजा का विश्वासपात्र है और युद्ध के लिए प्रस्थान करता है।

२०४. मित्रगुप्त वीर व्युत्पन्नमति है। वह विपत्ति में स्थिर रहता है। वन्दी वना कर समुद्र में फेंक दिए जाने पर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ता है। वह तैरना भी खूव जानता है। भीमधन्वा के आक्रमण पर वह अपने युद्धकौशल और पराक्रम से उसे वन्दी वना लेता है। वह आकाशयुद्ध में भी सिद्धहस्त है, अतः आकाशमार्ग से जाते हुए राक्षस को मारने में सफल होता है। वह लौकिक ज्ञान में भी कुशल है। कहानी कहने में प्रवीण है। राक्षस के प्रश्नों के उस के उत्तर वड़े सारगर्भित हैं और उन की पुष्टि में प्रदत्त कहानियां रोचकता, स्वाभाविकता और यथार्थता से पूर्ण हैं।

२०५. मन्त्रगुप्त साधनसम्पन्न साहसिक है। वह कनकलेखा को श्मशान में मंगाने वाले तान्त्रिक सिद्ध का वध वड़े कौशल से उसी के शस्त्र से कर उस के शिर को छिपा देता है और कालान्तर में उस से काम ले कर अपना इष्ट सिद्ध करता है। सिद्ध तपस्वी का रूप धारण कर तदनुरूप आचरण करने में वह महान् कौशल और धैर्य से काम लेता है। वह जल से भरे तालाव के तल में राजा जयसिंह को छल से वुला कर द्वन्द्व युद्ध में लात और घूंसों से मार कर सुरंग में छिपा देता है और सव की आंखों में धूल झोंक देता है।

२०६. विश्रुत एक चतुर प्रवन्धक और राजनीतिविशारद है। वह वाण से निशाना लगाने, तत्काल दीर्घकालव्यापी योजना वना कर उसे कार्यान्वित करने, विषविद्या, कापालिकरीति और वेषभूषा, नृत्य और संगीत आदि में कुशल है। उस की भुजाओं में विलक्षण शक्ति है, अतः वह दुर्गा की भारी प्रतिमा को भी उठा कर उस के नीचे से निकल आता है और उसे फिर अपने स्थान पर रख देता है। लोगों के अन्ध-

विश्वास को जानने के कारण वह उन्हें धोखा देने में सफल हो जाता है। प्रचण्डवर्मा के वध में विश्रुत की फुर्ती, धैर्य, साहस और मन की स्थिरता, भागने में चातुरी और वेग तथा राजद्वार से निकलने में बुद्धिमत्ता का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। नयवनस्पति के वर्णन, आर्यकेतु को अपने पक्ष में लाने और वसन्तभानु पर विजय में उस का राजनीतिज्ञान और दूरदर्शिता स्फुट रूप में सामने आती हैं।

२०७ दशकुमारों के अतिरिक्त और भी अनेकों व्यक्तियों का इस ग्रन्थ की कहानियों में योग है। उन का भी चरित्र कुछ-कुछ उन से सम्बन्धित घटनाओं में झलकता है। यथा राजहंस वीर, साहसी, असमीक्ष्यकारी, हठी और विपत्ति पड़ने पर घबराने वाला है। वामदेव के माध्यम से वह भाग्यवादी हो कर शान्त बैठ जाता है। मानसार युद्धप्रेमी, शिवभक्त और दयालु है। चण्डवर्मा, प्रचण्डवर्मा, विकटवर्मा और जयसिंह क्रूर, सौन्दर्य के प्रेमी, मूर्ख, कामपरायण और अन्ध-विश्वासी हैं। वर्दन विहारप्रिय है।

२०८. वामदेव सिद्धतपस्वी हैं। वे तीनों कालों के ज्ञाता और गम्भीर पुरुष हैं। उन की वाणी यथार्थ होती है। सत्यवर्मा धर्मशील और संसार को असार मानने वाले हैं। कामपाल दुर्विनीत, विट नट और वेश्याओं में आसक्त भूभ्रमणशील है। सुमित्र मित्रप्रेमी है। रत्नोद्भव चोर, द्वन्द्वयुद्धकुशल, षड्यन्त्री परन्तु संयमी, वाणिज्य में निपुण, समुद्र-पार व्यापार करने वाला, रमणीय गुणों की खान और मनोहारी है। मानपाल साहसी और स्वामिभक्त है। वीरकेतु डरपोक है; मत्तकाल कामी और क्रोधी वीर है।

२०९. स्त्रीपात्रों का चरित्र बहुत ही अल्प विकसित हुआ है। वसुमती परम सुन्दरी और पतिव्रता है। पति के अभाव में वह जीवित रहना नहीं चाहती है। वसुन्धरा सती है और अपने देवर के अनुचित व्यवहार का प्रत्याख्यान करती है तथा विश्रुत के षड्यन्त्र में पूरा-पूरा

सहयोग देती है। कालिन्दी नागकन्या है और मातंग की व्यग्र प्रतीक्षा करती है। उस के पहुंचने पर वह अपने को निवेदित कर देती है। बालचन्द्रिका कुशल सहेली और दूती है। दशकुमारों की पत्नियां सरल-स्वभाव और प्रथम दर्शन में ही व्यग्र प्रेमिकाएं बन जाती हैं। अवन्ति-सुन्दरी भुवनवृत्तान्त सुन कर नारी के स्वाभाव के प्रतिकूल वार्ता करती है।

२१०. संक्षेप में दण्डी का चरित्रचित्रण बहुत ही सीमित और अविकसित है। तो भी इन के प्रधान पात्र सजीव और यथार्थ हैं। उन के अप्रधान पात्र भी सजीव और वास्तविक प्राणी मालूम पड़ते हैं। उन के पात्रों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उन्हों ने अपने काव्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के चरित्रों का चित्र खींच कर पाठकों को मुग्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है। काव्य की लोकप्रियता ही उस के उद्देश्य की सफलता की द्योतक है।

३०. दण्डी के दोष

२११. फूल के साथ कांटा भी होता है। यह उक्ति दशकुमार-चरित पर खूब लागू होती है। यद्यपि यह गद्य काव्य प्रो० कीथ के 'The grace of the Kavya style applied to the folktale vivified by the genius of the writer' अर्थात् 'लेखक की मेघा से विकसित और जनकथाओं में प्रयुक्त काव्यशैली का सौन्दर्य' इन शब्दों का पात्र है तो भी सर्वथा निर्दोष नहीं है।

२१२. इस ग्रन्थ के भाग एक दूसरे से सुसम्बद्ध नहीं हैं। घटनाओं का जोड़ शिथिल है। वे एक निश्चित परिणाम की ओर ले जाने वाली नहीं हैं। परन्तु पुस्तक खण्डित दशा में उपलब्ध होती है। सम्भव है दण्डी के समस्त ग्रन्थ में यह दोष न हो।

२१३. सामान्यतः इस ग्रन्थ से अभिधा से कोई नैतिक उपदेश नहीं मिलता है। दण्डी ने संस्कृत साहित्य की रुचि के प्रतिकूल ग्रन्थ

को उपदेशात्मक और आदर्श न बना कर यथार्थ रखा है। वह पाप, बुराई और दोषों को देख उन्हें पाप, बुराई और दोष तो समझते हैं, पर उन को दूर करने का उपाय नहीं बताते। ऐसा अनुभव होता है कि 'दण्डी का उद्देश्य बोध नहीं है बल्कि रञ्जन है।' इस उद्देश्य में वह सफल हुए हैं।

२१४. दण्डी के इस सुविख्यात काव्य में सुरुचि का प्रायः अभाव है। कुमारों के चरित के वर्णन में अश्लीलता आ जाती है। वे प्रायः चोरी, परदारगमन और हत्या का प्रचुर प्रयोग करते हैं। इन कर्मों के सम्बन्ध में दण्डी के शब्द प्रशंसात्मक ही हैं। निन्दात्मक नहीं। परन्तु इस में दण्डी का ही सर्वथा दोष नहीं है। वह तो यथार्थ का चित्रण कर रहे थे। यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल में भारतीय राजाओं के अन्तःपुरों में ऐसे दृश्य प्रायः मिलते थे। लोगों का साधारण जीवन भी ऐसा ही था। जहां तक रुचि का प्रश्न है, वहां यही कहना है कि समाजों में नैतिक आचार और आदर्श समय-समय पर बदलते रहते हैं। एक बात किसी समय अच्छी समझी जाती है, दूसरे समय में वही बात बुरी हो जाती है। सम्भव है कि दण्डी के समय इस प्रकार की घटनाओं को बुरा न समझा जाता हो। ऐसी अवस्था में वे बिलकुल निर्दोष ठहरते हैं।

२१५. कुछ विद्वानों ने ध्वनि द्वारा इन कुरुचिपूर्ण वर्णनों में भी सुन्दर शिक्षाओं की सत्ता स्वीकार कर इस काव्य को भी चतुर्वर्ग की ओर ले जाने वाला बताया है। कुछ सीमा तक उन का यह निष्कर्ष माननीय हीं है।

२१६. प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं। इन में कुछ व्यक्ति निम्न कोटि के भी होते हैं। इन का रञ्जन हमारी कुरुचि में ही होता है। सम्भव है दण्डी ने अपनी अपरिपक्वावस्था में अथवा किन्हीं परिस्थितियों से बाधित हो कर अपने देश के तत्कालीन निम्न

कोटि के जनों के रञ्जन के लिए ही इस पुस्तक को लिखा हो। फिर परिपक्व और प्रौढ़ावस्था में राज्य का आश्रय होने से आदर्श में परिवर्तन आ गया हो, जिस के कारण काव्यादर्श में सुरुचिविषयक कुछ नियम भी आचार्य ने दे दिये। आज उपन्यास आदि के क्षेत्र में सुरुचि और कुरुचि पूर्ण—दोनों प्रकार की रचनाएं होती हैं और वे पर्याप्त सफल भी होती है।

२१७. यह सम्भव है कि 'त्रयो दण्डिप्रबन्धा विश्रुताः' इत्यादि में दण्डी के अनेकों ग्रन्थों में सब से प्रसिद्ध तीन की ओर ही संकेत हो और उन तीन में दशकुमारचरित का बिलकुल भी निर्देश न हो। यह भी असम्भव नहीं कि दण्डी ने इस ग्रन्थ को यथार्थ के चित्रण के, जनता की कुरुचिपूर्ण मनोवृत्ति, राजकुमारों की कामवासना और दुर्गुणों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में सब को सचेत करने के प्रयोजन से रचा हो। जैसा आगे उद्भावित दण्डी के चरित्र से आभास मिलेगा, दण्डी के वर्णनों को तत्कालीन विश्वासों, प्रचलनों और व्यवहारों आदि पर कटाक्ष अभिप्रेत है।

३१. दण्डी की काव्यकला

२१८. निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि दण्डी की कथाओं में प्रवाह है। उन के आनुषङ्गिक वर्णनों और कथानक में उचित सन्तुलन बना रहता है। उन के हास्य और व्यंग्य शिष्ट हैं। दण्डी की काव्यकला में यथार्थ और आदर्श का अद्भुत समन्वय है। चुभते चित्रण मन को तूबला खींचते हैं। उन की रसानुकूल शब्दयोजना, मंजी हुई सरल और सुबोध भाषा तथा प्रसादमयी अकृत्रिम शैली इस को सरलता से आस्वादन के योग्य बना देती हैं। कहीं-कहीं व्याकरण के कुछ दोषों के मिलने पर भी वे सरल और रोचक संस्कृत गद्य का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उस के पदलालित्य की प्रशंसा यथार्थ है, वस्तुतः वे कवियों में अनूपम स्थान के अधिकारी है—

"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।"

३२. दण्डी और बाण की तुलना

२१९. बाण के काव्य का उत्कर्ष कादम्बरी में मिलता है और दण्डी का दशकुमारचरित में। दोनों गद्यलेखक होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। दण्डी में बाण की महानुभावता, गम्भीरता और आदर्श-परायणता नहीं हैं। यदि कादम्बरी नैतिक आदर्श को सामने रख कर उद्दाम यौवनोन्माद की गर्हा करती हैं तो दण्डी उस यौवन के नीचतम स्वरूप को चित्रित करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करते हैं। उन के ग्रन्थ में सुरुचि और उपदेशों का पूर्ण अभाव हैं।

२२० दोनों की शैली में महान् अन्तर है। बाण की पदावली सुरुचिर, रस और भाव से पूर्ण, समासबहुला, श्लेष और विरोधाभास आदि से अलंकृत, ओजस्वी और झंकारमयी है। परन्तु दण्डी में न तो यह ओजः है न समासबहुलता। अलंकारों की छटा भी बाण की छटा से अवर है। भले ही उस के पदलालित्य की सराहणा की जाए, परन्तु बाण बाण ही है। दण्डी में बाण के समान वर्णनशक्ति नहीं है। बाण के शब्दचित्र सजीव ओजस्वी और प्रभावशाली हैं, परन्तु दण्डी में इतनी क्षमता नहीं है। तो भी दण्डी बाण से आगे बढ़ जाते हैं। उन का कथानक सप्रवाह है। उस में कोई बाधा नहीं। परन्तु बाण में इस गुण का अभाव खटकता है। दण्डी ने वर्णन के अनुचित लालच का त्याग किया है। उसे भाषा पर पूर्ण अधिकार है। दशकुमारचरित के सप्तम उच्छ्वास में कवि ने अपने शब्दाधिकार का अनुपम परिचय दिया है। इस में ओष्ठ्य वर्णों का सर्वथा अभाव है। परन्तु फिर भी स्वाभाविकता का परित्याग नहीं हो पाया है। बाण में शब्दसमृद्धि होते हुए भी ऐसी भव्य पदरचना का उदाहरण ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा।

२२१. कथानक के गठन में बाण दण्डी से आगे है। बाण के कथानक में दुरूहता होने पर भी शिथिलता नहीं है। दण्डी के कथानकों का सम्बन्ध बड़ा शिथिल है।

२२२. व्याकरण के नियमों के प्रयोग में बाण सिद्ध हैं। दण्डी के काव्य में अनेकों अशुद्धियां मिलती हैं। अनेक स्थानों पर पाठ का भ्रष्ट हो जाना ही कारण है। कुछ अन्य व्याकरण के व्यायाम–लुङ् का अनेक वाच्यों में और णिजन्त में, सन्नन्त और इष्णुच् प्रत्यय का प्रयोग–इन के वाच्यों को परम सुन्दर बना देते हैं। अवन्तिसुन्दरीकथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दण्डी भी बाण जैसा काव्य लिख सकते थे।

२२३. संक्षेप में दोनों महान् कवि हैं। दोनों प्रकाण्ड विद्वान् हैं। परन्तु गुणों में दशकुमारचरित की अपेक्षा कादम्बरी की श्रेष्ठता स्वीकार करने के लिये हमें बाध्य होना ही पड़ता है।

३३. दण्डी के चरित्र की उद्भावना

२२४. इस समस्त विवेचन के आधार पर दण्डी के चरित्र और भावनाओं का कुछ अनुमान किया जा सकता है। निःसन्देह वे बहुश्रुत थे। वे अपने युग की उन सभी विद्याओं में प्रवीण थे, जो उन्हों ने कुमारों की शिक्षा में गिनाई हैं। वे राजनीति, चौरकर्म, द्यूत, परदार-गमन, हत्या, छल–कपट, मनोविज्ञान, नृत्त, संगीत आदि कलाओं, विभिन्न धर्मों के ज्ञान और कर्मकाण्ड आदि में प्रवीण थे। प्रत्युत्पन्न-मति, अन्धविश्वासों की खिल्ली उड़ाने वाले, क्षपणक साधुओं के अनति प्रशंसक, मन्दिरों और मूर्तिपूजा से विमुख और तान्त्रिक क्रियाकलापों के उच्छेद के इच्छुक मालूम पड़ते हैं। वे वेश्याओं के आवासों, उन के व्यवहारों और हृदयशून्यता से सुपरिचित थे। संसार के सुखोपभोग– प्रवृत्ति मार्ग को त्याग कर निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले मुनियों से उन का मतभेद था। संभव है कि समुद्रयात्रा भी इन्हों ने की हो। देश के भीतर वे समस्त दक्षिण और उत्तर भारत में घूमे होंगे। वे प्रत्य-भिज्ञान शैव दर्शन के अनुयायी और विष्णु को असहिष्णु मानने वाले रहे होंगे। वे यथार्थ द्वारा ही आदर्श को अभिव्यक्त कर हृदयंगम कराने में विश्वास रखते थे।

पाठक की टिप्पणियां

दशकुमारचरिते

अष्टम उच्छ्वासः

विश्रुतचरितम्

[आमुखम्–भास्करवर्मणा सम्मिलनम्]

१. अथ सोऽप्याचचक्षे—'देव' मयापि परिभ्रमता विन्ध्याटव्यां कोऽपि कुमारः क्षुधा तृषा च क्लिश्यन्नक्लेशार्हः क्वचित् कूपाभ्याशेऽष्टवर्षदेशीयो दृष्टः। स च त्रासगद्गदमगदत्।—

[भास्करवर्मविपत्प्रतिकारः]

२. 'महाभाग, क्लिष्टस्य मे क्रियतामार्य साहाय्यकम्। अस्य मे प्राणापहारिणीं पिपासां प्रतिकर्तुमुदकमुदञ्चन्निह कूपे कोऽपि

अथ विश्रुतचरितस्य सुबोधिनी भावप्रकाशिका टीका

१. इदानीं विश्रुतः स्वकीयां कथां कथयति– अथेति—सः विश्रुतः आचचक्षे कथितवान्। विन्ध्याटव्यां विन्ध्यवने। क्षुधा बुभुक्षया। तृषा पिपासया। क्लिश्यन् पीडामनुभवन्। अक्लेशार्हः दुःखानाम् अभाजनम्। कूपस्य जलागारस्य अभ्याशे समीपे। अष्टवर्षदेशीयः असमाप्ताष्टवर्षः, अष्टमे वर्षे वर्तमानः इति भावः। त्रासः भयः, तेन गद्गदः विह्वलः पीड़ितः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा। क्रियाविशेषणमिदम्।

२. महाभागेति—महाभाग महानुभाव, श्रीमन्। क्लिष्टस्य दुःखितस्य। सहायस्य भावः साहाय्यकम्, तत्। सहायताम् इत्यर्थः। प्राणापहारिणीम्; प्राणानपहर्तुं शीलं यस्याः, तां जीवितनाशिनीम्। पिपासां तृषां जलेच्छाम्। प्रतिकर्तुम् अपनेतुम्। उदकं जलम् उदंचन् निष्कासयन्।

निष्कलो ममैकशरणभूतः पतितः। तमलमस्मि नाहमुद्धर्तुम्' इति। अथाहमभ्येत्य व्रतत्या कयाऽपि वृद्धमुत्तार्य तं च बालं वंशनाली-मुखोद्धृताभिरद्भिः फलैश्च पञ्चषैः[1] शरक्षेपोच्छ्रितस्य [2]लकुच-वृक्षस्य शिखरात् पाषाणपातितैः प्रत्यानीतप्राणवृत्तिमापाद्य, तरुतलनिषण्णस्तं जरन्तमब्रवम्—

[भास्करवर्मविषये प्रश्नः]

३. 'तात, क एष बालः, को वा भवान्, कथं चेयमापदा-पन्ना' इति।

[पुण्यवर्मवर्णनम्]

४. सोऽश्रुगद्गदमगदत्—'श्रूयतां महाभाग। विदर्भो नाम जनपदः। तस्मिन् भोजवंशभूषणम्, अंशावतार इव धर्मस्य,

---

निष्कलो वृद्धः। एकशरणभूतः एकमात्रसहायः। अलं शक्तः, समर्थः। उद्धर्तुं कूपात् निष्कासयितुम्। अथाहमिति—अभ्येत्य कूपसकाशं गत्वा। व्रतत्या लतया रज्जुरूपेण प्रयुक्तया। उत्तार्य कूपात् निष्कास्य। वंशनालीमुखेन वेणुद्वारा उद्धृताभिः उदञ्चिताभिः। अद्भिः जलैः। पञ्चषैः पञ्चभिः षड्भिर्वा, कतिपयैरिति भावः। शरक्षेपात् बाणगमनात् अपि उच्छ्रितस्य उन्नतस्य। पाषाणपातितैः पाषाणैः प्रस्तरखण्डाघातैः अधस्तात् आनीताभिः। प्रत्यानीता परावर्तिता प्राणानां वृत्तिः जीवनस्थि-तिर्यस्य, तम्। निषण्णः उपविष्टः। जरन्तं तं वृद्धम्। अब्रवम् अपृच्छम्।

३. तातेति—तात प्रिय। पदमिदमद्यतन'-डियर'-प्रियमित्रादि-सम्बोधनानां पर्यायः। इयं वनागमनकूपपतनादिरूपा। आपद् कष्टम्। आपन्ना आगता, प्राप्ता।

४. स इति—अश्रुभिः वाष्पैः गद्गदः हर्षयुक्तः, 'यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा। जनपदः देशः वंशभूषणं कुलालंकारः। अंशावतारः सर्वासु

---

१. चतुःप०   २. लिकुच०

अतिसत्त्वः, सत्यवादी, वदान्यः, विनीतः, विनेता प्रजानाम्, रञ्जितभृत्यः, कीर्तिमान्, उदग्रो बुद्धिमूर्तिभ्याम्[3], उत्थानशीलः, शास्त्रप्रमाणः[4], शक्यभव्यकल्पारम्भी, संभावयिता बुधान्, प्रभावयिता सेवकान्, उद्भावयिता बन्धून्, न्यग्भावयिता शत्रून्, असंबद्ध-

---

कलासु एकस्या एव कलाया अवतारः शरीरी रूपः। अत्र पूर्णावतारस्य निषेधोऽभिप्रेतः। धार्मिक इति भावेऽयं वाक्यांशः पर्यवस्यति। अति-सत्त्वः महान् बलवान्। केचनास्यार्थं 'सत्त्वगुणप्रधानः' इत्यपि गृह्णन्ति। परं पूर्वमचिरमेव 'धर्मस्यांशावतारः' इति वचनबलाद् अयं भावो नास्मभ्यं रोचते। वदान्यः उदारः, महान् दाता इति भावः। विनीतः विनम्रः, शिक्षितो वा। विनेता शिक्षकः। रंजिताः प्रसादिताः भृत्याः दासाः येन सः। उदग्रः उन्नतः। मूर्तिः शरीरम्। उत्थानशीलः प्रयत्नशीलः। बाल-बोधिनी पदमिदं बुद्धिमूर्तिभ्यामित्यनेन योजयति। शास्त्रप्रमाणः शास्त्राणि वेदादीनि प्रमाणं यस्य सः। शक्येति—शक्यः स्वसाध्यः भव्यः कल्याण-कारी च तादृशः कल्पः विधिः शास्त्रप्रतिपादितं कर्म, तस्य आरम्भः, तच्छीलः। एतादृशां कर्मणां कर्त्ता इति भावः। तथा चाह दिवाकरः—

> "शक्यं तु सुकरं कर्म भव्यं तु जनलालितम्।
> कल्पं युक्तं न भङ्गेन सदैवैष समाचरेत्॥"

संभावयिता धनमानादिप्रदानेन आदरं कुर्वाणः। प्रभावयिता सेवका-नाम् अभ्युदयस्य कर्ता। सर्वान् प्रभावयितुमात्मवश्यान् कर्तुं समर्थ इति वा। 'प्रभुत्वं कारयिता' इति भूषणा। उद्भावयिता उन्नतिं प्रापयिता। न्यग्भावयिता वशीकर्त्ता। असंबद्धाः 'प्रसंगादिवियुक्ताः क्रमहीनाः परस्परमसंगताः प्रलापाः, निरर्थकवचनानि। अदत्तकर्णः न दत्तः कर्णः येन सः, अशृण्वन् इति यावत्। अवितृष्णः न विगता तृष्णा यस्मात्सः,

---

३. मूर्तिबुद्धिभ्याम् ४. ० प्रमाणकः

प्रलापेष्वदत्तकर्णः, कदाचिदप्यवितृष्णो गुणेषु, अतिनदीष्णः कलासु, नेदिष्ठो धर्मार्थसंहितासु, स्वल्पेऽपि सुकृते सुतरां प्रत्युपकर्ता, प्रत्यवेक्षिता[५] कोशवाहनयोः, यत्नेन परीक्षिता सर्वाध्यक्षाणाम्, उत्साहयिता कृतकर्मणामनुरूपैर्दानमानैः, सद्यः प्रतिकर्ता दैवमानुषीणामापदाम्, षाड्गुण्योपयोगनिपुणः, मनुमार्गेण

तृष्णासहितः, सस्पृहः। नदीष्णः कुशलः। कलासु कामसूत्रादिषु वर्णितासु गीतवाद्यनृत्यालेख्येन्द्रजालहस्तलाघवकाव्यसमस्यापूरणवास्तुविद्याछन्दोज्ञानद्यूतादिचतुःषष्टिकलासु। नेदिष्ठेति—नेदिष्ठः समीपगतः, पारंगत इत्यर्थः। धर्मार्थसंहितासु धर्मशास्त्रे, अर्थशास्त्रे च। प्रत्यवेक्षिता शोधकः। भूषणमतेन तु प्रत्यवसिता उपभोक्ता। कोशः धनराशिः। वाहनम् अश्वादिकम्। राज्यस्थित्यै प्रकृतिभूते इमे द्वे। सर्वाध्यक्षाणां कौटिल्यादिभिर्दण्डनीत्याचार्यैर्वर्णितानां सुवर्ण-कोष्ठागार-पण्यकुप्यायुधागार-शुल्क-सूत्र सीता-सुरा-सूना-गणिका-नौ-गोऽश्व-हस्ति-रथ-पत्ति-मुद्रा-विवीतादीनां विविधविभागानां प्रधानाधिकारिणाम्। उत्साहेति—उत्साहयिता पारितोषिकप्रदानादिना उत्साहवर्धकः। कृतकर्मणां कर्मणां सम्पादयितॄणाम्। यदि राजानः कर्मशीलानां कुशलानां कर्मचारिणामुत्साहं न वर्धयेयुः, ते कर्मचारिणः गच्छति काले कर्त्तव्यकर्मसु शिथिलाः प्रमादिनश्च जायन्ते। प्रतिकर्त्ता प्रतिकारस्य विधाता। दैवेति—अग्निजलोपप्लवरोगदुर्भिक्षादयो दैवापदः, चौरशत्रुदुष्टराजपुरुषादयो मानुषापदः, तासामुभयविधानामापदां विपत्तीनाम्। षाड्गुण्येति—विदेशनीतौ प्रयुक्ताः सन्धिविग्रहयानासनभेदाश्रया उपायाः षाड्गुण्यं कथ्यन्ते। षाड्गुण्यस्य उपयोगे प्रयोगे निपुणः कुशलः। चतुर्वर्णानां पद्धतिः मनुना मनुस्मृतौ—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत॥

५. प्रत्यवसिता

प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य, पुण्यश्लोकः, पुण्यवर्मा नामासीत् । स पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य[६] पुरुषायुषम्, पुनरपुण्येन प्रजानामगण्यतामरेषु ।

[अनन्तवर्मा]

५. तदनन्तरमनन्तवर्मा नाम तदायतिरवनिमध्यतिष्ठत् । स सर्वगुणैः समृद्धोऽपि दैवाद् दण्डनीत्यां नात्यादृतोऽभूत् ।

[वसुरक्षितोपदेशः]

६. तमेकदा रहसि वसुरक्षितो नाम मन्त्रिवृद्धः, पितुरस्य बहुमतः, प्रगल्भवागभाषत—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कर्म कृषिमेव च ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥"

इति श्लोकेषु दशमेऽध्याये च निरूपिता । चत्वारः वर्णाः, चतुर्वर्णाः, तेषां भावः, तस्य । पुण्यश्लोकः पुण्यकीर्तिः । पुरुषस्य आयुः शतवर्षपरिमितं श्रूयते—जीवेम शरदः शतमिति । अपुण्येन पापेन, दुर्भाग्येन इति यावत् । अगण्यतामरेषु मृतः ।

५. तदनन्तरेति—तस्य आयतिः सन्तानः, पुत्र इत्यर्थः । 'तदायतिस्तस्मात् पुण्यवर्मण आयतिः प्रभावो यस्येति स तथा' इति पदचन्द्रिका । अवनिं विदर्भराज्यम् । दण्डनीतिज्ञानहीना नृपा नश्यन्ति, तथापि अनन्तवर्मा दण्डनीतिमुपैक्षत । दण्डनीतिः राजनीतिः ।

६. तमेति—रहसि एकान्ते । राजानः रहस्यविषयेषु एकान्त एव

---

६. प्राप्य

७. 'तात, सर्वैवात्मसंपदभिजनात्प्रभृत्यन्यूनैवात्रभवति लक्ष्यते। बुद्धिश्च निसर्गपट्वी कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु च काव्यविस्तरेषु प्राप्तविस्तारा तवेतरेभ्यः प्रतिविशिष्यते। तथाऽप्यसावप्रतिपाद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः। बुद्धिशून्यो[7] हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं

निवेदनीयाः। मन्त्रिषु वृद्धः मन्त्रिवृद्धः। अथवा मन्त्री चासौ वृद्धश्चेति, प्रगल्भा विदग्धा प्रौढ़ा कुशला वा वाक् वचनं यस्य सः।

७. तातेति—आत्मसम्पत् पुरुषगुणाः। गुणाः एते—

"शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता।
उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लेशसहिष्णुता॥
प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता।
कुशलं शीलं दमश्चेति गुणाः संपत्तिहेतवः॥"

इति श्लोकद्वये वर्णिताः सन्ति। दण्डिना तु अभिजनादयो गुणाः आत्मसम्पद्रूपेण गृहीताः प्रतीयन्ते। अभिजनात् जन्मनः। कुलक्रमानुसारेणेति बालबोधिनी। अन्यूना अनल्पा अहीना वा। निसर्गात् स्वभावात् पट्वी पटुः। चित्रेषु विविधरूपेषु विस्तारः विस्तृतत्वम्। प्राप्तविस्तारा लब्धप्रसरा। इतरेभ्यः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः। प्रतिविशिष्यते श्रेष्ठा वा विशिष्टा वास्ति। असौत व बुद्धिः। अप्रतीति—न प्रतिपद्य अप्रतिपद्य। न प्राप्य। आत्मनः संस्कारः, तम्। अर्थशास्त्रं दण्डनीतिशास्त्रम्। अस्मिन् राजस्वविषयस्यापि समावेशः। अर्थशास्त्रज्ञानहीन इत्यर्थः। न अग्निना अनलेन शोधिता तप्त्वा परिष्कृता। हेमजातिः सुवर्णम्। बुद्धिः दण्डनीतिज्ञानविहीना प्रज्ञा। अत्युच्छ्रितः अत्युन्नतः। परैः शत्रुभिः। अध्यारुह्यमाणम् अभिभूयमानम्। न चेतयते नाववोधति। साध्यमुद्दिष्टं

---

७. ०हीनो

साधनं वा विभज्य वर्तितुम् । अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते । न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय[8] । अतिक्रान्तशासनाश्च प्रजा यत्किंचनवादिन्यो यथाकथंचिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकिरेयुः । निर्मर्यादश्च लोको लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं च भ्रंशयते ।

कर्म । साधनं तत्सिद्ध्युपायाः । अथवा साध्यं विपक्षभूतं, साधनं स्वपक्षभूतम् । विभज्य पृथक्कृत्वा, विविच्य । वर्तितुं प्रयोक्तुं व्यवहर्तुम् । अयथेति–अयथा वृत्तः न यथा सम्यक् उचिते मार्गे वा वृत्तः व्यवहारपरायणः । प्रतिहन्यमानः आक्रान्तः सन् । स्वपक्षस्थैः आत्मीयैः पुरुषैः । परैः शत्र्वादिभिः । परिभूयते तिरस्क्रियते, आत्मसात् क्रियते । अवज्ञातस्य परिभूतस्य, अधःकृतस्य वा । योगः अप्राप्तस्य लाभः, क्षेमः लब्धसंरक्षणम् ।

"अप्राप्तप्रापणं योगः क्षेमः प्राप्तस्य रक्षणम् ।
द्वयं च साधयेद् भूपः प्रजानां विधिवत्प्रदः ॥"

तयोः आराधनाय साधनाय । अतिक्रान्तम् उल्लंघितं शासनम् आदेशः याभिस्ताः । शासनमुल्लङ्घ्य उद्दण्डाः जाताः इति यावत् । यत् किंचन वदितुं शीलं यासां, ताः अनियन्त्रितभाषिण्यः । यथा कथंचित् स्वैरं वर्तिन्यः व्यवहरन्त्यः । स्थितीः मर्यादाः । संकिरेयुः भग्नाः संकीर्णाः वा कुर्युः । निर्मर्यादः भग्नस्थितिः उच्छृंखलः । लोकः जनता । उभाभ्याम् इहपरलोकाभ्यां भ्रंशयते पातयति—

"अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किंचित् किल्बिषं प्रजाः ।
तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान् ॥"

इति याज्ञवल्क्यः । मर्यादासंकरस्तु । कामन्दकेनैवं वर्णितः—

"अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिंगिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते ॥

---

८. क्षेमसाधनाय ।

आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा । दिव्यं हि चक्षुर्भूतभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति । तेन हीनः सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात् । अतो विहाय वाह्यविद्यास्वभिषङ्गमागमय दण्डनीतिं कुलविद्याम् । तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्' इति ।

स्वर्गानन्त्याय धर्मोयं सर्वेषां वर्णलिङ्गिनाम् ।
तस्याभावे च लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात् ॥
सर्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः संप्रवर्तकः ।
तस्याभावे धर्मनाशस्तदभावे जगच्च्युतिः ॥"

चाणक्यस्याप्युक्तिरेवम्—

"राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
लोकास्तमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ॥"

आगमेति—आगम एव दीपस्तेन दृष्टेन; शास्त्रावलोकितेन इति भावः । अध्वना पद्धत्या । लोकयात्रा लोकस्थितिः, जीवनव्यवहारो वा । दिव्यं शास्त्रज्ञानालोकपूर्णम् । व्यवहिताः व्यवधानयुताः; गूढा इत्यर्थः । विप्रकृष्टाः दूरे वर्तमानाः परोक्षाः, ते आदौ येषां, तेषु । न प्रतिहता अनवरुद्धा वृत्तिः प्रचारः यस्य तत्; अकुण्ठितप्रचारम् । **तेनेति**—तेन शास्त्रेण । सतोः विद्यमानयोः । आयते दीर्घे च विशाले महन्ती च, तयोः । अर्थदर्शनेषु स्थितिव्यवहारादिज्ञानेषु । वाह्यविद्यासु राजनीतिव्यतिरिक्तासु संगीतादिविद्यासु । अभिषङ्गम् आसक्तिम् । आगमय आत्मनात्मानं प्रापयेति भावः । कुलविद्यां कुलाय त्वद्राजकुलाय उपयुक्तां विद्यां ज्ञानम् । सः अर्थः तदर्थः राजनीतिविद्या, तस्य अनुष्ठानेन सम्पादनेन । आवर्जिता प्राप्ता शक्तीनां सिद्धिः येन सः । अथवा, आवर्जिते शक्तिः सिद्धिः च येन सः । शक्तिः सामर्थ्यं, सिद्धिः कार्ये साफल्यम्, अस्खलितशासनः अनुल्लङ्घिताज्ञः । शाधि शासनं कुरु; राज्यं रक्षेति भावः । उदधिः समुद्रः एव मेखला काञ्ची यस्याः, ताम् । उर्वीं भूमिं विदर्भदेशम् ।

[विहारभद्रस्य वर्णनम्]

८. एतदाकर्ण्य 'स्थान एव गुरुभिरनुशिष्टम् । तथा क्रियत' इत्यन्तःपुरमविशत् । तां च वार्तां पार्थिवेन प्रमदासंनिधौ प्रसङ्गे-नोदीरितामुपनिशम्य समीपोपविष्टश्चित्तानुवृत्तिकुशलः, प्रसाद-वित्तो गीतनृत्यवाद्यादिष्ववाह्यो वाह्यनारीपरायणः, पटुरय-न्त्रितमुखः, वहुभङ्गिविशारदः, परमर्मान्वेषणपरः, परिहासयिता, परिवादरुचिः, पैशुन्यपण्डितः, सचिवमण्डलादप्युत्कोचहारी,

---

८, एतदिति—एतद् वसुरक्षितवचनम् । स्थाने उचितम् । अव्ययमेतत् । गुरुभिः पितृतुल्यैः मन्त्रिवृद्धैर्भवद्भिः । अनुशिष्टम् उपदिष्ट-मादिष्टं वा । प्रमदानाम् नारीणाम् अन्तःपुरस्त्रीणां सन्निधौ समीपे पुरतः । उदीरितां कथिताम् । चित्तानुवृत्तिकुशलः चित्तस्य मनसः अनुवृत्तिः अनु-वर्तनं मनोभावः, तत्र कुशलः प्रवीणः । प्रसादवित्तः राज्ञः अनन्तवर्मणः प्रसादेन अनुग्रहेण वित्तः प्रसिद्धः ख्यातः सुविदितः । अथवा राज्ञः प्रसादः एव वित्तं धनं यस्य सः; राज्ञः कृपापात्रम् । राज्ञः प्रसादेन वित्तं धनं यस्येति वा । अवाह्यः प्रवीणः । वाह्यनारी परस्त्री, तासु परायणः रतः। अथवा वाह्यनारी वेश्या । अयन्त्रितमुखः असंयतवचनः यत्किञ्चि-द्वादी । वह्वीषु भङ्गिषु वक्रभाषणेषु विशारदः प्रवीणः । परस्य अन्यस्य मर्माणि रहस्यानि छिद्राणि वा, तेषामन्वेषणे अनुसंधाने परः रतः । परि-वादे निंदायां रुचिर्यस्य सः । 'विद्यमानदोषस्याभिधानं परीवादः अविद्यमा-नदोषाभिधानं निन्दा' इति कुल्लूकभट्टः । पैशुन्यं पृष्ठतः दोषाविष्करणं, खलत्वमिति भावः । तत्र पण्डितः बुद्धिमान् । पण्डा अस्य जाता इति पण्डितः । सचिवानां मन्त्रिणां मण्डलं चक्रं, तस्मात् । उत्कोचः गुप्तरूपेण अन्यस्य उचितानुचितकर्मकरणाय धनादेः प्राप्तिः; 'रिश्वत, घूस' इति भाषायाम् । तस्य हारी, तं हर्तुं शीलं यस्येति वा । सकलस्य समस्तस्य

सकलदुर्नयोपाध्यायः, कामतन्त्रकर्णधारः, कुमारसेवको विहारभद्रो नाम स्मितपूर्वं व्यज्ञापयत्*—

[विहारभद्रोपदेशः—पुरोहितनिन्दा]

९. "देव, दैवानुग्रहेण यदि कश्चिद् भाजनं भवति विभूतेस्तमकस्मादुच्चावचैरुपप्रलोभनैः कदर्थयन्तः स्वार्थं साधयन्ति धूर्ताः । तथाहि । केचित्प्रेत्य किल लभ्यैरभ्युदयातिशयैराशामुत्पाद्य मुण्डयित्वा शिरो बद्ध्वा दर्भरज्जुभिरजिनेनाच्छाद्य नवनीतेनोपलिप्यानशनं च शाययित्वा सर्वस्वं स्वीकरिष्यन्ति । तेभ्योऽपि घोरतराः पाषण्डिनः[६] पुत्रदारशरीरजीवितान्यपि

दुर्नयस्य दुष्टव्यवहारस्य उपाध्यायः शिक्षकः । कामतन्त्रे कामशास्त्रे कर्णधारः नाविकः, कामशास्त्रज्ञ इति भावः । कुमारसेवकः कुमारावस्थायाः प्रभृति सेवकः । स्मितं पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा ।

९. देवेति—दैवस्य भाग्यस्य अनुग्रहेण कृपया । भाजनं पात्रम् । विभूतेः समृद्ध्याः । उच्चावचैः उदक् च अवाक् च उच्चावचं, तैः अनेकैः । कदर्थयन्तः पीडयन्तः तिरस्कुर्वन्तो वा । 'निन्दयन्तः' इति पदचन्द्रिका । प्रेत्य मृत्योरनन्तरम् । लभ्यैः प्राप्तुं योग्यैः । अभ्युदयातिशयैः लोकोत्तरसमृद्धिभिः । अजिनेन मृगचर्मणा । यज्ञकर्मणि अजिनधारणमनिवार्यम् । कर्मभेदेन चर्मधारणविधानमपि भेदं सहते । यथोपनयने 'ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य । रौरवं राजन्यस्य । आजं गव्यं वा वैश्यस्य" इति पारस्करः । शिरोमुण्डनादि सर्वमत्र वर्णितं कर्म दीक्षासंस्कारं निर्दिशति । अनशनं निराहारम् । सर्वस्वं सर्वमर्थजातम् । पापण्डिनः दुष्टाः । 'असंबद्धवादिन' इति पदचन्द्रिका, 'सर्वतोपभ्रष्टाः सर्ववेषधराः' इति भूषणा । पुत्राः सूनवः दाराः पत्न्यः स्त्रियो वा शरीरं देहं जीवितं प्राणाः, तानि ।

---

*व्यज्ञपयत् ६. पाखण्डिनः

मोचयन्ति। यदि कश्चित् पटुजातीयो नास्यै मृगतृष्णिकायै हस्तगतं त्यक्तुमिच्छेत्, तमन्ये परिवार्याहुः—

[नयज्ञनिन्दा]

१०. 'एकामपि काकिणीं कार्षापणलक्षमापादयेम, शस्त्राहृते सर्वशत्रून् घातयेम, एकशरीरमात्रमपि[10] मर्त्यं चक्रवर्तिनं विदधीमहि, यद्यस्मदुद्दिष्टेन मार्गेणाचर्यते' इति। स पुनरिमान् प्रत्याह—'कोऽसौ मार्गः' इति।

सर्वस्वत्यागेनैव परमं पुण्यं भवतीति कथयित्वेति यावत्। पटुजातीयः तत्त्वज्ञसदृशः। जातीयर्-प्रत्ययः प्रकारवचने प्रयुज्यते। मृगतृष्णिकायै मृगमरीचिकायै, अलीकाशायै इति भावः। परिवार्य परिवेष्ट्य।

१०. एकामिति—काकिणी विंशतिः वराटकाः, ताम्। कार्षापणः मुद्राभेदविशेषः। 'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः' इति मनुः। तेषां लक्षम्। आपादयेम विदधीमहि। शस्त्रादिति—शस्त्रास्त्रादिकम् अप्रयुज्य युद्धं विना राजनीतिप्रयोगेणैव शत्रून् नाशयितुं समर्था वयमिति भावः।

एकशरीरेति—एकशरीरमात्रम् एकाकिनम्। चक्रवर्तिनं मनुष्यसमूहवर्तिनम्। चक्रे भूमण्डले वा वर्तते प्राधान्येन चरतीति वा, सार्वभौमनृपमित्यर्थः। अस्मदुद्दिष्टेन अस्माभिरुपदिष्टेन नयमार्गेण। नयमार्गस्तु दण्डनीत्यामुपदिष्टः। तथा चाह कामन्दकः—

> 'आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
> अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीतौ नयानयौ॥'

आचर्यते कर्म क्रियते व्यवहरतीति भावः।

---

१०. शरीरिणामपि

[दण्डनीत्यां दोषाः]

११. पुनरिमे ब्रुवते—'ननु चतस्रो राजविद्याः-त्रयी वार्ता ऽऽन्वीक्षिकी दण्डनीतिरिति । तासु तिस्रस्त्रयीवार्तान्वीक्षिक्यो महत्यो मन्दफलाश्च । तास्तावदासताम् । अधीष्व तावद्दण्डनीतिम् । इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता । सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकर्मक्षमा

---

११. पुनरिति—राजविद्याः राजभिरध्येतव्या विद्याः, मुख्या विद्या वा । त्रयी ऋक्सामयजुरथर्ववेदात्मिका वेदविद्या । वार्ता सम्पत्तिशास्त्रम्; केषांचन मतेन अर्थशास्त्रम्, परं न तत्समीचिनं प्रतिभाति, कौटिल्यमर्थशास्त्रमित्यादिप्रयोगेषु तत्पदं दण्डनीतिशास्त्रपर्यायरूपेण प्रयुक्तमस्ति । आन्वीक्षिकी तर्कशास्त्रम् । दण्डनीतिः अर्थशास्त्रम्, राजनीतिरित्यर्थः । मन्दफलाः मन्दं फलं यासां, ताः, फले मन्दाः वा, निष्फलाः इति भावः । आसतां दूरे तिष्ठन्तु । तासामध्ययनं परिहारं सहते । इयमिति—इयं दण्डनीतिविद्या । आचार्यश्चासौ विष्णुगुप्तः च; स च चाणक्यः कौटिल्यः, तेन । मौर्यार्थे मौर्यकुलोत्पन्नाय राज्ञे चन्द्रगुप्ताय । संक्षिप्ता समासतो वर्णिता ।

> "सुखग्रहणविज्ञेयं तत्त्वार्थपदनिश्चितम् ।
> कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तग्रन्थविस्तरम् ॥
> सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च ।
> कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥" इति ॥

तथा च—"पृथिव्या लाभे पालने च यावन्ति अर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्य एकमिदं शास्त्रं कृतम् ।" इत्याह कौटिल्यः । स एव च ग्रन्थस्य विस्तारं षट्सहस्रश्लोकपरिमितं वर्णयति । तदेवात्र दण्डिनोक्तमस्ति । इयं दण्डनीतिः । कौटिल्यार्थशास्त्रमिति

इति । स 'तथा' इत्यधीते, शृणोति च । तत्रैव जरां गच्छति । तत्तु किल शास्त्रं शास्त्रान्तरानुवन्धि[11] । सर्वमेव वाङ्मयम-विदित्वा न तत्त्वतोऽविगंस्यते । भवतु कालेन वहुनाऽल्पेन वा तदर्थाधिगतिः ।

[राजनीतिज्ञदिनचर्यायाः कट्वालोचनम्]

१२. अधिगतशास्त्रेण चादावेव पुत्रदारमपि न विश्वास्यम् । आत्मकुक्षेरपि कृते तण्डुलैरियद्भिरियानोदनः संपद्यते । इयत

यावत् । अधीत्य पठित्वा । अनुष्ठीयमाना व्यवह्रियमाणा । उक्तमनुसृत्य इति यथोक्तम् । तादृशे कर्मणि कर्मणे वा क्षमा समर्था । कार्षापण-लक्षसाधनादिकर्माणि साधयितुं समर्था भवतीति भावः । तत्रैवेति— जरां वार्धक्यं गच्छति प्राप्नोति, वृद्धो भवति । शास्त्रान्तरानुवन्धि इतर-शास्त्रैः संयुक्तम् । वाङ्मयं साहित्यम्, सर्वाणि शास्त्राणीति तात्पर्यम् । तत्त्वतः सम्यक्प्रकारेण—याथातथ्येन । अधिगंस्यते अवबुद्धं भविष्यति इति भावः । कालेन इत्यत्र फलप्राप्तिद्योतका तृतीया । तदर्थाधिगतिः तस्य अर्थस्य उद्दिष्टस्य प्रयोजनस्य अधिगतिः प्राप्तिः, तज्ज्ञानप्राप्तिरित्यर्थः ।

१२. अधिगतेति—अधिगतं सुष्ठु अवबुद्धं शास्त्रं राजनीति-विद्या येन, तेन राज्ञा । पुत्राणां दाराणां च समाहारः । विश्वास्यं विश्वसनीयम् । कुक्षिः उदरम् । स्वबुभुक्षाशान्त्यै इति भावः । तण्डुलः निस्तुषं धान्यम्—

> "सस्यं क्षेत्रगतं प्रोक्तं सतुषं धान्यमुच्यते ।
> निस्तुषः तण्डुलः प्रोक्तः स्विन्नमन्नमुदाहृतम् ॥

पाकानन्तरं तण्डुलानामोदनसंज्ञा भवति । इयद्भिः इयत्परिमाणैः ।

---

११. सर्वशास्त्रानुवन्धि

ओदनस्य पाकायैतावदिन्धनं पर्याप्तमिति मानोन्मानपूर्वकं देयम्।

१३. उत्थितेन च राज्ञा क्षालिताक्षालिते मुखे मुष्टिमर्धमुष्टिं वाऽभ्यन्तरीकृत्य कृत्स्नमायव्ययजातमह्नः प्रथमेऽष्टमे[12] भागे श्रोतव्यम्। शृण्वत एवास्य द्विगुणमपहरन्ति तेऽध्यक्षधूर्ताः। चत्वारिंशतं चाणक्योपदिष्टानाहरणोपायान् सहस्रधाऽऽत्मबुद्ध्-यैव ते विकल्पयितारः। द्वितीयेऽन्योन्यं विवदमानानां प्रजानामा-

---

पाकाय पक्तये। इन्धनं काष्ठादिकम्। पर्याप्तम् उचितम्। मानं मापनम्। उन्मानं तोलनं, तत्पूर्वकम्।

१३. **उत्थितेति**—सुप्त्वा जागरितेन। क्षालितं धौतं वा अक्षालितमधौतं वेति क्षालिताक्षालितम्, तादृशे। अत्र नञ् ईषदर्थेऽपि स्यात्। क्षालिते ईषत्क्षालिते वा। 'मुष्ट्यर्धमुष्टी परिमाणविशेषौ' इति पदचन्द्रिका। 'जनपदायव्ययशोधको मुष्टिः, ग्रामस्य शोधकोऽर्धमुष्टिः' इति भूषणा। अत्र तु मुष्टौ (हस्ते) यावदन्नमायाति तावदेव अभ्यन्तरीकृत्य खादित्वा इति भावः प्रतिभाति। त्वराकारणात् प्रातराशेऽपि न सुखमिति यावत्। कृत्स्नेति—कृत्स्नं सर्वम्। आयव्ययजातं धनागमनिर्गमनविवरणम्। नयज्ञस्य दिनमष्टभागेषु विभक्तम्। तत्र प्रथमे भागे। शृण्वत आकर्णयतः राज्ञः। अनादरे षष्ठी। तस्य पश्यत एव। द्विगुणं यावत् राजकार्ये लगति ततो द्विगुणम्। अध्यक्षधूर्ताः अध्यक्षाः च ते धूर्ताः। अध्यक्षाः विभागानां प्रधानपुरुषाः। आहरणोपायान् ग्रहणप्रकारान्। विकल्पयितारः सम्पादयितारः। अन्योन्यं परस्परम्। विवदमानानां

---

१२ प्रथमेऽष्टमे वा

क्रोशाद्दह्यमानकर्णः कष्टं जीवति । तत्रापि प्राड्विवाकादयः स्वेच्छया जयपराजयौ विदधानाः[13] पापेनाकीर्त्या च भर्तारमात्मानं[14] चार्थैर्योजयन्ति । तृतीये स्नातुं भोक्तुं च[15] लभते । भुक्तस्य यावदन्धःपरिणामस्तावदस्य विषभयं न शाम्यत्येव । चतुर्थे हिरण्यप्रतिग्रहाय हस्तं प्रसारयन्नेवोत्तिष्ठति । पञ्चमे मन्त्रचिन्तया महान्तमायासमनुभवति । तत्रापि मन्त्रिणो मध्यस्था[16] इवान्योन्यं मिथः[17] संभूय, दोषगुणौ दूतचारवाक्यानि शक्याशक्यतां देशकालकार्यावस्थाश्च

विवादे पतितानाम् । आक्रोशात् निन्दागर्भपरुषभाषणात् । दह्यमानकर्णः कर्णज्वरं प्राप्नुवन् । प्राड्विवाकादयः धर्माध्यक्षादयः । स्वेच्छयेति—उत्कोचं गृहीत्वा नियमान् आत्मभावानुरूपं व्याख्याय सत्यासत्यपक्षयोः जयपराजयपरिवृत्तिं सम्पादयन्ति । ते राज्ञः प्रतिनिधयः, अतः एतत्कर्मजन्यं पापम् अपयशश्च राजानमेवाश्रयेते इति भावः । यावदिति—यावदन्धःपरिणामः यावत् जठरे स्थितस्य अन्धसः ओदनस्य भोजनस्य वा परिणामः पाकः जायते तावत् । विषभयं केनचिद् भोजने विषः दत्तः स्यादिति भीतिः । राज्ञः भक्षणात् पूर्वं तदर्थभोजनपरीक्षार्थं कौटिल्यादिभिः नियमाः प्रदत्ताः सन्ति । हिरण्यस्य विविधोपायैः आयातस्य सुवर्णस्य प्रतिग्रहाय आदानाय । हस्तं प्रसारयन् ग्रहणकर्म असमाप्य तन्मध्ये एव । मन्त्रचिन्ता मन्त्रिभिः सह रहस्यविचारणा, तया । आयासं क्लेशम् । तत्रापीति—मध्यस्थाः तटस्थाः, निष्पक्षाः । भूषणामतेन तु 'वकील' इति भाषापदवाच्याः मध्यस्थाः भवन्ति । उभयपक्षयोः सम्मतः विवादे अराजपुरुषः निर्णायक इति वा । सम्भूय मिलित्वा । दोषगुणौ दोषः च गुणश्च तौ । दूताः च चाराः च, तेषां वाक्यानि । चारः गुप्तचरः । शक्याशक्यताम् विपरिवर्तयन्तः अन्यथा वर्णयन्तः । स्वस्य परस्य

---

१३. विवादधनाः १४. आत्मनश्चा० १५. च न लभते
१६. मध्यस्थायिनः १७. 'मिथः' पदं नास्ति

स्वेच्छया विपरिवर्तयन्तः स्वपरमित्रमण्डलान्युपजीवन्ति ।
बाह्याभ्यन्तरांश्च कोपान् गूढमुत्पाद्य प्रकाशं प्रशमयन्त
इव स्वामिनमवशमवगृह्णन्ति । षष्ठे स्वैरविहारो मन्त्रो
वा सेव्यः । सो [१८] ऽस्यैतावान् स्वैरविहारकालो यस्य तिस्रस्त्रि-
पादोत्तरा नाडिकाः । सप्तमे चतुरङ्गबलप्रत्यवेक्षणप्रयासः ।
अष्टमेऽस्य सेनापतिसखस्य विक्रमचिताक्लेशः । पुनरुपास्यैव

मित्रस्य च मण्डलानि; आत्मपक्ष्यान् विपक्षान् मित्राणि चेति भावः ।
उपजीवन्ति आश्रयन्ति । बाह्याभ्यन्तरान् बाह्यान् शत्रुभ्यः संजातान्,
आभ्यन्तरान् प्रजादिभ्यः समुद्भूतान् स्वदेशगतान् । 'बाह्यान् प्रजाः,
आभ्यन्तरान् अमात्यादींश्च' इति बालबोधिनीव्याख्यानं चिन्त्यम् ।
गूढमिति—गूढं गुप्तरूपेण । उत्पाद्य जनयित्वा । श्रूयतेऽनुभूयते च कैश्चिद्
यदद्यापि कैश्चित् राजपुरुषैरेवमेव क्रियते । अत्र तथ्यपरिमाणं निर्धार्यमेव ।
प्रशमयन्तः दण्डादिप्रयोगेण शान्तिं नयन्तः । अवशं किमपि विधातुम्
असमर्थः इति हेतोः विवशम् । अवगृह्णन्ति अवरुन्धन्ति, बाधन्ते
तिरस्कुर्वन्ति वा । स्वैरविहारः स्वैरं यथेच्छं विहारः विहरणम्:, श्रमाद्य-
पनोदाय निश्चिन्तं प्रमदवनादिषु भ्रमणमिति भावः । मन्त्रः अमात्यादिभिः
विचारः । सेव्यः सेवनीयः । एतयोः स्थित्यनुसारम् एकस्यैव सेवनमभि-
प्रेतमस्ति । दह्यतां (पाभे०) नाशं यातु । त्रिपादोत्तराः त्रिपादधिकाः ।
तिस्रस्त्रिपादोत्तरा, ऊनपादाः चतस्रः इति भावः । नाडिकाः घटिकाः
(समयपरिमाणविशेषः) । सप्तम इति—चतुरङ्गबलं चतुर्भिः अङ्गैः
अश्वगजरथपदातिरूपैः युक्तं बलं सेना । तस्य प्रत्यवेक्षणस्य निरीक्षणस्य
प्रयासः प्रयत्नः कष्टं वा । सेनापतिः बलाध्यक्षः सखा सहायः सहचरः
वा यस्य, सः; सेनापतिना सहेति भावः । विक्रमस्य सेनायाः बलाबल-
शिक्षासन्नाहव्ययगुणदोषयानस्थित्यादीनां चिन्तायाः विमर्शस्य क्लेशः

---

१८. स दह्यतां स्वैर०

संध्यां, प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरुषा द्रष्टव्याः। तन्मुखेन चातिनृशंसाः [19]शस्त्राग्निरसप्रणिधयोऽनुष्ठेयाः। द्वितीये भोजनानन्तरं श्रोत्रिय इव स्वाध्यायमारभेत†। तृतीये तूर्यघोषेण संविष्टश्चतुर्थपञ्चमौ शयीत किल। कथमिवास्याजस्रचिन्तायासविह्वलमनसो[20] वराकस्य निद्रासुखमुपनमेत्[21]। पुनः षष्ठे

आयासः। उपास्य सन्ध्यां सायंकाले ब्रह्मदेवयज्ञौ सम्पाद्य। गूढपुरुषाः गुप्तचराः। तन्मुखेन तेषां गुप्तचराणां मुखेन माध्यमेन। अतिनृशंसाः अतिक्रूराः घातुका वा। शस्त्राग्नीति—शस्त्रप्रणिधिः शस्त्रप्रयोक्ता, यः शस्त्रेण अनभिमतं जनं शत्रुं वा हन्यात्। अग्निप्रणिधिः अग्निदायकः, यः वह्निना परेषां गृहादिकं दहेत्। रसप्रणिधिः विषदायकः, यः भोजनादिषु विषं प्रदाय शत्रून् निवारयेत्। अनुष्ठेयाः नियोजनीयाः। श्रोत्रियः वेदविद्। तथा चोक्तमस्ति—

> "जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
> विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥"

विद्यापदेन अत्र वेदविद्याभीष्टा। स्वयमेव एकाकिना जनेन वेदादिशास्त्राणां नियमेन आत्मनः शुद्ध्यर्थं ज्ञानार्थं चाध्ययनं स्वाध्यायः। स मानवेनावश्यं कर्तव्यः। तूर्यघोषेण राज्ञः शयनसमयः संजातः इति सूचकेन वाद्यानां शब्देन। संविष्टः सुप्तः। चतुर्थपञ्चमौ भागौ। अत्र कालस्यात्यन्तसंयोगे द्वितीया। कथमिति—अजस्रं सततं या चिन्ता तस्याः आयासेन दुःखेन विह्वलं व्याकुलं मनः चित्तं यस्य, तस्य। वराकस्य दयनीयस्य। निद्रायाः सुखम्, सुखेन निद्रा इति भावः। उपनमेत् समीपम् आगच्छेत्। शास्त्रस्य दण्डनीत्यादिज्ञानस्य चिन्ता विचारः

---

१९. ०ग्निप्रणिधयः † आरभते २०. चिन्तायासैर्विह्वलमनसो वा कस्य
२१. उपनमेत

शास्त्रचिन्ताकार्यचिन्तारम्भः। सप्तमे तु मन्त्रग्रहो दूताभिप्रेषणानि च। दूताश्च नामोभयत्र प्रियाख्यानलब्धानर्थान् वीतशुल्कबाधवर्त्मनि[२२] वाणिज्यया वर्धयन्तः कार्यमविद्यमानमपि [२३]लेशेनोत्पाद्यानवरतं भ्रमन्ति। अष्टमे पुरोहितादयोऽभ्येत्यैनमाहुः-'अद्य दृष्टो दुःस्वप्नः। दुःस्था ग्रहाः। शकुनानि चाशुभानि।' शान्तयः क्रियन्ताम्। सर्वमस्तु सौवर्णमेव होमसाधनम्। एवं सति कर्म गुणवद् भवति। ब्रह्मकल्पा इमे ब्राह्मणाः। कृतमेभिः स्वस्त्ययनं

कार्यस्य कृतकर्त्तव्यादिकर्मणः चिन्ता, तयोः आरम्भः उपक्रमः। **सप्तम इति**—*मन्त्रग्रहः मन्त्रिणां परामर्शश्रवणम्।* *दूताभिप्रेषणानि* राज्यान्तरेषु अन्यत्र च दूतानां राजदूतानां सन्देशवाहकादीनां च अभिप्रेषणम्। उभयत्र आत्मपक्षे परपक्षे च। **प्रियेति**—प्रियं चाटः आख्यानं भाषणं, तैः लब्धान् प्राप्तान्। **वीतशुल्केति**—वीतः गतः शुल्कस्य बाधः यस्मिन्, तत्; तत् चाटः वर्त्म मार्गः च, तस्मिन्। शुल्कं वाणिज्यकर्मणि राजदेयः करः। राजप्रतिनिधित्वाद् दूतानां व्यवहाराः अद्यापि निःशुल्काः भवन्ति। वाणिज्यया वणिक्कर्मणा। लेशेन स्वल्पेनाप्यपदेशेन। दुःस्वप्नः दुष्टफलप्रदः स्वप्नः। दुःस्थाः क्रूरस्थानेषु नीचस्वभावं प्राप्य वर्तमानाः। ग्रहाः सूर्यचन्द्रबुधगुरुशुक्रशनैश्चरराहुकेतुनामानः नव संख्याकाः शुभाशुभफलप्रदाः मनुष्यस्यायतिशासकाः नक्षत्रविशेषाः। एतेषां स्थित्यनुसारं मनुष्यः शुभाशुभगतिं प्राप्नोति। फलितज्योतिषे ग्रहाणां फलस्य विचारः दृश्यते। तदनुसृत्यैवैते पुरोहितादयः कथयन्ति। शकुनानि शकुनशास्त्रे विशदीकृतानि। शान्तयः ग्रहादीनां दोषाणां जपदानादिभिः दूरीकरणम्। अस्मिन् शान्तिकर्मणि सुवर्णस्य महान् योगः इति श्रूयते। अतएव शान्तिकर्मणि क्रियमाणस्य होमस्य साधनं पात्रादिकं सौवर्णं सुवर्णनिर्मितं यदि स्यात्

---

२२. वीतशुल्कनिराबाधम् २३. क्लेशेन

कल्याणतार भवति । ते चामी कष्टदारिद्र्या बह्वपत्या यज्वानो वीर्यवन्तश्चाद्याप्यप्राप्तप्रतिग्रहाः । दत्तं चैभ्यः स्वर्ग्यमायुष्यमरिष्टनाशनं च भवति' इति बहु बहु दापयित्वा तन्मुखेन स्वयमुपांशु भक्षयन्ति । तदेवमहर्निशमविहित[24] सुखलेशमायासबहुलमविरलकदर्थनं च नयतो नयज्ञस्यास्तां चक्रवर्तिता,

---

तर्हि ग्रहदोषः शाम्येत् । गुणवत् महाफलप्रदम् । ब्रह्मकल्पाः ब्रह्मणः ईषन्न्यूनाः, ब्रह्मसदृशा इत्यर्थः । कृतं सम्पादितम् । स्वस्त्ययनं क्षेमप्रापणं, मंगलकर्म इति यावत् । अस्मिन् कर्मणि स्वस्तिवाचकाः मन्त्राः प्रयुज्यन्ते । कष्टदारिद्र्याः कष्टं दुःखकरं दारिद्र्यं निर्धनता येषां ते, अकिंचनाः इत्याशयः । बह्वपत्याः बहूनि अपत्यानि सन्तानाः येषां, ते । यज्वानः प्रत्यहं याजकाः । वीर्यवन्तः यज्ञादिधर्मकर्मपरायणत्वात् शक्तिमन्तः, तेजस्विनः; देवताः प्रभावयितुं समर्थाः इति भावः । न प्राप्तः लब्धः प्रतिग्रहः दानं यैः, ते । स्वर्ग्येति—स्वर्ग्यं स्वर्गप्रापकम् । आयुष्यम् आयुषो जीवितस्य वृद्धिकरं विस्तारयितृ । अरिष्टस्य अशुभस्य नाशनं शमनम्—अशुभस्थितिनिवारकम् । बहु बहु बहुवारं पुष्कलमिति वा । तन्मुखेन तस्य माध्यमेन । उपांशु गुप्तरूपेण । 'एकान्ते' इति पदचन्द्रिका । तदेवमिति—अहर्निशं रात्रिंदिवम् । न विहितः कल्पितः सुखस्य लेशः अंशः अपि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा; सुखविधानहीनमित्यर्थः । आयासः परिश्रमः कष्टं वा बहुलः अत्यधिकः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा । अविरलं निरन्तरं कदर्थनं तिरस्कारः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा । नयतः जीवनं यापयतः । आस्ताम् दूरे स्यात् । चक्रवर्तिता चक्रवर्तिनः सार्वभौमस्य भावः । स्वस्य आत्मनः

२४, अविदित

स्वमण्डलमात्रमपि दुरारक्ष्यं[२५] भवेत् । शास्त्रज्ञसमाज्ञातो[२६] हि यद् ददाति, यन्मानयति, यत्प्रियं ब्रवीति, तत्सर्वमतिसन्धातु[२७]मित्यविश्वासः । अविश्वास्यता हि जन्मभूमिरलक्ष्म्याः । यावता च नयेन विना [२८]याति लोकयात्रा स लोकत[२९] एव सिद्धः । नात्र शास्त्रैरणार्थः । स्तनंधयोऽपि[३०] हि तैस्तैरुपायैः स्तनपानं जनन्या लिप्सते । तदपास्यातियन्त्रणामनुभूयन्तां यथेष्टमिन्द्रियसुखानि ।

मण्डलं राज्यम् । दुरारक्ष्यं दुःखेन परिपाल्यम् । शास्त्रज्ञेन दण्डनीतिविशारदेन समाज्ञातः आदिष्टः—उपदिष्टः । बालबोधिन्यां तु 'समज्ञातः' पाठो वर्तते, तथैव च व्याख्यानम्—"नीतिशास्त्रज्ञोऽयमिति या समज्ञा कीर्तिस्तया इति पञ्चम्यास्तसिल्" । मानयति मानं करोति—सत्करोति । अतिसन्धातुं वञ्चयितुम् । अविश्वास्यता विश्वासस्य श्रद्धायाः अभावः । जन्मभूमिः उत्पत्तिस्थानं—कारणम् । अलक्ष्म्याः राजश्रियः अभावस्य नाशस्य वा । **यावतेति**—यावता ज्ञानेन । इदं पदं 'नयेन'—इत्यस्य पदस्य विशेषणं नाभिप्रेतम् । नयेन विना राजनीतिं परित्यज्य । लोकयात्रा लोकव्यवहारः । स लोकव्यवहाराय अलं ज्ञानम् । अर्थः प्रयोजनम् । **स्तनेति**—स्तनौ धयति पिबति इति स्तनंधयः शिशुः । तैस्तैः विविधैरित्यर्थः । लिप्सते प्राप्तुमिच्छति । तद् तस्मात्—इति हेतोः । अपास्य परिहृत्य । अतियन्त्रणां महान्तमायासम् । यथेष्टं स्वैरं यथाकामम् । इन्द्रियसुखानि इन्द्रियेभ्यः जातानि सुखानि ।

---

२५. दुरारक्षम्; दुरारक्ष्यः २६. समज्ञातः २७. अधिसंधातुम्

२८. न याति लोक०; न विना नयेन; समयेन विना लोकयात्रा

२९. लोके ३०. ननु बालिशोऽपि

[दण्डनीतेर्वैयर्थ्यम्]

१४. येऽप्युपदिशन्ति—'एवमिन्द्रियाणि जेतव्यानि, एवमरि-षड्वर्गस्त्याज्यः, सामादिरुपायवर्गः स्वेषु परेषु चाजस्रं प्रयोज्यः, सन्धिविग्रहचिन्तयैव नेयः कालः, स्वल्पोपि सुखस्यावकाशो न देयः' इति, तैरप्येभिर्मन्त्रिवकैर्युष्मत्तश्चौर्यार्जितं धनं दासीगृहेष्वेव भुज्यते। के चैते वराकाः। येऽपि [31] मन्त्रकर्कशाः शास्त्रतन्त्र-

---

१४. येऽपीति—इन्द्रियाणि उभयविधानि हस्तपादवाग्गुदोपस्थ-रूपाणि कर्मेन्द्रियाणि, नेत्रश्रोत्रनासिकाजिह्वात्वचः ज्ञानेन्द्रियाणि, मनः उभयमिन्द्रियम् । जेतव्यानि वशे करणीयानि । **अरिषड्वर्गेति**—कामक्रोधलोभमदमोहमात्सर्याणि षड् अरयः शत्रवः उच्यन्ते । तेषां वर्गः समूहः । सामादयः सामदानभेददण्डा उपायाः साधनानि, तेषां वर्गः समुदायः । स्वेषु आत्मीयेषु जनेषु परेषु शत्रुजनेषु । अजस्रं सन्ततम् । सन्धिः अन्यैः राष्ट्रैः सह मैत्रीस्थापनं, युद्धविरामः व्यापारादि-योजना । विग्रहः युद्धकर्म । तयोः चिन्ता विचारः, तया । अवकाशः अवसरः । **स्वल्पेति**—नयज्ञः क्षणमात्रमपि सुखं न वसेद् इति भावः । मन्त्रिवकैः मन्त्रिणः वका इव, तैः धूर्तैः मन्त्रिभिः । अथवा, मन्त्रिणश्च ते वकाश्चेति, मन्त्रिकुत्सितैः । तथा चाह मनुः—

"अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः ।"

चौर्येण स्तैन्यकर्मणा अर्जितं सम्पादितम् । दासीगृहेषु वेशवासेषु वा परस्त्रीसन्निधौ वा सेविकावासेषु वा । **येऽपीति**—मन्त्रकर्कशाः मन्त्रेषु उपदेशेषु कर्कशाः कठोराः कठिनाः वा; ये क्रूरं पीड़ाकरं व्यवहाररीतिं विदधति, ते । शास्त्रतन्त्रकाराः अर्थशास्त्रसिद्धान्तप्रतिपादकाः ।

---

३१. मतिकर्कशाः ।

कारा:[३२] शुक्राङ्गिरसविशालाक्ष[३३] वाहुदन्तिपुत्रपराशरप्रभृतय-स्तैः किमरिषड्वर्गो जितः, कृतं वा तैः शास्त्रानुष्ठानम् । तैरपि हि प्रारब्धेषु कार्येषु दृष्टे सिद्धयसिद्धी । पठन्तश्चापठद्भिरतिसंधीयमाना वहवः । नन्विदमुपपन्नं देवस्य यदुत सर्वलोकस्य वन्द्या जातिरयातयामं वयो दर्शनीयं वपुरपरिमाणा विभूतिः । तत्सर्वं सर्वाविश्वासहेतुना सुखोपभोगप्रतिबंधिना वहुमार्गविकल्पनात् सर्वकार्येष्वमुक्तसंशयेन तन्त्रावापेनैव[३४] मा कृथा वृथा । सन्ति

"तन्त्रकर्तारः कर्मकर्त्तारः' इति पदचन्द्रिका । शुक्रेति—शुक्रादयोऽत्र राजनीतिशास्त्राचार्याः सन्ति यैः दण्डनीतिग्रन्था रचिताः । शास्त्रानुष्ठानं राजनीतिशास्त्रस्य प्रयोगः । सिद्धिः साफल्यम् । असिद्धिः वैफल्यम् । पठन्तः अर्थशास्त्रस्याध्येतारः । अपठद्भिः दण्डनीतेरनभिज्ञैः । अतिसन्धीयमाना वञ्च्यमानाः । नन्विति—उपपन्नं युक्तम् । वन्द्या अभिवाद्या । जातिः जन्म वंशो वा । अयातयामं न यातः समाप्तः यामः प्रहरः—उपभोगकालः यस्य तत्; नवमिति यावत् । वयः आयुः—अवस्था । दर्शनीयं सुन्दरम् । वपुः शरीरं रूपं वा । अपरिमाणा विपुला । विभूतिः धनसम्पदादयः । सर्वाविश्वासेति—सर्वेषु अविश्वासस्य हेतुः कारणं, तेन , सुखानाम् इन्द्रियसुखानाम् उपभोगे आस्वादने प्रतिवन्धिना विघ्नकारिणा । वहुमार्गविकल्पनात् वहवः नाना मार्गाः अध्वानः, तेषां विकल्पनात् विमर्शात्—विधानात् । अमुक्तः सर्वदा हृदि स्थापितः संशयः येन सः, तथाविधेन । तन्त्रेति—'तन्त्रं स्वराष्ट्रचिन्ता स्यादावापस्त्वरिचिन्तनम्' इति । 'तन्त्रावापो नीतिविचारः' इति भूषणा । सर्वं दण्डनीतिशास्त्रमत्र तन्त्रावापपदेन निर्दिष्टमस्ति । दन्तिनां गजानाम् । हयानामश्वानाम् । पादातं पदातीनां

---

३२. 'शास्त्र' इति नास्ति । ३३. विशालच्यवनपुत्र

३४. तन्त्रावापेन ।

हि ते दन्तिनां दश सहस्राणि हयानां लक्षत्रयमनन्तं च पादातम् । अपि च पूर्णान्येव हेमरत्नैः कोशगृहाणि । सर्वश्चैष जीवलोकः समग्रमपि युगसहस्रं भुञ्जानो न ते कोष्ठागाराणि रेचयिष्यति । किमिदमपर्याप्तं यदन्यार्जितायायासः क्रियते । जीवितं हि नाम

समूहः । हेम सुवर्णं च रत्नानि मणयः च, तैः । कोशगृहाणि धनागाराणि । जीवलोकः प्राणिसमूहः । **समग्रेति**—समग्रमिति युगसहस्रमित्यस्य विशेषणम् । युगानां सहस्रम् । युगं कालपरिमाणविशेषः । युगसहस्रस्य परिमाणं मनुनैवं विहितमस्ति—

"चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च यथाविधः ॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥
यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥"

ब्राह्मदिने सृष्टिः चलति । अतः युगसहस्रस्याभिप्रायः प्रलयकालं यावत् प्रतिभाति । भुञ्जानः भक्षयन् । कोष्ठागाराणि धान्यसंचयगृहाणि । रेचयिष्यति रिक्तानि करिष्यति समाप्स्यति । इदम् एतावत् युगसहस्रपर्यन्तस्थायि धनम् । अपर्याप्तम् अल्पं-कार्यसाधनाय नालम् । अन्यार्जिताय अन्यैः उपायैः अर्जिताय प्राप्ताय । अथवा अन्यैः जनैः आत्मनः कृते अर्जिताय प्राप्ताय, परकीयधनाय इति भावः । अथवा-अन्यत् च तत् अर्जितं च अन्यार्जितम्; तथाविधाय धनाय इत्याशयः ।

जन्मवतां चतुःपञ्चाप्यहानि । तत्रापि भोगयोग्यमल्पाल्पं वयः-खण्डम् । अपण्डिताः पुनरर्जयन्त एव ध्वंसन्ते । नार्जितस्य वस्तुनो लवमप्यास्वादयितुमीहन्ते ।

[विहारभद्रोपदेशस्योपसंहारः]

१५. किं बहुना । राज्यभारं भारक्षमेष्वन्तरङ्गेषु[३५] भक्ति-मत्सु समर्प्य, अप्सरःप्रतिरूपाभिरन्तःपुरिकाभी रममाणो गीत-संगीतपानगोष्ठीश्च यथर्तु बध्नन् यथार्हं[३६] "कुरु शरीरलाभम्" इति पञ्चाङ्ग[३७]स्पृष्ट[३८]भूमिरञ्जलिचुम्बितचूडश्चिरमशेत।प्राहसीच्च

आयासः प्रयत्नः । जन्मवतां प्राणिनाम् । चतुःपञ्चाप्यहानि अल्पकाल-स्थायि इति भावः । भोगेभ्यः योग्यम् उपयुक्तम्, यतो यौवनकाल एव भोगा भुज्यन्ते । अल्पाल्पम् अत्यल्पम् । वयःखण्डम् आयुषो भागः । अपण्डिताः मूर्खाः, अविवेकिनः नयज्ञाः । अर्जयन्तः धनमाहरन्तः । ध्वंसन्ते नाशं यान्ति । लवमपि लेशमपि । आस्वादयितुम् उपभोक्तुम् ।

१५. किं बहुनेति—राज्यभारं शासनकार्यम् । भारक्षमेषु राज्यभारधारणसमर्थेषु; योग्येषु अधिकारिष्वित्यर्थः । अन्तरङ्गेषु विश्वस्तेषु भक्तिमत्सु भवदनुरक्तेषु । अप्सरसां देवस्त्रीणां प्रतिरूपाभिः सदृशाभिः । अन्तःपुरिकाभिः अन्तःपुरे वर्तमानाभिः स्त्रीभिः । रममाणः सुखमुपभुञ्जानः । पानं सुरापानम्, तस्य गोष्ठीः सदांसि । यथर्तु ऋतोरनु-रूपम् । बध्नन् विदधत् । यथार्हम् अर्हमनतिक्रम्य, अथवा अर्हस्य अनुरूपम् । शरीरस्य देहस्य लाभः उपयोगः, तम् । पञ्चाङ्गेति—पञ्चानाम् । अंगानां समाहारः: इति पञ्चाङ्गी–द्वे जानुनी, द्वौ बाहू मूर्धा चेति पञ्चभिरङ्गैः (पञ्चाङ्गीति पाठभेदे पञ्चाङ्ग्या) स्पृष्टा भूमिः येन सः । अञ्जलिना बद्धाभ्यां कराभ्यां चुम्बिता स्पृष्टा चूडा

---

३५. अन्तरङ्गभूतेषु ३६. यथार्थम् ३७. पञ्चाङ्गी ३८. मृष्टा

[39]प्रतिफुल्ललोचनोऽन्तःपुरप्रमदाजनः। जननाथश्च सस्मितम् 'उत्तिष्ठ[40]। ननु हितोपदेशाद् गुरवो भवन्तः। किमिति गुरुत्व-विपरीतमनुष्ठितम्' इति तमुत्थाप्य क्रीडानिर्भरमतिष्ठत्[41]।

[मन्त्रिणो वसुरक्षितस्य वितर्कः]

१६. अथैषु दिनेषु भूयोभूयः प्रस्तुतेऽर्थे प्रेर्यमाणो मन्त्रिवृद्धेन वचसाभ्युपेत्य मनसैवाचित्तज्ञ इत्यवज्ञातवान्। अथैवं मन्त्रिणो मनस्यभूत्—"अहो मे मोहाद् बालिश्यम्। [42]अरुचितेऽर्थे

मालिः येन सः, बद्धाञ्जलिरित्याशयः। प्रतिफुल्लेति—प्रतिफुल्ले विकसिते लोचने नेत्रे यस्य सः हर्षविकसितनयनः। अन्तःपुरे अवरोधे वर्तमानाः प्रमदाः युवतयः च ताः जनाः च। जनानां नाथः,नृपः। हितोपदेशाद् हिताय कल्याणाय उपदेशः शिक्षणं, तस्मात्। गुरवः अज्ञानान्धकारनाशकाः। गुरुत्वस्य शिक्षकत्वस्य विपरीतं विरुद्धम्। क्रीडानिर्भरम् क्रीडासु निर्भरः मग्नः यथा स्यात् तथा।

१६. अथैष्विति—एषु दिवसेषु येषु अनन्तवर्मा क्रीडानिर्भरो जातः। भूयोभूयः पुनः पुनः। प्रस्तुते प्रकृते करणीये वा। अर्थे कर्मणि। प्रेर्यमाणः चोद्यमानः। अभ्युपेत्य अङ्गीकृत्य। अचित्तज्ञः राज्ञः मम चित्तस्य मनसः प्रवृत्तिं न जानाति इति। अवज्ञातवान् अवधीरितवान्। अहो म इति—मोहात् पुण्यवर्मणः सम्बन्धात् अनन्तवर्मणि नयादिमुपेक्ष्य प्रेमातिशयकारणात्। बालिश्यं मौर्ख्यम्। अरुचिते अनभिमते। अर्थी

---

३९. प्रीतिफुल्ल०	४०. उत्तिष्ठत

४१. क्रीडारसनिर्भरमतिः	४२. अनुचिते

चोदयन्नर्थीवाक्षिगतोऽहमस्य हास्यो जातः । स्पष्टमस्य चेष्टाना-§मयथापूर्व्यम् । तथाहि । न मां स्निग्धं पश्यति, न स्मितपूर्वं भाषते, न रहस्यानि विवृणोति, न हस्ते स्पृशति, न व्यसनेष्वनुकम्पते, नोत्सवेष्वनुगृह्णाति, न विलोभनवस्तूनि[४३] प्रेषयति, न मत्सुकृतानि प्रगणयति, न मे गृहवार्तां पृच्छति, न मत्पक्ष्यान्[४४] प्रत्यवेक्षते, न मामासन्नकार्येष्वभ्यन्तरीकरोति, न मामन्तःपुरं प्रवेशयति । अपि च–मामनर्हेषु कर्मसु नियुङ्क्ते, मदासनमन्यैरवष्टभ्यमानम-

---

याचकः । अक्षिगतः रजआदिवत् अक्षिणि नेत्रे गतः पतितः, बहिर्निष्कास्यः द्वेष्यः पीडाकरः च इति भावः । हास्यः उपहासभाजनम् । चेष्टानां व्यवहाराणाम् । अयथेति—पूर्वस्य भावः पूर्व्यम्, तद् अनतिक्रम्य इति यथापूर्व्यं, न यथापूर्व्यम् अयथापूर्व्यम्; विलक्षणत्वं–विचित्रत्वम्; पूर्वतो वैपरीत्यम् इति भावः । स्निग्धं सस्नेहम् । स्मितपूर्वं सस्मितं, प्रसन्नं वा । रहस्यानि गुप्तवार्ताः । विवृणोति प्रकटयति । व्यसनेषु विपत्तिषु । अनुकम्पते सहानुभूतिं दर्शयति उत्सवेषु आनन्दावसरेषु । अनुगृह्णाति कृपां प्रदर्श्य आह्वयति । विलोभनवस्तूनि पारितोषिकवस्तूनि । 'आदरणीयवस्तूनि' इति लघुदीपिका । प्रजादिभ्यः उपायनेषु प्राप्तेषु वस्तुषु भागः, तम् इत्यर्थः । प्रगणयति मानयति गृहवार्तां गेहे वर्तमानां स्थितिम् । मत्पक्ष्यान् मम पक्षपातिनः । प्रत्यवेक्षते सानुग्रहं पश्यति । आसन्नकार्येषु परमावश्यकेषु सद्यः कर्तव्येषु कर्मसु रहस्यकर्मसु वा । अभ्यन्तरीकरोति विश्वासस्थानं करोति । अपि चेति—अनर्हेषु अयोग्येषु, मत्स्थानासदृशेषु साधारणेषु इति भावः । नियुङ्क्ते व्यापृतं करोति । अवष्टभ्यमानम् आक्रम्यमाणम् । अनुजानाति अनुमोदते सहते उपेक्षते वा । राजसभायां यस्य यदासनं तत्र स एव तिष्ठति नान्यः, विशेषतः मन्त्रि-

---

§ ०मायथा०　　४३. वस्तु　　४४. मत्पक्षान्

नुजानाति, मद्वैरिषु विश्रम्भं दर्शयति मदुक्तस्योत्तरं न ददाति, मत्समानदोषान् विगर्हयति, मर्मणि मामुपहसति, स्वमतमपि मया वर्ण्यमानं प्रतिक्षिपति, महार्हाणि वस्तूनि मत्प्रहितानि नाभिनन्दति, नयज्ञानां स्खलितानि मत्समक्षं मूर्खैरुद्घोषयति । सत्यमाह चाणक्यः—'चित्तज्ञानानुवर्तिनोऽनर्थ्या[४५] अपि प्रियाः स्युः । दक्षिणा अपि तद्भाव-

---

मुख्यानामासनेषु । अस्मिन् विपर्ययं कुर्वाणो जनः दण्ड्यो भवति, परमयं राजा ममासनमधितिष्ठन्तं कमपि न दण्डयति । अन्यान् तत्र स्थातुं प्रेरयति च । मद्वैरिषु च मम विरोधिषु शत्रुषु वा । विश्रम्भं विश्वासम् । दर्शयति प्रकटयति स्थापयति वा । मदुक्तस्य मया पृष्टस्य प्रश्नादिवचसः । मत्समानेति—मम समानः दोषः येषां, तान्; अथवा—मम समानः मत्समानः, तेषां दोषान् । नयज्ञानां दोषानिति भावः । विगर्हयति निन्दति, निन्दयति वा । मर्मणि मर्मसु पीडाकरम्-अरुंतुदम् । प्रतिक्षिपति तिरस्करोति । महार्हाणि बहुमूल्यानि । मत्प्रहितानि मया प्रेषितानि । अभिनन्दति सहर्षं स्वीकरोति । नयज्ञानां राजनीतिशास्त्रविशारदानाम् स्खलितानि प्रमादस्थानानि । मत्समक्षं मम पुरतः । मूर्खैः नयज्ञानहीनैः विवेकबुद्ध्यादिरहितैः मूढैः । उद्घोषयति प्रकाशयति । चित्तेति—चित्तस्य मनसः ज्ञानं भावं विज्ञाय अनुवर्तिनः व्यवहारं कुर्वन्तः—मनोनुकूलमाचरन्त इति निर्गलितार्थः । अनर्थ्याः न अर्थितुं योग्याः, अनिष्टाः इति यावत् । दक्षिणाः विज्ञाः भक्तिमन्तः जनाः । 'सरला' इति पदचन्द्रिका । तद्भावेति—तस्य भावः मनसः वृत्तिः, तस्माद् बहिष्कृताः बाह्याः, तन्मनोविपरीतमाचरन्तः इति तात्पर्यम् । द्वेष्याः

---

४५. अनर्थाः

बहिष्कृता द्वेष्या भवेयुः' इति । तथापि का गतिः । अविनीतोऽपि न परित्याज्यः [४६]पितृपैतामहैरस्मादृशै[४७]रयमधिपतिः । अपरित्यजन्तोऽपि कमुपकारमश्रूयमाणवाचः कुर्मः । सर्वथा नयज्ञस्य वसन्तभानोरश्मकेन्द्रस्य हस्ते राज्यमिदं पतितम् । अपि नामापदो भाविन्यः प्रकृतिस्थमेनमापादयेयुः । अनर्थेषु सुलभव्यलीकेषु[४८] क्वचिदुत्पन्नोऽपि द्वेषः सद्वृत्तमस्मै न रोचयेत् । भवतु । भविता तावदनर्थः । स्तम्भितपिशुनजिह्वो यथाकथंचिदभ्रष्टपदस्तिष्ठेयम्' इति ।

त्याज्याः; वैरिणः इति वा । गतिः निष्क्रमणोपायः । **अविनीतेति**—अविनीतः अत्युद्धतः—असद्व्यवहारपरायणः । परित्याज्यः परित्यक्तुं हातुं योग्यः । पितुः पितामहाद् आगतैः, पितुः पितामहस्य तुल्यैर्वा । न श्रूयमाणा आकर्ण्यमाना वाक् भाषणं येषां ते । अश्मकेन्द्रस्य अश्मक-देशाधिपतेः । भाविन्यः आगामिन्यः; आगत्य इत्याशयः । प्रकृतिस्थं स्वस्थं विवेकयुक्तं नीतिमार्गानुसारिणं मद्वचनानुवर्तिनम् । आपादयेयुः कुर्युः । अनर्थेषु कष्टेषु । **सुलभेति**—सुलभं सुकरं व्यलीकं पीडा येषु, तेषु । क्वचित् यत्र-कुत्रचित् । उत्पन्नः संजातः । द्वेषः वैरम्; इदं पदं 'रोचयेत्' क्रियायाः कर्तृ । सद्वृत्तं दण्डनीत्यनुकूलं युक्तं व्यवहारम् । रोचयेत् रुचिकरं कुर्यात् । भविता भावी भविष्यति । अनर्थः कष्टं—विपत्तिः । **स्तम्भितेति**—स्तम्भिता वशं नीता पिशुनस्य सूचकस्य जिह्वा येन सः । अयं भावः अन्येषां विषये किमपि न कथयिष्यामि । मौनं धारयिष्यामि । ते किमपि कुर्युः, किमपि न कथयिष्यामि । मौनं धारयिष्यामि, ते किमपि कथयेयुरिति । यथाकथंचिद् येन केनापि प्रकारेण । **अभ्रष्टेति**—अभ्रष्टम् अच्युतं हस्तगतम् अधिगतं वा पदम् अधिकार-

---

४६. पितृपितामहानुयातैः राजकुलमीदृशश्चायमधिपतिः

४७. अस्माकमुपसेवितमिदं

४८. सुलभालीकेषु

[चन्द्रपालितस्यागमनम्]

१७. एवंगते मन्त्रिणि राजनि च कामवृत्ते चन्द्रपालितो नामाश्मकेन्द्रामात्यस्येन्द्रपालितस्य सूनुरसद्वृत्तः पितृनिर्वासितो नाम भूत्वा वहुभिश्चारणगणैर्वह्वीभिरनल्पकौशलाभिः शिल्पकारिणीभिरनेकच्छन्नकिंकरैश्च गूढपुरुषैः परिवृतोऽभ्येत्य विविधाभिः क्रीडाभिर्विहारभद्रमात्मसादकरोत्। अमुना चैव संक्रमेण राजन्यास्पदमलभत। लब्धरन्ध्रश्च स यद् यद् व्यसनमारभते तत् तथेत्यवर्णयत्—

स्थानं यस्य सः, पदस्थ इति भावः। तिष्ठेयं वर्तमानः स्याम्।

१७. एवं गत इति—एवं गते इमाम् अवस्थां प्राप्ते; राज्ञा अवधीरिते, मुद्रितजिह्वे तिष्ठति। कामवृत्ते कामे वृत्तः सक्तः परायणो वा, तस्मिन्। असद्वृत्तः असद् अनुचितं यथा स्यात् तथा वृत्तः व्यापृतः; दुराचारपरायण इत्यर्थः। पित्रा जनकेन निर्वासितः गृहाद् निष्कासितः। चारणगणैः गायकसमूहैः। अनल्पं पर्याप्तं कौशलं प्रावीण्यं यासां ताभिः, परमकुशलाभिरित्यर्थः। शिल्पकारिणीभिः शिल्पं चित्रादिकं तत्कर्तुं शीलम् आसां, ताभिः शिल्पिनीभिः। **अनेकेति**—अनेके वहवः छन्नाः गुप्ताः किंकराः, दासाः, तैः। गूढाः पुरुषाः, गुप्तचरा इति यावत्। तैः। आत्मसात् आत्मपक्षे वशीभूतं वा। अमुना तेन। संक्रमेण सहगमनेन सेतुना वा; 'सम्मेलनेन' इति वालवोधिनी; सेतुरूपेण तेन विहारभद्रेण सह गमनेन शनैः शनैः इति भावः। राजनि अनन्तवर्महृदि आस्पदं स्थानम् अलभत प्राप्नोत; राज्ञः मनसि अपि प्रतिष्ठापात्रतां गतः इति भावः। **लब्धेति**—लब्धं प्राप्तं रन्ध्रं दुर्वलस्थानं येन सः। व्यसनं 'स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यार्थदूषणे। दण्डपारुष्यमित्येतन्महाव्यसनसप्तकम्' इति वैजयन्ती। तत् व्यसनम्। तथा, प्रशंसनीयं कर्म इति। अवर्णयत् ख्यापितवान्।

[चन्द्रपालितेन कृता व्यसनानां प्रशंसा—मृगया]

१८. 'देव, यथा मृगया ह्यौपकारिणी[४६] न तथान्यत् । अत्र हि व्यायामोत्कर्षादापत्सूपकर्ता दीर्घाध्वलङ्घनक्षमो जङ्घाजवः, कफापचयादारोग्यैकमूलमाशयाग्निदीप्तिः,मेदोपकर्षादङ्गानां स्थैर्यकार्कश्यातिलाघवादीनि, शीतोष्णवातवर्षक्षुत्पिपासासहत्वं, सत्त्वानामवस्थान्तरेषु चित्तचेष्टितज्ञानं, हरिणगवलगवयादिवधेन सस्यलोपप्रतिक्रिया, वृकव्याघ्रादिघातेन स्थलपथशल्यशोधनं, शैलाटवीप्रदेशानां

---

१८. देवेति—इतः परं चन्द्रपालितस्य व्यसनप्रशंसा निरूप्यते । मृगया आखेटः । औपकारिणी लाभप्रदा । व्यायामस्य परिश्रमस्य उत्कर्षाद् आधिक्यात् । दीर्घः विस्तृतः अध्वा मार्गः, तस्य लङ्घने क्रमणे क्षमः समर्थः । जङ्घयोः जवः वेगः, शक्तिरिति भावः । कफेति—कफस्य श्लेष्मणः अपचयात् नाशात् । आरोग्यस्य स्वास्थ्यस्य एकमेव मूलं कारणम् । आशयस्य आमाशयस्य—जठरस्य अग्नेः अनलस्य दीप्तिः वर्धनम् । मेदसः भाषायां 'चर्बी' इति ख्यातस्य शरीरस्थधातुविशेषस्य अपकर्षात् क्षयात् । अंगानां हस्तपादादीनाम् । स्थैर्यं स्थिरता । कार्कश्यं काठिन्यम् । शीतेति—शीतादीनि सोढुं शक्तिः । सत्त्वानां प्राणिनाम् । अवस्थान्तरेषु विविधासु परिस्थितिषु । चित्तेति—चित्तस्य मनसः चेष्टितानां व्यापाराणां ज्ञानम् । गवलः वनमहिषः । गवयः गोसदृशः वन्यः पशुः । सस्यस्य कृषिफलस्य यः लोपः नाशः, तस्य प्रतिक्रिया निवारणोपायः । वृकः आरण्यः श्वा । व्याघ्रः शार्दूलः । तादृशानां हिंसकपशूनां घातेन वधेन । स्थलेति—स्थले भूम्यां पन्थाः

---

४६. ह्यौपकारिकी

विविधकर्मक्षमाणामालोचनम्, आटविकवर्गविश्रम्भणम्, उत्साहशक्तिसंधुक्षणेन प्रत्यनीकवित्रासनमिति बहुतमा गुणाः ।

[द्यूतम्]

१९. द्यूतेऽपि द्रव्यराशेस्तृणवत्त्यागादनुपमानमाशयौदार्यं, [५०]जयपराजयानवस्थानाद्धर्षविषादयोरविधेयत्वं, पौरुषैक-

---

मार्गः, तस्य शल्यानां कण्टकानां शोधनम् उद्धरणम् । शैलानि पर्वताः, अटव्यः वनानि च, तासां प्रदेशानां स्थलानाम् । आलोचनं निरीक्षणम् । आटविकाः वनेचराः, तेषां वर्गः समूहः, तेषु विश्रम्भणं विश्वासोत्पादनम् । उत्साहः साहसं पराक्रमो वा, तस्य शक्तेः सामर्थ्यस्य संधुक्षणेन वर्धनेन । प्रत्यनीकानां शत्रुसेनानां वित्रासनं भयोत्पादनम् । बहुतमाः अत्यधिकाः । कालिदासोऽपि मृगयायामेतान् गुणान् निर्दिशति—

"मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ॥"

१९. द्यूतेऽपीति—इदानीं द्यूतस्य गुणवत्ता प्रतिपाद्यते । द्यूते अक्षक्रीडायाम् । द्रव्यराशेः धनसम्पत्तेः तृणवत् अक्लेशेन हेलया वा । अनुपमानम् अतुलनीयमसाधारणं वा । आशयस्य मनसः औदार्यम् असंकीर्णता स्फीतिः वा । अनवस्थानात् अनिश्चयात् । द्यूते कदा जयः स्यात् कदा पराजयो वा इति निश्चयेन न ज्ञायते । पराजयात्परा-जयमनुभवन् अपि द्यूतकरः जयस्याशया हर्षशोकयोः हीनः प्रतिभाति । अत एवाह—हर्षः आनन्दः, विषादः दुःखं शोको वा, तयोः अविधेयत्वम् अनधीनत्वम्—अवशवर्तित्वम् । पौरुषस्य पुरुषोचितकर्मणः—पराक्रमस्य

---

५०. जयपराजयोरनवस्थानाद्

निमित्तस्यामर्षस्य वृद्धिः, अक्षहस्तभूम्यादिगोचराणामत्यन्तदुरुप-लक्ष्याणां कूटकर्मणामुपलक्षणादनन्तबुद्धिनैपुण्यम्, एकविषयोप-संहाराच्चित्तस्यातिचित्रमैकाग्र्यम्, अध्यवसायसहचरेषु साहसेष्वतिरतिः,[५१] अतिकर्कशपुरुषप्रतिसंसर्गादनन्यधर्षणीयता, मानावधारणम्,[५२] अकृपणं च शरीरयापनमिति[५३] ।

[उत्तमाङ्गनोपभोगः]

२०. उत्तमाङ्गनोपभोगेऽप्यर्थधर्मयोः सफलीकरणं, पुष्कलः

एकनिमित्तं मूलकारणं, तस्य । अमर्षस्य क्रोधस्य । वृद्धिः स्फीतिः । **अक्षेति**—अक्षाः पाशाः, तेषां हस्ताः प्रयोगाः, प्रक्षेपाः वा; भूम्यादिषु अक्षफलकस्थकोष्ठादिषु गोचराणां गतीनाम् । अत्यन्तम् अतिशयेन दुरुपलक्ष्याणां दुःखेन अवगन्तुं योग्यानाम् । कूटकर्मणां कपटव्यवहाराणाम् । उपलक्षणात् ज्ञानात् । अनन्तम् अगाधं बुद्धेः मतेः नैपुण्यं कौशलम् । **एकेति**—एकस्मिन् एकाकिनि विषये वस्तुनि उपसंहारात् चित्तस्य केन्द्रीकरणात् । अतिचित्रं विलक्षणम् । ऐकाग्र्यं स्थैर्यम् । **अध्यवसायेति**—अध्यवसायः परिश्रमः, तस्य सहचरेषु अनुगामिषु सखिषु वा । साहसेषु वीरकर्मसु । अतिरतिः परमप्रीतिः । **अतीति**—अतिकर्कशैः कठोरतमैः पुरुषैः जनैः सह प्रतिसंसर्गाद् संगत्याः व्यवहारात् वा । अनन्यधर्षणीयता अन्यैः परिभवनीयतायाः अभावः, अप्रधृष्यत्वमिति भावः । मानावधारणम् अभिमानदाढर्यम् । 'अभिमाननिश्चयः' इति भूषणा । अकृपणं वीतदैन्यम् । शरीरयापनं शरीरयात्रा ।

२०. **उत्तमाङ्गनेति**—इदानीम् उत्तमाङ्गनोपभोगे गुणाः वर्ण्यन्ते । उत्तमाः श्रेष्ठाः अङ्गनाः प्रशस्तावयवाः स्त्रियः, तासाम् उपभोगः सुखलाभः, तस्मिन् । अर्थः धनादिराज्यतन्त्रलोकव्यवहारादिसमूहः, धर्मः धार्यते इति । धारयति इति वा धर्मः; धर्मे यज्ञदानतपआदीनि कर्माणि

---

५१. अभिरतिः ५२. ० धीरणाम् ५३. ० शरीरवापनमिति

पुरुषाभिमानः, भावज्ञानकौशलम्, अलोभक्लिष्टमाचेष्टितम्, अखिलासु कलासु वैचक्षण्यम्, अलब्धोपलब्धिलब्धानुरक्षणरक्षितोपभोगभुक्तानुसन्धानरुष्टानुनयादिष्वजस्रमभ्युपायरचनया बुद्धिवाचोः पाटवम्, उत्कृष्टशरीरसंस्कारात् सुभगवेषतया लोकसम्भावनीयता,[५८] परं सुहृत्प्रियत्वं, गरीयसी परिजनव्यपेक्षा, स्मितपूर्वाभिभाषित्वम्, उद्रिक्तसत्त्वता, दाक्षिण्यानुवर्तनम्,

---

क्रियन्ते; एतयोः द्वयोः पुरुषार्थयोः । सफलीकरणं साफल्यापादनम् । पुष्कलः प्रभूतः । पुरुषस्य पुरुषत्वस्य अभिमानः गर्वः; पुरुषाय उचितः अभिमानः इति वा । भावानां मनोवृत्तीनां ज्ञाने अवबोधे कौशलं प्रावीण्यम् । अलोभेति—लोभेन क्लिष्टं व्याप्तं, तत् न भवति इति; गार्ध्यहीनमित्यर्थः । आचेष्टितं कर्म । वैचक्षण्यं प्रावीण्यम् । **अलब्धेति**—अलब्धेत्यादिः अनुनयादिपर्यन्तं द्वन्द्वः समासः । अलब्धस्य अप्राप्तस्य उपलब्धिः प्राप्तिः । लब्धस्य प्राप्तस्य अनुरक्षणं सततं पालनम् । रक्षितस्य सुष्ठु धारितस्य उपभोगः सेवनम् । भुक्तस्य सेवितस्य वस्तुनः अनुसन्धानं निरीक्षणम् । 'स्मृतिः' इति पदचन्द्रिका । रुष्टस्य रोषयुक्तस्य अनुनयः प्रीणनम् । अजस्रं सततम् । अभ्युपायरचनया उपायानां प्रयोगेण । बुद्धिः मतिः, वाक् भाषणं, तयोः । पाटवं चातुर्यम् । उत्कृष्टेति—उत्कृष्टः उत्तमः शरीरस्य देहस्य संस्कारः परिष्कृतिः, तस्मात् । सुभगः सुन्दरः वेषः वस्त्रादिसज्जा, तस्य भावः, तया । लोकसम्भावनीयता लोकमनोऽभिरामता । सुहृदां मित्राणां प्रियः अभीष्टः, तस्य भावः; अथवा—सुहृदः प्रियाः यस्य, तस्य भावः । गरीयसी सुविपुला परिजनानां व्यपेक्षा आदरः प्रणयो वा । स्मितम् ईषद्धसितं पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा अभिभाषित्वम् वार्तालापः । उद्रिक्ता

---

५८. ०नीयतया

अपत्योत्पादनेनोभयलोकश्रेयस्करत्वमिति ।

[पानम्]

२१. पानेऽपि नानाविधरोगभङ्ग†पटीयसामासवानामासेवनात् स्पृहणीयवयोऽवस्थापनम्[५५], अहंकारप्रकर्षादशेषदुःखतिरस्करणम्, अङ्गजरागदीपनादङ्गनोपभोगशक्तिसंधुक्षणम्, अपराधप्रमार्जनान्मनः[५६]शल्योन्मार्जनम्[५७], अश्राव्यशंसिभिरनर्गलप्रलापै[५८]र्विश्वासोपबृंहणं, मत्सराननुबन्धादानन्दैकतानता, शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां सातत्येनानुभवः, संविभाग-

---

उपचिता सत्त्वता उत्साहः । अनुवर्तनं व्यवहारः । अपत्यानां सन्तानानाम् उत्पादनेन जननेन । उभयोः लोकयोः श्रेयस्करत्वं कल्याणप्रदत्वम् ।

२१. पान इति—इदानीं सुरापानेऽपि गुणाः सन्तीति वर्ण्यते । नानाविधानाम् अनेकप्रकाराणां रोगाणां गदानां भङ्गे नाशे पटीयसां कुशलानाम् । रागेति पाठे—"रागाणां विषयाभिलाषाणाम् । भङ्गे तरंगे विच्छित्तौ वा" इति बालबोधिनी । आसवानां मद्यानाम् । आसेवनात् पानात् । स्पृहणीयं कमनीयं वयः यौवनं, तस्य अवस्थापनम् आधानम् । अहंकारस्य आत्माभिमानस्य प्रकर्षाद् आधिक्यात् । दुःखानां कष्टानां तिरस्करणम् अधःकरणं व्यपोहनं वा । अङ्गजेति—अंगजरागस्य कामवेगस्य दीपनाद् वर्धनात् । संधुक्षणं वर्धनम् । अपराधप्रमार्जनात् अपराधानां विस्मृतेः । मनःशल्यस्य चित्तस्थशूलस्य उन्मार्जनं दूरीकरणम् । अश्राव्यशंसिभिः रहस्यप्रकाशकैः । अनर्गलप्रलापैः यथेष्टानर्थकवचनैः । उपबृंहणं वर्धनम् । मत्सरेति—मत्सरस्य ईर्ष्यायाः अननुबन्धात् अधारणात्, त्यागात् इति भावः । आनन्दस्य सुखस्य एकतानता अनन्यः

---

†०रागभङ्ग० ५५. ०वयोव्यवस्था० ५६. मानशल्यो० ५७. उन्मूलनम् ५८. अश्राव्य

शीलतया सुहृद्वर्गसंवर्गणम्[५३], अनुपमानमङ्गलावण्यम्, अनुत्तराणि विलसितानि, भयार्तिहरणाच्च सांग्रामिकत्वमिति ।

[वाक्पारुष्यदारुणदण्डार्थदूषणानि]

२२. वाक्पारुष्यं दण्डो दारुणो दूषणानि चार्थानामेव यथावकाशमौपकारिकाणि । नहि मुनिरिव नरपतिरुपशमरतिरभिभवितुमरिकुलमलम्, अवलम्बितुं च लोकतन्त्रम् इति ।

(अनन्तवर्मराज्येऽनाचारः)

२३. असावपि गुरूपदेशमिवात्यादरेण तस्य मतमन्ववर्तत ।

विस्तारः । शब्दादयः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः इन्द्रियाणाम् अर्थाः विषयाः । संविभागशीलतया मित्रादिभ्यः सहपायिभ्यः आसववितरणेन । संवर्गणम् एकीकरणम् । अंगलावण्यं शरीरसौंदर्यम् । अनुत्तराणि विलक्षणानि अलौकिकानि वा । विलसितानि कामक्रीडाः चेष्टाः वा । आर्तिः दुःखम् । सांग्रामिकत्वं रणवीरत्वम् ।

२२. वाक्पारुष्यमिति—इदानीं शेषाणां त्रयाणां व्यसनानां—वाक्पारुष्यदारुणदण्डार्थदूषणानां गुणान् वक्ति । वाचः भाषणस्य पारुष्यं कठोरता । दारुणः कठोरः । दण्डः नियन्त्रणम् । अर्थानां धनानाम् । दूषणानि दुरुपयोगादयो दोषाः । यथावकाशं यथासमयम् । औपकारिकाणि लाभकराणि । भवन्तीति शेषः । न हीति—मुनिः अहिंसापरायणः वनवासी इति भावः । उपशमे मनःसंयमे–शान्तौ, अहिंसायां वा रतिः अभिरुचिः यस्य सः । अभिभवितुं विजेतुम् । अलं समर्थः । अवलम्बितुं धारयितुम् । लोकतन्त्रं प्रजाशासनाधिकारम् ।

२३. असावपीति—असौ अनन्तवर्मा । तस्य चन्द्रपालितस्य । अन्ववर्तत अपालयत्, तदनुसारम् अकरोत् इति भावः । तस्य शीलं वृत्तं

---

५३. सवर्धनम्

तच्छीलानुसारिण्यश्च प्रकृतयो विश्रृङ्खलमसेवन्त व्यसनानि। सर्वश्च समानदोषतया न कस्यचिच्छिद्रान्वेषणायायतिष्ट। समानभर्तृ प्रकृतयस्तन्त्राध्यक्षाः स्वानि कर्मफलान्यभक्षयन्। ततः क्रमादायद्वाराणि व्यशीर्यन्त। व्ययमुखानि विटविधेय[६०]तया विभोरहरहर्व्यवर्धन्त। सामन्तपौरजानपदमुख्याश्च समानशील-

---

तच्छीलम्, तत् अनुसर्तुम् अनुकर्तुम् अनुवर्तितुं वा शीलं यासां ताः; तस्य स्वभावस्यानुगामिन्यः इति भावः। प्रकृतयः प्रजाः। विश्रृङ्खलं स्वैरम्। समानः दोषः दुर्गुणः यस्य सः, तस्य भावः समानदोषता, तया। छिद्रस्य दोषस्य अन्वेषणाय आविष्करणाय। अयतिष्ट प्रयत्नमकरोत्। **समानेति**—समानाः सदृशाः भर्ता प्रकृतयश्च येषां,ते; समानाः भर्त्रा प्रकृतिभिः वा, अथवा समाना सदृशा भर्तुः स्वामिनः प्रकृतिः स्वभावः येषां, ते तन्त्राध्यक्षाः शासनाधिकारिणः। स्वानि स्वतन्त्रसम्बंधीनि। कर्मफलानि करादिरूपेण प्राप्तानि धनानि। 'पूर्वसुकृतफलानि' इति बालबोधिनी। 'तत्तत्कर्मणि लब्धानि राजधनानि' इति पदचन्द्रिका। अभक्षयन् आत्मसात् अकुर्वन्; राज्यकोपे नायच्छन् इति भावः। क्रमात् शनैः शनैः। आयद्वाराणि धनागमोपायाः। व्यशीर्यन्त अनश्यन् व्ययमुखानि धननिर्गमन द्वाराणि। विटविधेयतया विटानां विधेयता, तया विनयग्राहितया-वशवर्तितया; विटोपदेशानुसारमाचरणेन इति भावः। वैधेयतया इति पाठे मूर्खतया। विटः पिंगः तस्य लक्षणं विश्वनाथ एवं ददाति—

"संभोगहीनसंपद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्॥"

विभोः राज्ञः। अहरहः प्रतिदिनम्। **सामन्तेति**—सामन्ताः मण्डलस्वामिनः, पौरमुख्याः पुरे नगरे भवाः प्रमुखाधिकारिणः, जानपद-

---

६०. वैधेय

-तयोपारूढविश्रम्भेण राज्ञा सजानयः[६१] पानगोष्ठीष्वभ्यन्तरीकृताः स्वं स्वमाचारमत्यचारिषुः। तदङ्गनासु चानेकापदेशपूर्वमपाचरन्नरेन्द्रः। तदन्तःपुरेषु चामी भिन्नवृत्तेषु मन्दत्रासा वहुसुखैरवर्तन्त। सर्वश्च कुलाङ्गनाजनः [६२]पांसुलजनभङ्गिभाषणरतो भग्नचारित्रयन्त्रणस्तृणायापि न गणयित्वा भर्तॄन् धातृगणमन्त्रणान्यशृणोत्। तन्मूलाश्च कलहाः सामर्षाणामुदभवन्। अहन्यन्त दुर्वला वलिभिः। अपहृतानि धनवतां धनानि

मुख्याः जनपदे देशे ग्रामे वा भवाः प्रमुखाः अधिकारिणः। समानशीलतया सदृशस्वभावत्वेन। उपारूढः समुत्पन्नः विश्रम्भः विश्वासः यस्य, तेन। सजानयः स्त्रीसहिताः। पानगोष्ठीषु मद्यपानसभासु। अभ्यन्तरीकृताः प्रवेशिताः। अत्यचारिषुः अतिक्रमणं कृतवन्तः। **तदङ्गनेति**—तदङ्गनासु तेषां सामन्तादीनां जायासु। अनेके वहवः अपदेशाः व्याजाः पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा; सव्याजमित्यर्थः। अपाचरन् व्यभिचारमकरोत्। तदन्तःपुरेषु तस्य राज्ञः अन्तःपुरेषु अवरोधेषु, स्त्रीषु इत्यर्थः। अमी सामन्तादयः। भिन्नं वृत्तं येषां तेषु भिन्नवृत्तेषु नष्टचारित्रेषु अन्तःपुरेषु। मन्दत्रासाः क्षीणभयाः, निर्भया इति यावत्। **पांसुलजनेति**—पांसुलाः मलिनाः च ते जनाः च, लम्पटाः पुरुषाः इति यावत्, तेषां भङ्गिभाषणं वक्रोक्तयः, तत्र रतः आसक्तः। **भग्नेति**—भग्ना शीर्णा चारित्रस्य शीलस्य यन्त्रणा संयमः यस्य सः। धातृगणाः जाराः, तेषां मन्त्रणानि वचनानि। तन्मूलाः तानि कर्माणि मूलं कारणं येषां ते। सामर्षाणां तादृशः आचारस्य असहिष्णूनाम्। वलिभिः शक्तिशालिभिः।

---

६१. सजायाः; सजानपदाः

६२. सलग्नसुलभभङ्गि०; -सुलग्नसुलभभङ्गि०

तस्करादिभिः । [६३]अपहृतपरिभूतयः प्रहृताश्च पातकपथाः । हतबान्धवा हृतवित्ता वधबन्धातुराश्च मुक्तकण्ठमाक्रोशन्नश्रु-कण्ठ्यः प्रजाः । दण्डश्चायथाप्रणीतो भयक्रोधावजनयत् । कृश-कुटुम्बेषु लोभः पदमधत्त । विमानिताश्च तेजस्विनो [६४]माने-नादह्यन्त ।

[अनन्तवर्मराज्ये परोपजापाः]

२४. तेषु तेषु चाकृत्येषु प्रासरन् परोपजापाः । तदा च

अपहृतानि अपनीतानि । तस्करादिभिः चौरादिभिः । **अपहृतेति**— अपहृताः गताः परिभूतयः परिभवाः येभ्यः ते । 'परिहृतयः परिहाराः' इति भूषणा । प्रहृताः अनुसृताः । पातकानां पापानां पन्थानः मार्गाः । हताः नष्टा बान्धवाः सम्बंधिनः यासां, ताः । हृतं मुषितं वित्तं धनं यासां ताः । वधेन हिंसया बन्धेन कारागारादिषु प्रक्षेपेण च आतुराः पीडिताः । मुक्तकण्ठम् उच्चैः स्वरेण इति यावत् । आक्रोशन् आक्रन्दयन् । अश्रु-कण्ठ्यः अश्रूणि कण्ठे यासां, ताः; वाष्पगद्गदस्वराः इति भावः । अयथाप्रणीतः न्यायेन न प्रणीतः प्रयुक्तः; दण्ड्याः न दण्डिताः, अदण्ड्याः दण्डिताः; घोरेऽपराधे मृदुः, अल्पे अपराधे च कठोरः—एवंविधो दण्डः आसीदिति भावः । कृशेषु निर्धनेषु कुटुम्बेषु परिवारेषु; अथवा—कृशः कुटुम्बः येषां, तेषु; उभयत्र धनहीनेषु इति भावः । पदमधत्त प्राविशत् । विमानिताः अपमानिताः । तेजस्विनः प्रचण्डाः, वीराः वा । मानेना-दह्यन्त आत्मसम्मानेन अपीड्यन्त; प्रतीकारभावनया युक्ताः अभूवन् इति भावः ।

२४. **तेष्विति**—तेषु तेषु विविधेषु । अकृत्येषु दुष्कर्मसु । परोप-जापाः शत्रुप्रयुक्ताः भेदाः । तदा यस्मिन् काले शत्रुप्रयुक्ताः कपटनीतयः

---

६३. अपहृतपरिहृतयः   ६४. ०नोऽमानेन ।

[६५]मृगयुवेषमृगबाहुल्यवर्णनेनाद्रिद्रोणीरनपसारमार्गाः शुष्कतृणवंशगुल्माः प्रवेश्य द्वारतोऽग्निविसर्गैः, व्याघ्रादिवधे प्रोत्साह्य तन्मुखपातनैः, इष्टकूपतृष्णोत्पादनेनातिदूरहारितानां प्राणहारिभिः क्षुत्पिपासाभिवर्धनैः, [६६]तृणगुल्मगूढच्छन्नतटप्रदरपातहेतुभिर्विषममार्गप्रधावनैः, विषमुखीभिः क्षुरिकाभिश्चरणकण्टकोद्धरणैः, विष्वग्विसर[६७]विच्छिन्नानुयातृतयैकाकी-

---

विविधानि दुष्कर्माणि समपादयन् तस्मिन् काले । मृगयुवेषेति—मृगयुः व्याधः, तेषां वेषे रूपे मृगाणां हरिणादिवन्यपशूनां बाहुल्यस्य प्रचुरतायाः वर्णनेन कथनेन; प्रोत्साह्य इति शेषः । अद्रिद्रोणीः उपत्यकाः । अनपसारमार्गाः निर्गमनमार्गहीनाः । शुष्काणि अनार्द्राणि तृणानि घासः वंशाः कीचकाः गुल्माः कण्टकादीनां स्तम्बाः च यासु ताः । अग्निविसर्गैः अग्निदानैः तृणादीनि अग्निसात् कृत्वेति भावः । तस्य व्याघ्रादेः मुखे आनने पातनैः प्रक्षेपणैः; व्याघ्रादिनामाक्रमणपरिधौ आनीय असहायान् परित्यज्य स्वयमपसृत्य; व्याघ्रादीनां कवलं सम्पाद्येति भावः । इष्टकूपेति—इष्टाय अभिमताय कूपाय उदपानाय तृष्णायाः लालसायाः उत्पादनेन सृजनेन । प्राणान् हर्तुं नाशयितुं शीलं येषां, तैः । क्षुत् बुभुक्षा । तृणेति—तृणैः गुल्मैः च गूढं गुप्तं यथा स्यात् तथा छन्नेषु आच्छादितेषु तटेषु उन्नतप्रदेशेषु प्रदरेषु नीचभागेषु च पातहेतुभिः पातनैः; तादृशेषु स्थानेषु पातयित्वेति सारः । विषमेषु कठिनेषु मार्गेषु पथिषु प्रधावनैः द्रुतगत्या चालनैः वेगेन गमनैः वा । तान् निम्नोन्नतप्रदेशेषु सवेगं गमयित्वा अवः अपातयन् इति भावः । विषेति—विषं गरलं मुखे अग्रभागे यासां, ताभिः । विषदिग्धाभिः । चरणात् पादात् कण्टकानाम् उद्धरणैः निष्कासनैः । अस्मिन् कर्मणि क्षुरिकामुखाग्राणां विषः

---

६५. मृगाटवीषु मृगबाहु० ६६. गुलमतृण ६७. प्रचार

कृतानां यथेष्टघातनैः, मृगदेहापराद्धैर्नमिषुमोक्षणैः, सपणबंधमधिरुह्याद्रिश्रृङ्गाणि दुरधिरोहाण्यनन्यलक्ष्यैः प्रभ्रंशनैः, आटविकछद्मना विपिनेषु विरलसैनिकानां प्रतिरोधनैः, अक्षद्यूतपक्षियुद्धयात्रोत्सवादिसंकुलेषु बलवदनुप्रवेशनैरितरेषां हिंसोत्पादनैः, गूढोत्पादितव्यलीकेभ्योऽप्रियाणि प्रकाशं लब्ध्वा साक्षिषु तद्विख्याप्याकीर्तिगुप्तिहेतुभिः पराक्रमैः, परकलत्रेषु सुहृत्त्वे-

---

रक्तसंचारेण सह चरणात् शरीरे व्याप्य जनान् नाशयति। विष्वक् सर्वतः यो विसरः विचरणं, तेन विच्छिन्नाः पृथग्भूताः अनुयातारः अनुचराः येषां, तेषां भावः; तया। एकाकीकृतानाम् अन्येभ्यः वियुज्य एककः एव कृतानां सम्पादितानाम्। यथेष्टघातनैः इच्छानुसारं वधैः। मृगदेहेति—मृगाणां हरिणानां देहेभ्यः शरीरेभ्यः अपराद्धैः लक्ष्यच्युतैः। इषुमोक्षणैः बाणप्रक्षेपैः। सपणबन्धं पणस्य समयस्य बन्धः करणं, तेन सह यथा स्यात् तथा; समयं कृत्वा इति भावः। दुरधिरोहाणि दुःखेन आक्रमितुं योग्यानि। अनन्यलक्ष्यैः इतरैः अदृष्टैः। प्रभ्रंशनैः पातनैः। आटविकाः शबराः, तेषां छद्मना कपटेन व्याजेन वा। विरलाः अल्पाः सैनिकाः योधाः येषां, तेषाम्; एवंविधराजपुरुषाणामिति भावः। अथवा विरलानाम् अल्पसंख्याकानां सैनिकानां भटानाम्। प्रतिरोधनैः प्रतियोधनैः। अक्षेति—अक्षाः पाशाः, द्यूतः पणः, पक्षिणां खगानां युद्धं संग्रामः, यात्राः बहिर्गमनरूपाः, उत्सवः महः। तानि आदौ येषां, तेषां संकुलेषु संरम्भेषु। बलवद् सरभसम्। अनुप्रवेशनैः गमनैः। हिंसोत्पादनैः वधैः। गूढेति—गूढं गुप्तं यथा स्यात् तथा उत्पादितेभ्यः जनितेभ्यः व्यलीकेभ्यः दुःखेभ्यः। अप्रियाणि दुःखानि वेदनानि, अभियोगान् वा। प्रकाशं सर्वप्रत्यक्षम्। साक्षिषु तद् विख्याप्य पूर्वं तम् अभियोगविषयं साक्षिणः कथयित्वा, पश्चात् अभियोगश्रवणे तदेव तैः साक्षिभिः श्रावयित्वा इत्याशयः। अकीर्तीति—अकीर्तिः अपयशः, तस्याः गुप्तिः अप्रकाशनं

नाभियोज्य जारान् भर्तृनुभयं[६८] वा प्रहृत्य तत्साहसोपन्यासैः, [६९]योगनारीहारितानां संकेतेषु प्रागुपनिलीय पश्चादभिद्रुत्या-कीर्तनीयैः प्रमापणैः, उपप्रलोभ्य विलप्रवेशेषु निधानखननेषु मंत्र-साधनेषु च विघ्नव्याजसाध्यैर्व्यापादनैः, मत्तगजाधिरोहणाय प्रेर्य प्रत्यपायनिवर्तनैः[७०], व्यालहस्तिनं कोपयित्वा लक्ष्यीकृत-मुख्यमण्डलेष्वपक्रमणैः,[७१] दायाद्यर्थे विवदमानानुपांशु

हेतुः कारणं येषां, तैः । पराक्रमैः हिंसादिसाहसकर्मभिः । परकलत्रेषु परकीयासु स्त्रीषु । सुहृत्त्वेन मित्ररूपेण । अभियोज्य संगमय्य । भर्तॄन् कलत्राणां पतीन् । उभयं पतिं कलत्रं च । प्रहृत्य हत्वा । तस्य साहसस्य दुष्कर्मणः उपन्यासैः प्रख्यापनप्रबन्धैः । योगनारीति—योगा नारी; 'योगो विस्रब्धघाती स्यात् इति कोपः' इति पदचन्द्रिका; याः जनं प्रलोभ्य स्थानविशेषेषु नीत्वा तं घातयन्ति, ताः प्रयोजनविशेषेण नियोजिताः नार्यः योगनार्य उच्यन्ते; तादृशीभिः युवतिभिः हारितानां प्रलोभितानाम् । संकेतेषु निश्चितेषु स्थानेषु । उपनिलीय प्रच्छन्नं स्थित्वा । अभिद्रुत्य आक्रम्य । अकीर्तनीयैः निन्दनीयैः । प्रमापणैः हिंसनैः । विलानि संकुचितद्वाराणि सान्धकाराणि भूमिगतानि पशुभिरुत्खातानि छिद्राणि; गुहाः वा । निधानखननेषु धनादेः भूमिस्थस्य गूढकोपस्य अवदारणेषु । मन्त्रसाधनेषु तन्त्रादिग्रन्थेषु विहितान् विधीन् अनु-सृत्य मन्त्रान् संसाध्य अलौकिकाः शक्तीः प्राप्नुवन्ति जनाः इति प्रसिद्धिः; तादृशेषु मन्त्रसिद्धिकर्मसु इत्यभिप्रायः; एतेषु सर्वेषु कर्मसु बहुविधाः बाधाः मनुष्यं प्रहरन्तीति सर्वे जानन्ति । व्यापादनैः हिंसनैः । प्रत्यपायाः नाशप्रतिबन्धकाः उपायाः, तेषां निवर्तनैः दूरीकरणैः अप्रयोगैः वा । व्यालहस्ती दुष्टो गजः, तम् । लक्ष्यीति—लक्ष्यीकृतानि शरव्यीकृतानि

६८. भर्तृभयमपहृत्य ६९. योग्य ७०. प्रत्यवायनिर्वर्तनैः
७१. अक्रमपणैः; अभर्पणैः

हत्वा प्रतिपक्षेष्वयशःपातनैः, सामन्तपुरजनपदेष्वयथावृत्तान-प्रकाशमभिप्रहृत्य तद्वैरिनामघोषणैः, [७२]योगाङ्गनाभिरहर्निशमभिरमय्य राजयक्ष्मोत्पादनैः,वस्त्राभरणमाल्याङ्गरागादिषु [७३]रसविधानकौशलैः, चिकित्सामुखेनामयोपबृंहणै[७४]रन्यैश्चाभ्युपायैरश्मकेन्द्रप्रयुक्तास्तीक्ष्णरसदादयः प्रक्षपितप्रवीरमनन्तवर्मकटकं जर्जरमकुर्वन् ।

[वसन्तभानोः षड्यन्त्रं वानवास्यस्य च विद्रोहः]

२५. अथ वसन्तभानुर्भानुवर्माणं नाम वानवास्यं प्रोत्साह्यानन्तवर्मणा व्यग्राहयत् । तत्परामृष्टराष्ट्रपर्यन्तश्चानन्तवर्मा

मुख्यानां प्रधानपुरुषाणां मण्डलानि समूहाः, तेषु । अपक्रमणैः मोचनैः । दायः पितृपितामहादिभ्यः प्राप्तं धनादिकम् । उपांशु गूढम् । प्रतिपक्षेषु अरिषु, अनन्तवर्मणः पुरुषेषु, यतः एते सर्वे तस्य शत्रोरुपजापाः सन्ति । अयथावृत्तान् कुपथगामिनः । तस्य वैरिणां शत्रूणां घोषणैः प्रख्यापनैः । योगांगनाभिः औषधविशेषभक्षणेन मैथुने राजयक्ष्मोत्पादकगुणैः युक्ताः स्त्रियः योगांगनाः, ताभिः । अभिरमय्य मैथुनं कारयित्वा । राजयक्ष्मा रोगविशेषः । स च घातकः भवति । रसविधानकौशलैः विषप्रयोगनैपुण्यैः । **चिकित्सेति**—चिकित्सायाः रोगनिवारणस्य मुखेन व्याजेन । आमयस्य रोगस्य उपबृंहणैः वर्धनैः । अभ्युपायैः साधनैः । तीक्ष्णं घोरं रसं विषं ददाति इति तीक्ष्णरसदः, ते आदौ येषां ते । प्रक्षपितप्रवीरं प्रक्षपिताः नाशिताः प्रकृष्टाः उत्तमाः वीराः योधाः यस्य तत् । जर्जरं शिथिलं बलहीनं वा ।

२५. **अथेति**—वानवास्यं वनवास्याः राजा, तम् । व्यग्राहयत् युद्धे प्रावर्तयत् । तेन परामृष्टः आक्रान्तः राष्ट्रस्य राज्यस्य पर्यन्तः

---

७२. योग्या ७३. रसधान ७४. उपवर्हणैः

तमभियोक्तुं वलसमुत्थानमकरोत् । सर्वसामन्तेभ्यश्चाश्मकेन्द्रः प्रागुपेत्यास्य प्रियतरोऽभूत् । अपरेऽपिसामन्ताः समगंसत । गत्वा चाभ्यर्णे[७५] नर्मदारोधसि न्यविशन् ।

२६. तस्मिंश्चावसरे महासामन्तस्य कुन्तलपतेरवन्तिदेवस्यात्मनाटकीयां क्ष्मातलोर्वशीं नाम चन्द्रपालितादिभिरतिप्रशस्तनृत्यकौशलामाहूयानन्तवर्मा नृत्यमद्राक्षीत् । अतिरक्तश्च भुक्तवानिमां मधुमत्ताम्[७६] । अश्मकेन्द्रस्तु कुन्तलपतिमेकान्ते समभ्यधत्त—'प्रमत्त एष राजा कलत्राणि नः परामृशति । कियत्यवज्ञा सोढव्या । मम शतमस्ति हस्तिनां पञ्चशतानि च ते । तदावां संभूय मुरलेशं वीरसेनमृषीकेश[७७]मेकवीरं

सीमाप्रदेशः यस्य सः । अभियोक्तुं युद्धे आक्रमितुम् । वलस्य सेनायाः समुत्थानं प्रयाणम् । अस्य अनन्तवर्मणः । प्रियतरः अन्येभ्योऽधिकः प्रियः प्रियतरः । समगंसत अमिलन् । अभ्यर्णे समीपे । रोधसि तीरे । न्यविशन् स्कन्धावारं स्थापितवन्तः ।

२६. तस्मिंश्चेति—महान् चासौ सामन्तः च, तस्य । आत्मनाटकीयां स्वीयां नर्तकीम् । क्ष्मातलस्य पृथिवीतलस्य । उर्वशीम् अप्सरोविशेषम्; उर्वश्याः अन्यूनामित्यर्थः । अतिप्रशस्तेति—अति प्रभूतं मुहुर्मुहुः वा प्रशस्तं श्रेष्ठं प्रशंसितमिति यावत्, कौशलं नर्तनचातुर्यं यस्याः, ताम् । अतिरक्तः कामवेगेनोन्मत्तः । भुक्तवान् सेवितवान् । मधुमत्तां मधुना आसवपानेन मत्तां निर्विवेकामुन्मदाम् । समभ्यधत्त अकथयत् । प्रमत्तः विवेकहीनः, उन्मादीति भावः । नः अस्माकं, युष्माकमस्माकं च इति भावः । परामृशति उपभुङ्क्ते; धर्षयति व्यभिचरति ।

---

७५. चाभ्यन्तरे ७६. वधुत्तमाम्; वधूत्तमाम् ७७. ऋचीके०

कोङ्कणपतिं कुमारगुप्तं [७८]नासिक्यनाथं च नागपालमुपजपाव[७९]। ते चावश्यमस्याविनयमसहमाना अस्मन्मतेनैवोपावर्तेरन् । अयं च वानवास्यः [८०]प्रियं मे मित्रम् । अमुनैनं दुर्विनीतमग्रतो व्यतिषक्तं पृष्ठतः प्राहरेम । कोशवाहनं च विभज्य गृह्णीमः' इति । हृष्टेन चामुनाभ्युपेते विंशतिं वरांशुकानां पञ्चविंशतिं काञ्चनकुङ्कुमकम्बलानां प्राभृतीकृत्याप्तमुखेन तैः सामन्तैः समन्त्र्य तानपि स्वमतावस्थापयत् ।

अवज्ञा तिरस्कारः । सोढव्या उपेक्ष्या । संभूय मिलित्वा । उपजपाव अस्माद् अनन्तवर्मणः भिनदाव । अविनयं दुःशीलताम् । अस्मन्मतेन अस्माकं विचारेण । उपावर्तेरन् सहमताः अनुकूलाः वा स्युः । वानवास्येति—वनवास्याः राजा वानवास्यः भानुवर्मा नाम । प्रियम् अन्तरङ्गं विश्वासपात्रं वचनानुवर्ति च । अमुना वानवास्येन । एनम् अनन्तवर्माणम् । दुर्विनीतं दुराचारिणम् उद्धतं वा । व्यतिषक्तं युद्धे व्यापृतम् । प्राहरेम अभिगच्छेम—आक्रमणं कुर्याम । कोशः च वाहनं च, तयोः समाहारः, तत् । विभज्य विभागं कृत्वा । अमुना कुन्तलपतिना अवन्तिदेवेन । अभ्युपेते वसन्तभानोः मते अङ्गीकृते । वरांशुकानां बहुमूल्यवस्त्राणाम् । काञ्चनकुङ्कुमकम्बलानां रक्तकेसररञ्जितकम्बलानाम् । प्राभृतीकृत्य उपायनीकृत्य । आप्तमुखेन आप्ताः विश्वस्ताः पुरुषाः, तेषां मुखेन—वचनेन इति यावत् । संमन्त्र्य विचारं कृत्वा । स्वमतावस्थापयत् सहमतान् व्यदधात् ।

---

७८. सासिक्य

७९. उपजपावः ।

८०. परम्

[अनन्तवर्मणो नाशः, वसन्तभानोश्च धूर्तता]

२७. उत्तरेद्युस्तेषां सामन्तानां वानवास्यस्य चानन्तवर्मा नयद्वेषादामिषत्वमगमत्[८१]। वसन्तभानुश्च 'तत्कोशवाहनमवशीर्णमात्माधिष्ठितमेव कृत्वा[८२]यथाबलं च विभज्य गृह्णीत। युष्मदनुज्ञया येन केनचिदंशेनाहं तुष्यामि' इति शाठ्यात् सर्वानुवर्ती तेनैवामिषेण [८३]निमित्तीकृतेनोत्पादितकलहः सर्वसामन्तानध्वंसयत्। तदीयं च सर्वस्वं स्वयमेवाग्रसत्। वानवास्यं केनचिदंशेनानुगृह्य प्रत्यावृत्य सर्वमनन्तवर्मराज्यमात्मसादकरोत्।

---

२७. उत्तरेद्युरिति—नयद्वेषात् दण्डनीतिं प्रति अवज्ञायाः कारणात्। आमिषत्वमगमत् कवलं–भोग्यवस्तु जातः; तैः हतः इत्यर्थः। तस्य अनन्तवर्मणः कोशवाहनमिति तत्कोशवाहनम्। अवशीर्णं विध्वस्तम्। आत्माधिष्ठितं स्वहस्तगतम्। यथाबलं स्वस्य स्वस्य बलस्य सेनायाः अनुरूपम्; सेनापरिमाणानुसारमित्यर्थः। युष्मदनुज्ञया युष्माकं सर्वेषां सामन्तानाम् अनुज्ञया अनुमत्या। येन केनचित् स्वल्पेनैव युष्माभिर्दत्तेन। शाठ्यात् कपटात्। सर्वानुवर्ती सर्वेषां प्रीणयिता। आमिषेण मांसकवलेन–प्रलोभनवस्तुना इति भावः। निमित्तीकृतेन कारणीभूतेन। उत्पादितः जनितः कलहः संघर्षः येन सः। अध्वंसयत् अन्योन्येन अघातयत्। अनुगृह्य प्रसादीकृत्य। प्रत्यावृत्य प्रत्यागत्य; युद्धस्थलात् शिविरं प्रत्यागत्य, अथवा स्वकीयाम् अनन्तवर्मणः वा राजधानीमुपेत्य। आत्मसात् आत्माधीनम्।

---

८१. अगच्छत् ८२. यथाप्रयासं यथाबलम्; यथान्यासं यथाबलम्

८३. निमित्तीकृत्य

[वसुरक्षितस्यापक्रमणं मृत्युश्च]

२८. अस्मिंश्चान्तरे[८४] मन्त्रिवृद्धो वसुरक्षितः कैश्चिन्मौलैः संभूय बालमेनं भास्करवर्माणमस्यैव ज्यायसीं भगिनीं त्रयोदशवर्षां मञ्जुवादिनीमनयोश्च मातरं महादेवीं वसुन्धरामादायापसर्पन्नापदोऽस्या भावितया दाहज्वरेण देहमजहात्।

[मित्रवर्महिंसाप्रक्रमाद्भास्करवर्मरक्षणम्]

२९. अस्मादृशैर्मित्रैस्तु[८५] नीत्वा माहिष्मतीं भर्तृद्वैमातुराय भ्रात्रे मित्रवर्मणे सापत्या देवी दर्शिताभूत्। तां चार्यामनार्योऽसावन्यथाभ्यमन्यत। निर्भर्त्सितश्च तया 'सुतमियमखण्डचारित्रा राज्यार्हं चिकीर्षति' इति नैर्घृण्यात्तमेनं बाल-

---

२८. **अस्मिन्निति**—मौलैः कुलक्रमागतैः प्रधानपुरुषैः। संभूय मिलित्वा ज्यायसीमग्रजाम्। भगिनीं स्वसारम्। महादेवीम् अग्रमहिषीम्। अपसर्पन् पलायमानः। भावितया नियतत्वात्। दाहज्वरेण सन्निपातज्वरेण। देहम् अजहात् शरीरम् अत्यजत्, अम्रियत इत्यर्थः।

२९. **अस्मादृशैरिति**—भर्तृद्वैमातुराय द्वयोः मात्रोरपत्यं पुमान् द्वैमातुरः; भर्तुः स्वामिनः अनन्तवर्मणः द्वैमातुराय भ्रात्रे सापत्नभ्रात्रे—विमातुः पुत्राय। सापत्या अपत्येन सहिता ससन्ताना—पुत्रपुत्रीसहिता इति यावत्। दर्शिताभूत् साक्षात्कारिता—समर्पिता। आर्यां साध्वीं पतिव्रताम्। अन्यथा औपयिकीं भार्याम्। निर्भर्त्सितः प्रत्याख्यातः। अखण्डचारित्रा सती। राज्यार्हं राज्याधिकारिणम्।

---

८४. अवसरे ८५. अस्मन्मित्रैस्तु

मजिघांसीत्[८६] । इदं तु ज्ञात्वा देव्याहमाज्ञप्तः—'तात नालीजङ्घ, जीवतानेनार्भकेण यत्र क्वचिदववाय[८७] जीव[८८] । जीवेयं चेदहमप्येनमनुसरिष्यामि । ज्ञापय मां क्षेमप्रवृत्तः स्ववार्ताम्' इति ।

[भास्करवर्मणो विन्ध्यवने आगमनम्]

३०. अहं तु संकुले राजकुले कथंचिदेनं निर्गमय्य विन्ध्याटवीं व्यगाहिषि । पादचारदुःखितं[८९] चैनमाश्वासयितुं, घोषे क्वचिदहानि कानिचिद्विश्रमय्य, तत्रापि राजपुरुषसंपातभीतो दूरा-

नैर्घृण्यात् क्रूरतया । अजिघांसीत् हन्तुमैच्छत् । आज्ञप्तः आदिष्टः । जीवता प्राणधारिणा; यावत् न हन्यते मित्रवर्मणा तावदेव इति भावः । अर्भकेण बालकेन । यत्र क्वचिद् अज्ञाते स्थाने । अववाय अवहितं (गूढं) नीत्वा परिपालयन् । जीव निवस । क्षेमप्रवृत्तः क्षेमेण कुशलपूर्वकं प्रवृत्तः इतः निर्गत्य अज्ञाते स्थाने उषितः । स्ववार्तां स्वयोः नालीजंघभास्करवर्मणोः वार्त्तां समाचारं स्थितिं वा ।

३०. अहमिति—संकुले जनैः भरिते । राजकुले राजप्रासादे । कथंचित् कष्टेन, यथा तथा वा । निर्गमय्य निष्कास्य । व्यगाहिषि प्रविष्टः । पादाभ्यां चरणाभ्यां चारः गमनं, तेन दुःखितं पीडितं, श्रान्तमिति यावत् । आश्वासयितुं विश्रमयितुं, स्वस्थतामापादयितुमिति वा । घोषे आभीरग्रामटिकायाम् । विश्रमय्य विश्रामं कारयित्वा पादचारजनितां श्रान्तिं पीडां वा अपनीय इति भावः । राजपुरुषाणां मित्रवर्मणः सेवकानां संपातात् आगमनात् भीतः त्रस्तः । दूरमध्वनि

८६. अजिघांसत् ८७. अवन्याय ८८. जीवेः

८९. दुःस्थितं; पादचारिणं

ध्वमपासरम्[६०]। तत्रास्य दारुणपिपासापीडितस्य वारि दातु-कामः कूपेऽस्मिन्नपभ्रश्य पतितस्त्वयैवमनुगृहीतः। त्वमेवास्यातः शरणमेधि विशरणस्य राजसूनोः' इत्यञ्जलिमवध्नात्।

[विश्रुतस्याश्मकेन्द्रोन्मूलनप्रतिज्ञा, भास्करवर्मणः क्षुधानिवृत्तिश्च]

३१. 'किमीया[६१] जात्यास्य माता' इत्यनुयुक्ते मयामुनोक्तम्—'पाटलिपुत्रस्य वणिजो वैश्रवणस्य दुहितरि सागरदत्तायां कोसलेन्द्रात् कुसुमधन्वनोऽस्य माता जाता' इति। 'यद्येवमेतन्मातुर्मत्पितुश्चैको मातामहः' इति सस्नेहं तमहं

इति दूराध्वं दूरमार्गं, विप्रकृष्टान्तरे इति भावः। दारुणा घोरा कष्टदायिनी पिपासा तृषा, तया पीडितः दुःखितः, तस्य। दातुं कामः इच्छा यस्य सः दातुकामः—दातुमनाः। अपभ्रश्य स्खलित्वा। अनुगृहीतः कृपां प्रदर्श्य निष्कासितः आश्वासितश्च। अतः अस्मात् परं कारणात् वा। शरणम् आश्रयः, रक्षकः इति भावः। एधि भव। विशरणस्य शरणरहितस्य। राजसूनोः नृपकुमारभास्करवर्मणः। अञ्जलिमवध्नात् मस्तके हस्तौ समानीतवान्।

३१ **किमीयेति**—कस्य इयमिति किमीया। जातेः जन्मनः (वंशस्य इति भावः) इयम् इति जात्या। अस्य मातुः जन्म कस्मिन् कुले जातमिति तात्पर्यम्। अनुयुक्ते प्रश्ने पृष्टे सति। मया विश्रुतेन। अमुना नालीजङ्घेन। वणिजः व्यापारिणः वैश्यस्य। कुसुमधन्वनः एतन्नाम्नः कोसलेशात्; साक्षात् कामदेवात् इति वा। एतन्मातुः एतस्य भास्करवर्मणः मातुः जनन्याः। मातामहः मातुः पिता। स्नेहेन

---

६०. दूरध्वमपसरन्नत्रास्य   ६१. किमीयीऽयमित्यनुयुक्ते

सस्वजे । वृद्धेनोक्तम्—'सिधुदत्तापुत्राणां[६२] कतमस्ते पिता' इति । 'सुश्रुत' इत्युक्ते सोऽत्यहृष्यत् । अहं तु 'तं [६३]नयावलिप्तमश्मकेन्द्रं नयेनैवोन्मूल्य बालमेनं पित्र्ये पदे प्रतिष्ठापयेयम्' इति प्रतिज्ञाय 'कथमस्यैना क्षुधं क्षपयेयम्' इत्यचिंतयम् । तावदापतितौ च कस्यापि व्याधस्य त्रीनिषूनतीत्य द्वौ मृगौ स च व्याधः । तस्य हस्तादवशिष्टमिपुद्वयं कोदण्डं चाक्षिप्याविध्यम्[६४]। एकः[६५] सपत्राकृतोऽन्यश्च निष्पत्राकृतोऽपतत् । तं चैकं मृगं

प्रेम्णा सहितं यथा स्यात् तथा सस्नेहम् । सस्वजे आलिलिङ्ग । अहमिति—तं दुष्टमनन्तवर्मणो राज्यापहारिणं वसन्तभानुम् । नयावलिप्तं नयेन नीत्या अर्थशास्त्रज्ञानप्रयोगाभ्याम् अवलिप्तमुत्सिक्तम् । उन्मूल्य समुत्पाट्य । पित्र्ये पदे पितुः राज्ये इति भावः । प्रतिष्ठापयेयं स्थापयिष्यामि । प्रतिज्ञाय प्रतिश्रुत्य । क्षुधं बुभुक्षाम् । क्षपयेयं दूरीकुर्याम् । तावदिति—आपतितौ धावन्तौ आगतौ । व्याधस्य आखेटकस्य । इपून् बाणान् । अतीत्य व्यर्थीकृत्य । त्रिभ्यः बाणेभ्यः आत्मानौ रक्षित्वा इत्याशयः । तस्य व्याधस्य । अवशिष्टमिपुद्वयं शेषौ द्वौ बाणौ । कोदण्डं धनुः । आक्षिप्य आच्छिद्य, गृहीत्वा इत्यर्थः । अविध्यम् तौ मृगौ अहनम् । सपत्राकृतः—पत्रेण छदेन सहितः बाणः सपत्रः; सपत्रेण अतिव्यथया कृतः विद्धः; पुंखप्रदेशं याव प्रविष्टेन बाणेन हतः इत्याशयः । निष्पत्राकृतः—निर्गतः पत्रेभ्यः छदेभ्यः इति निष्पत्रः बाणः । निष्पत्रेण अतिव्यथया कृतः विद्धः; पुंखप्रदेशं यावत् बाणस्य प्रवेशं विना एव हतः इति भावः । 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने' इति डाच् । भट्टोजिदीक्षितस्य व्याख्यानं भिन्नमस्ति—'सपत्राकरोति—मृगम् । सपुङ्खशरप्रवेशेन सपत्रं करोतीत्यर्थः । निष्पत्राकरोति । सपुङ्खस्य शरस्यापरपार्श्वे निर्गमनान्निष्पत्रं

---

६२. ०दत्तपु०   ६३. दुर्नयाव०   ६४, अवधिपम्   ६५. एकश्च

दत्त्वा मृगयवे, अन्यस्यापलोमत्वचः क्लोमापोह्य, निष्कुलाकृत्य, विकृत्योर्वस्थिग्रीवादीनि[६६], शूलाकृत्य दावाङ्गारेषु, तप्तेनामिषेण तयोरात्मनश्च क्षुधमत्यतार्षम्[६७]। एतस्मिन् कर्मणि मत्सौष्ठवे-

---

करोतीत्यर्थः'। परं बालमनोरमाव्याख्यायां वासुदेवदीक्षितो भट्टोजिदीक्षितस्य 'सपत्रं निष्पत्रं वा करोमि भूतलम्' इति प्रत्युदाहरणयोः—'पुङ्खपर्यन्तं पुङ्खवर्जं वा शरप्रवेशनेन सपत्रं निष्पत्रं वा भूतलं करोतीत्यर्थः' इति व्याख्याने उपर्युक्तमस्मद्व्याख्यानमेव प्रकाशयति। भट्टोजिदीक्षितमतानुसारं निष्पत्राकृतस्य 'यथा शरः शरीरात् अपरपार्श्वे गतः तथा विद्धः' इति भावः आयाति। दण्डिनो भावस्तु अयं प्रतिभाति—एकः शरः तु पुङ्खप्रदेशं यावत् मृगशरीरे प्रविष्टः। अपरः शरः पुङ्खप्रदेशात् प्रागेव शल्यस्य समीपतरेण अंशेन एव प्रविष्टः। तं चैकमिति—तमितिपदं निष्पत्राकृतमृगं निर्दिशत् प्रतिभाति; अथवा तयोः हतयोः मृगयोः एकं मृगमित्येव भावः स्यात्। मृगयवे व्याधाय। अपलोमत्वचः। अपनीतानि लोमानि त्वचा च यस्य, तस्य अपनीतरोमचर्मणः। 'क्लोम मस्तिष्कम्' इति अमरः। 'क्लोमा वरुणः' इति शातपथश्रुतौ इदं फुप्फुसवाचकम्। अपोह्य अपनीय। निष्कुलाकृत्य निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति निष्कुलः निष्कासितावयवः, तथाविधं कृत्वा; सर्वाणि अङ्गानि बहिर्निष्कास्य इति भावः। विकृत्य छित्त्वा। ऊरू जंघे च अस्थीनि कीकसानि च ग्रीवा कन्धरा च इति उर्वस्थिग्रीवाः, ताः आदौ येषां तानि; अंगानि इति शेषः। शूलाकृत्य शूलेन पाचयित्वा; शूले स्थापयित्वा अनलस्योपरि तप्त्वा पाचनं शूलाकरणम्। 'अत्र करोतिः पाके वर्तते' इति बालमनोरमा। दावाङ्गारेषु वनाग्नौ। तप्तेन भर्जितेन, उष्णेन इति वा। आमिषेण मांसेन। तयोः नालीजंघभास्करवर्मणोः। आत्मनः विश्रुतस्य। अत्यतार्षम् अपानैषम्। एतस्मिन्निति—एतस्मिन् मृग-

---

६६. ०र्वोङ्घ्रग्री०

६७. अत्यताप्सम्; अतक्षिपम्; अतार्षम्

नातिहृष्टं किरातमस्मि पृष्टवान्–'अपि जानासि माहिष्मती-वृत्तान्तम्' ? इति ।

[प्रचण्डवर्मणो मञ्जुवादिनीविवाहविलिप्सासमाचारः]

३२. असावाचष्ट—'तत्र व्याघ्रत्वचो दृतीश्च विक्रीयाद्यैवागतः । किं न जानामि ? प्रचण्डवर्मा नाम चण्डवर्मानुजो मित्रवर्मदुहितरं मञ्जुवादिनीं विलिप्सुरभ्येतीति तेनोत्सवोत्तरा[६८] पुरी' इति ।

वधादिनि कर्माणि । मम सौष्ठवेन कौशलेन । अतिहृष्टं परमप्रीतम् । किरातं मृगयुम् । अस्मि अहम्; अव्ययमिदं, न क्रियापदम् । पृष्टवान् अपृच्छम् । अपि किम्; प्रश्नवाचकोऽप्ययं शब्दः । माहिष्मतीवृत्तान्तं माहिष्मतीनगर्यां कीदृशी राजनीतिः, कीदृग् घटनाचक्रं वा प्रचलति इति समाचारम् ।

३२. असाविति—असौ व्याधः । आचष्ट अकथयत् । व्याघ्रत्वचः शार्दूलानां चर्माणि । दृतीः चर्मपुटानि । विक्रीय विपण्य । अद्य अस्मिन्नेव दिने, अधुनैव वा । किं कथम् । अवश्यं जानामीति भावः । चण्डवर्मानुजः चण्डवर्मणः अनुजः कनीयान् भ्राता । मित्रवर्मणः द्वैमातुरभ्रातुः दुहितरं पुत्रीम्; पितुः तुल्यत्वात् संरक्षकत्वात् च मित्रवर्मात्र मञ्जुवादिन्याः पितृत्वेन वर्णितः; अथवा दुहितृपदं दुहितृतुल्यामिति भावस्य द्योतकं स्यात् । विलिप्सुः प्राप्तुम् इच्छन् । अभ्येति आगच्छति । उत्सवोत्तरा आनन्दपूर्णा ।

---

६८. सोत्सवा

(मित्रगुप्तस्योपधिः)

३३. अथ कर्णे जीर्णमब्रवम्—"धूर्तो मित्रवर्मा दुहितरि सम्यक्प्रतिपत्त्या मातरं विश्वास्य तन्मुखेन प्रत्याकृष्य बालकं जिघांसति। तत्प्रतिगत्य कुशलमस्य मद्वार्तां च देव्यै रहो निवेद्य पुनः 'कुमारः शार्दूलभक्षित' इति प्रकाशमाक्रोशनं कार्यम्। स दुर्मतिरन्तःप्रीतो वहिर्दुःखं दर्शयन्देवीमनुनेष्यति। पुनस्तया त्वन्मुखेन स वाच्यः—'यदपेक्षया त्वन्मतम्[99]त्यक्रमिषं सोऽपि बालः पापेन मे परलोकमगात्। अद्य तु त्वदादेशकारिण्येवाहम्' इति। स तथोक्तः प्रीतिं प्रतिपद्याभिपत्स्यति[100]। पुनरनेन वत्सनाभनाम्ना

---

३३. अथेति—जीर्णं वृद्धं नालीजङ्घम्। धूर्तः शठः। दुहितरि मञ्जुवादिन्याम्। सम्यक् प्रतिपत्त्या उचितेन व्यवहारेण। विश्वास्य प्रत्याप्य। तन्मुखेन तस्य विश्वासस्य मुखेन माध्यमेन। प्रत्याकृष्य निष्कास्य। प्रतिगत्य प्रतिनिवृत्य अस्य भास्करवर्मणः। मद्वार्तां मम समाचारम्। देव्यै वसुन्धरायै। रहः यथा स्यात् तथा; रहसि एकान्ते-निर्जने इति भावः। निवेद्य कथयित्वा। शार्दूलेन व्याघ्रेण भक्षितः खादितः। प्रकाशं सर्वश्राव्यं यथा स्यात् तथा। आक्रोशनम् आक्रन्दनं रोदनम्। दुर्मतिः शठः। अन्तः मनसि प्रीतः प्रसन्नः। अनुनेष्यति सान्त्वयिष्यति। वाच्यः संदेश्यः। यदपेक्षया यस्य कारणात्। त्वन्मतं तवाभिलापम्। अत्यक्रमिषम् उल्लंघितवती। पापेन दुरितेन। तव आदेशस्य आज्ञायाः कारिणी पालिका, त्वद्वशवर्तिनी। प्रतिपद्य-प्राप्य। अभिपत्स्यति उपागमिष्यति। महाविषेण तीव्रगरलेन। संनीय संमिश्र्य। मज्जयित्वा विषमिश्रितजलेन सुष्ठु क्लेदयित्वा।

---

९९. त्वदुक्तम्   १००. प्रत्यपत्स्यते

महाविषेण संनीय[101] तोयं तत्र मालां मज्जयित्वा तथा स वक्षसि मुखे च हन्तव्यः। 'स एवायमसिप्रहारः पापीयसस्तव भवतु यद्यस्मि पतिव्रता' इति। पुनरनेनागदेन संगमितेऽम्भसि तां मालां मज्जयित्वा स्वदुहित्रे देया। मृते तु तस्मिंस्तस्यां च निर्विकारायां सत्यां सतीत्येवैनां प्रकृतयोऽनुवर्तिष्यन्ते। पुनः प्रचण्डवर्मणे संदेश्यम्—'अनायकमिदं राज्यम्। अनेनैव सह वालिकेयं स्वीकर्त्तव्या' इति। तावदावां कापालिकवेषच्छन्नौ देव्यैव दीयमानभिक्षौ पुरो बहिरुपश्मशानं वत्स्यावः।

वक्षसि उरसि। मुखे हननात् मुखे विषं प्रवेक्ष्यति, स च मरिष्यति इत्याशयः। स एवायम् मालाप्रहारः। असेः कृपाणस्य प्रहारः आघातः। पापीयसः दुर्वृत्तस्य—दुराचारस्य। अगदेन औषधेन। संगमिते मिश्रिते। अम्भसि जले। निर्विकारायां विकारहीनायाम् अमृतायां; जीवन्त्यामित्यर्थः। सतीति—सती पतिव्रता। एनां वसुन्धराम्। प्रकृतयः प्रजाः। अनुवर्तिष्यन्ते अनुगमिष्यन्ति। सन्देश्यं सन्देशः प्रेषणीयः। अनायकं शासकहीनम्। अनेन राज्येन। वालिकेयं मञ्जुवादिनी। स्वीकर्त्तव्या परिणेया इति भावः। आवां विश्रुतभास्करवर्माणौ। कापालिकः शैवः व्रतिविशेषः; तस्य वेषेण परिच्छदेन छन्नौ गूढौ; तिरोहितयथार्थस्वरूपौ इति यावत्; कापालिकरूपधारिणौ इत्यर्थः। देव्या एव नान्येन केनचित्। दीयमाना वितीर्यमाणा भिक्षा दानं याभ्यां, तौ; भिक्षां लप्स्यमानौ इत्यर्थः। पुरः नगरात्। उपश्मशानं श्मशानस्य समीपे।

---

१०१. संमील्य

३४. पुनरा[१०२]र्यप्रायान् पौरवृद्धानाप्तांश्च मन्त्रिवृद्धानेकान्ते अब्रवीत् देवी—'स्वप्नेऽद्य मे देव्या विन्ध्यवासिन्या कृतः प्रसादः। अद्य चतुर्थेऽहनि प्रचण्डवर्मा मरिष्यति। पञ्चमेऽहनि रेवातटवर्तिनि मद्भवने परीक्ष्य वैजन्यं जनेषु निर्गतेषु कपाटमुद्घाट्य त्वत्सुतेन सह कोऽपि द्विजकुमारो निर्यास्यति। स राज्यमिदमनुपाल्य बालं ते प्रतिष्ठापयिष्यति। स खलु बालो मया व्याघ्रीरूपया तिरस्कृत्य स्थापितः। सा चेयं वत्सा मञ्जुवादिनी तस्य द्विजातिदारकस्य दारत्वेनैव कल्पिता' इति। तदेतदतिरहस्यं युष्मास्वेव गुप्तं तिष्ठतु यावदेतदुपपत्स्यते" इति।

---

३४. पुनरिति—पुनः तदा। आर्यप्रायान् साधुचरितभूयिष्ठान्; श्रेष्ठान् इत्यर्थः। पौराश्च ते वृद्धाश्च; मान्यान् पौरान् इत्याशयः। एकान्ते रहसि। कृतः प्रसादः अनुग्रहः; वरो दत्तः इत्यर्थः। अद्य अस्मात् दिनात्। अहनि दिवसे। रेवायाः तटे कूले वर्तिनि स्थिते। मद्भवने मम मन्दिरे। वैजन्यं— विगताः जनाः यस्मात्, तत् विजनं, तस्य भावः; निर्जनत्वं— शून्यत्वमिति भावः। निर्गतेषु निष्क्रान्तेषु। उद्घाट्य अपावृत्य। त्वत्सुतेन तव पुत्रेण। द्विजकुमारः ब्राह्मणयुवा क्षत्रिययुवा वा वैश्यो युवा वा; ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजा उच्यन्ते। निर्यास्यति निर्गमिष्यति—आविर्भविष्यति। स बालः भास्करवर्मा। मया विन्ध्यवासिन्या देव्या। व्याघ्रीरूपया शार्दूल्याः आकृतिं धारयित्वा इत्यर्थः। तिरस्कृत्य आच्छाद्य, अभिभूय वा। स्थापितः रक्षितः। दारत्वेन पत्नीत्वेन। कल्पिता निश्चिता। तयोर्विवाहः करणीयः इत्याशयः। अतिरहस्यं परमगोपनीयं तथ्यम्। युष्मासु श्रोतृषु भवत्सु

---

१०२. पुनराकार्यार्यप्रायान्

[वसुन्धरायाः प्रभावप्रसिद्धिः]

३५. स सांप्रतमतिप्रीत[103] प्रयातोऽर्थश्चायं यथाचिन्तितमनुष्ठितोऽभूत्। प्रतिदिशं च लोकवादः प्रासर्पत् 'अहो माहात्म्यं पतिव्रतानाम् । असिप्रहार एव हि स मालाप्रहारस्तस्मिञ्जातः[104]। न शक्यमुपधियुक्तमेतत्कर्मेति वक्तुं यतस्तदेव दत्तं दाम दुहित्रे स्तनमण्डनमेव तस्यै जातं न मृत्युः। योऽस्याः पतिव्रतायाः शासनमतिवर्तते स भस्मैव भवेत्' इति।

३६. अथ महाव्रतिवेषेण मां च पुत्रं च भिक्षायै प्रविष्टौ

इह उपस्थितेषु पौरेषु मन्त्रिषु च। गुप्तं रक्षितमप्रकाशितम्। उपपत्स्यते घटिष्यते। यावदिदं सर्वं कार्यं दृष्टिपथं न आयाति तावत् स्वप्नवृत्तमिदं सुगुप्तं तिष्ठतु; अन्यस्मै कस्मैचिद् नाख्येयमिति भावः।

३५. स इति—स नालीजंघः। साम्प्रतम् इदानीम्। अतिप्रीतः परम-हर्षाप्लुतः। प्रयातः अगच्छत्। अर्थः कार्यम्। यथाचिन्तितं चिन्तितं क्रमं चिन्तितां वा योजनामनुसृत्य अनतिक्रम्य वा। अनुष्ठितः सम्पादितः। प्रतिदिशं दिशि दिशि—सर्वासु दिक्षु। लोकवादः जनानां विचारः विश्वासपूर्णं कथनं वा। प्रासर्पत् प्रथितः अभवत्। माहात्म्यं गौरवं, प्रभावः। तस्मिन् मित्रवर्मणि। उपधियुक्तं कपटपूर्णम्। दाम माला। दुहित्रे मञ्जुवादिन्यै। स्तनयोः कुचयोः मण्डनम् आभूषणम्। शासनम् आदेशम्। अतिवर्तते उल्लंघेत्। भस्म एव स्यात् दग्धः भवेत्।

३५. अथ महेति—महान् व्रती कापालिकः, तस्य वेषेण परिच्छदेन। प्रविष्टौ राजप्रासादे आगतौ। प्रस्नुतस्तनी प्रस्नुतौ पयः-

---

१०३. सांप्रतमित्यतिप्रीतः प्रायात्। अर्थं०।

१०४, वाक्यमिदं नास्ति क्वचित्।

दृष्ट्वा प्रस्नुतस्तनी प्रत्युत्थाय हर्षाकुलं[105] मब्रवीत्—'भगवन् अयमञ्जलिः। अनाथोऽयं जनोऽनुगृह्यताम्। अस्ति ममैकः स्वप्नः। स किं सत्यो न वा' इति। मयोक्तम्—'फलमस्याद्य व द्रक्ष्यसि' इति। 'यद्य वं वहुभागधेयमस्या वो दास्याः। स खल्वस्याः सानाथ्यशंसी स्वप्नः' इति मद्दर्शनराग[106] वद्ध-साध्वसां मञ्जुवादिनीं प्रणमय्य, भूयोऽपि सा हर्षगर्भमब्रूत—'तच्चेन्मिथ्या सोऽयं युष्मदीयो बालकपाली[107] श्वो मया

प्रसारयुक्तौ स्तनौ कुचौ यस्याः सा; स्रवत्पयोधरा इत्यर्थः। प्रत्युत्थाय सत्काराय उद्गत्य। हर्षेण आनन्देन आकुलं व्याकुलं यथा स्यात् तथा; आनन्दनिर्भरं सोल्लासं वा। अञ्जलिः शिरसि हस्तयोः वन्धनम्। अनाथः विशरणः। अनुगृह्यतां दयनीयः। सत्यः यथार्थः। अद्य व अस्मिन्नेव दिवसे। द्रक्ष्यसि साक्षात्करिष्यसि। एवं स स्वप्नः सत्यः भवति। वहु भागधेयं परमं सौभाग्यम्। दास्याः सेविकायाः। अस्याः मञ्जुवादिन्याः। सानाथ्यशंसी—नाथेन सहितः सनाथः, तस्य भावः सानाथ्यम्; तत् शंसते असौ; अस्याः मत्पुत्र्याः भवान् पतिः भविष्यति इति सूचयति इति भावः। मद्दर्शनेति—मम दर्शनमवलोकनं; तस्मात् संजातः रागः अनुरागः, तेन वद्धं धारितं साध्वसं लज्जाभावः यया सा, ताम्; अनुरागवतीं, लज्जायुतां चेति भावः। प्रणमय्य अभिवाद्य। भूयः अपि पुनरपि। हर्षगर्भं हर्षः गर्भे यस्य, तत् यथा स्यात् तथा। अब्रूत कथितवती। तत् स स्वप्नः; तव वचनम् इत्यर्थः। मिथ्या अनृतं निष्फलमिति भावः। युष्मदीयः भावत्कः। बालः च असौ कपाली, शैवव्रती इति भावः। श्वः आगामिनि दिवसे। निरोद्धव्यः गृहीत्वा अत्र वन्धनीयः। स्मितम् ईषद् हसितं, तेन सह इति सस्मितम्।

---

१०५. हर्षकलम्　　१०६. वद्धराग　　१०७. वालः

निरोद्धव्य' इति। मयापि सस्मितं मञ्जुवादिनीरागलीनदृष्टिलीढधैर्येणाभिहितम्-'एवमस्तु' इति। लब्धभैक्षो[१०८] नालीजङ्घमाकार्य निर्गम्य ततश्च तं चानुयान्तं शनैरपृच्छम्—'क्वासावल्पायुः प्रथितः प्रचण्डवर्मा, इति। सोऽब्रूत-'राज्यमिदं ममेत्यपास्तशङ्को [१०९]राजास्थानमण्डप एव तिष्ठत्युपास्यमानः कुशीलवैः' इति।

[प्रचण्डवर्मणो वधः]

३७. यद्येवमुद्याने तिष्ठ' इति तं जरन्तमादिश्य तत्प्राकारैकपार्श्वे क्वचिच्छून्यमठिकायां मात्राः समवतार्य तद्रक्षणनियुक्त-

---

मञ्जुवादिनीति—मञ्जुवादिन्याः रागे अनुरागे लीना निक्षिप्ता या दृष्टिः चक्षुः; चक्षुर्व्यापार इति वा; तया लीढं नष्टं धैर्यं प्रकृतिभावः यस्य सः। अभिहितं कथितम्। लब्धं प्राप्तं भैक्षं भिक्षादानं येन सः; अहं विश्रुतः। आकार्य आहूय। निर्गम्य वहिः एत्य ततः तस्मात् स्थानात्। अनुयान्तं मत्पश्चाद् आगच्छन्तम्। अल्पम् एतद्दिनमात्रम् आयुः जीवनं यस्य सः; अद्य यमसदनं गन्तास्तीति भावः। प्रथितः अद्य मरिष्यतीति प्रसिद्धः। अपास्ता नष्टा शंका सन्देहः यस्य सः; निःशङ्कः—निर्भयः इति भावः। राजास्थानमण्डपे राजसभाभवने। उपास्यमानः सेव्यमानः। कुशीलवैः गायकैः। गायकाः तस्य विनोदं कुर्वन्ति, स तत्र रममाणः सभायां वर्तते इति भावः।

३७. यद्येवमिति—उद्याने उपवने। जरन्तं वृद्धं नालीजङ्घम्। आदिश्य आज्ञाप्य। तस्य राजप्रासादोद्यानस्य प्राकारस्य प्राचीरस्य एकस्मिन् पार्श्वे भागे इति तत्प्राकारैकपार्श्वे। शून्या निर्जना परित्यक्ता वा असौ मठिका क्षुद्रः मठः, तस्याम्। मात्राः परिच्छदादीन्। समवतार्य

---

१०८. लब्धभैक्ष्यः १०९. राजस्थान०

राजपुत्रः कृतकुशीलववेषलीलः प्रचण्डवर्माणमेत्यान्वरञ्जयम्। अनुरञ्जितातपे तु समये जन[110]समाजज्ञानोपयोगीनि संहृत्य नृत्यगीतनानारुदितानि[111], हस्तचंक्रमणमूर्ध्वपादालातपादापीड-वृश्चिकमकरलङ्घनादीनि मत्स्योद्वर्तनादीनि च करणानि, पुनरादा–

अपनीय। तासां मात्राणां परिच्छदादीनां रक्षणे पर्यवेक्षणे नियुक्तः व्यापारितः राजपुत्रः भास्करवर्मा येन सः; कापालिकवेषसाधनभूतवस्त्रादीनि रक्ष इति राजपुत्रमादिश्य इत्याशयः। कृताः धारिताः कुशीलवानां गायकानां वेषः परिच्छदः लीलाः चेष्टाः च येन सः; कुशीलवरूपं धारयित्वा इति भावः। एत्य राजास्थानमण्डपे गत्वा। अन्वरञ्जयम् व्यनोदयम्। अनुरञ्जितः रक्तिमानं प्राप्तः आतपः सूर्यप्रकाशः यस्मिन्, तस्मिन्; सन्ध्यासमये इत्यर्थः। **जनेति**—जनानां समाजस्य तत्रागतमनुष्यसमुदायस्य ज्ञानाय उपयोगीनि लाभकराणि; ज्ञानवर्धनानि इति भावः। संहृत्य अभिनीय। नृत्यं नर्तनं गीतं गानं नानारुदितानि अनेकविधरोदनस्वरानुकरणानि, तानि। हस्तयोः पाण्योः चङ्क्रमणम् इतस्ततः भ्रमणं प्रसारणं वा। **ऊर्ध्वेति**—ऊर्ध्वपादम् अलातपादमिति नृत्यभेदौ। यथा चाह भरतः—

"कराभ्यामवनीं स्पृष्ट्वा मूर्धानं भ्रामयेन्मुहुः।
उत्तानीकृत्य चरणावूर्ध्वपादं तदुच्यते॥
उद्धृत्यैकं तु चरणमन्यं कृत्वैव कुञ्चितम्।
नृत्यत्यनुमतं तिर्यक्तदालातकमेव च॥"

आपीडः किरीटः, तद्वत्, तं धृत्वा वा नर्तनम्। वृश्चिकलङ्घनं द्रुणावत् भ्रमणम्। मकरलंघनं नक्रवत् गमनम्। मत्स्योद्वर्तनानि मीनवत विलसितानि। करणानि तालप्रदानानि। आदाय आदाय पुनः पुनः गृहीत्वा; विश्वाससंस्थापनायैव स एवं करोति; तद्द्योतिका द्विरुक्तिरियम्।

---

११०. समाजोप०   १११. रुदितादिनि

यादाय आसन्नवर्तिनां क्षुरिकास्ताभिरुपहितवर्म्मा[११२]चित्रदुष्कराणि करणानि श्येनपातोत्क्रोशपातादीनि दर्शयन् विंशतिचापान्तराला-वस्थितस्य प्रचण्डवर्मणश्छुरिकयैकया प्रत्युरसं प्रहृत्य'जीव्याद्[११३] वर्षसहस्रं वसन्तभानुः' इत्यभिगर्जन् मद्गात्रमुत्कर्तु[११४]मुद्यतासेः कस्यापि चारभटस्य पीवरांसबाहुशिखरमाक्रम्य तावतैव तं

आसन्नवर्तिनां समीपस्थितानां जनानाम्। क्षुरिकाः शस्त्रिकाः। उपहित-वर्म्मा उपहितं युक्तं वर्म्म शरीरं यस्य सः। 'आच्छिन्नशरीरः' इति भूषणा। चित्राणि विलक्षणानि च तानि दुष्कराणि दुरभिनेयानि इति चित्रदुष्कराणि करणानि क्रियाः। **श्येनेति**—श्येनपातः श्येनवत् पतनम्—

"परिक्रम्यान्तरिक्षेण संप्राप्योच्चैरदृश्यताम्।
आकस्मिकाभिपातेन श्येनपात इतीरितः॥"

उत्क्रोशपातः कुररवत् पतनम्। **विंशतीति**—चापः प्रसारित-बाहुद्वयप्रमाणं भवति। विंशतिः चापाः अशीतिहस्तप्रमाणम्; तावत्प्रमाणे अन्तराले प्रदेशे; तावद्दूरमिति भावः; तत्र अवस्थितस्य उपविष्टस्य। उरसि इति प्रत्युरसम्—वक्षसि। प्रहृत्य आघातं कृत्वा। **जीव्यादिति**—वाक्यमिदं वसन्तभानुनयदुष्कृतमेत , न काचिदत्र विश्रुतस्योपधिरिति सामाजिकानां, ततश्च प्रजानां मनसि पातयितुम् उक्तम्। यथा लोके सम्प्रति जयकारः क्रियते तथैव वाक्यमिदं वसन्तभानोर्नयस्य विजयं घोषयति। **इतीति**—अभिगर्जन् उच्चस्वरेण घोषयन्। मद्गात्रं मम देहम्। उत्कर्तुं खण्डयितुम्। उद्यतासेः उद्यतः ऊर्ध्वमुत्थापितः कृतः वा असिः कृपाणः येन सः, तस्य। चारभटस्य चारः कुशीलवः च असौ भटः योधः च इति; तस्य वीरकुशीलवस्येति भावः; अथवा चारः गुप्तचरः चासौ भटः; गूढपुरुषः इति यावत्, तस्य। पीवरौ पीनौ अंसौ स्कन्धौ

---

११२. उपहित   ११३. जीयात्   ११४. अल्कर्तुं; प्रहर्तुम्

विचेतीकुर्वन्नाकुलं च लोकमुच्चक्षूकूर्वन् द्विपुरुषोच्छ्रितं प्राकार-मत्यलङ्घयम् ।

३८. अवप्लुत्य चोपवने मदनुपातिनामेष पन्था दृश्यते' इति ब्रुवाण एव नालीजङ्घसमीकृतसैकतास्पष्ट[115]पादन्यासया तमालवीथ्या चानुप्राकारं प्राचा प्रतिप्रधावित. पुनरवाचोच्चितेष्टक चितत्वादलक्ष्यपातेन[116] प्रद्रुत्य लङ्घितप्राकारवप्रखातवलय-

---

ययोः, तौ बाहू भुजौ तयोः शिखरं शृंगम्; स्कन्धयोः इति भावः । आक्रम्य उत्पत्य । तावता उत्पतनेनैव । विचेतीकुर्वन् विसंज्ञं सम्पादयन् । आकुलं व्याकुलम् । उच्चक्षूकुर्वन् ऊर्ध्वम् उपरि कृतं चक्षुः येन स उच्चक्षुः; न उच्चक्षुषम् उच्चक्षुषं कुर्वन् उच्चक्षूकुर्वन्; ऊर्ध्वं पश्यन्ति यथा तथा कुर्वन् इत्यर्थः । द्विपुरुषोच्छ्रितं पुरुषद्वयप्रमाणोच्चम् । अत्यलंघयम् अतरम् ।

३८. अवप्लुत्येति—अवप्लुत्य वेगेन कूर्दित्वा । मदनुपातिनां मम पृष्ठतः आगच्छताम् । एष पन्थाः मदागमनमार्गः । नालीति—नालीजंघेन समीकृतेन परिमार्जितेन सैकतेन वालुकाप्रदेशेन अस्पष्टः अलक्षितः पादन्यासः चरणसन्निवेशः यस्यां सा, तया । तमालवीथ्या तमालवृक्षाणां पङ्क्त्या । प्राकारेण प्राकारस्य समीपं प्राकार-मनुसृत्य इति वा अनुप्राकारम्; प्राचीरप्रदेशेन इति यावत् । प्राचा पूर्वस्यां दिशि । प्रतिधावितः वेगेन प्रद्रुत्य । अवाचा दक्षिणतः । उच्चितेष्टक-चितत्वात् उच्चं चितैः संश्लिष्टैः इष्टकैः चितः युक्तः, तस्य भावः, तस्मात् उच्चसंश्लिष्टेष्टकयुक्तत्वात् । "अवाचोच्चितेष्टका उच्चनीच-वद्धेष्टकाः" इति पदचन्द्रिका । राशीकृतेष्टकाव्याप्तत्वादिति बाल-बोधिनी । अलक्ष्यः अदृश्यः पातः गमनं, तेन । प्रद्रुत्य धावित्वा । लंघितः तोरणः प्राकारवप्रस्य प्राचीरस्य यत् प्रखातं परिखा तस्य वलयः येन सः ।

---

११५. ०स्पृष्ट

११६. पादेन

स्तस्यां शून्यमठिकायां तूर्णमेव प्रविश्य प्रतिमुक्तपूर्ववेषः सह कुमारेण मत्कर्मतुमुल[११७] राजद्वारि[११८]दुःखलब्धवर्त्मा श्मशानोद्देशमभ्यगाम् ।

३९. प्रागेव तस्मिन् दुर्गागृहे प्रतिमाधिष्ठान एव मया कृतं भग्नपार्श्वस्थैर्यस्थूलप्रस्तरस्थगितबाह्यद्वारं बिलम् ।

(कुमारेण सह विश्रुतस्याविर्भावः)

४०. अथ गलति मध्यरात्रे वर्षवरोपनीतमहार्हरत्नभूषणपट्टनिवसनौ तद् बिलमावां प्रविश्य तूष्णीमतिष्ठाव । देवी तु पूर्वे-

---

तूर्णं क्षिप्रम् । प्रतिमुक्तः गृहीतः पूर्वः वेषः कापालिकपरिच्छदः येन सः; पूर्ववत् कापालिकरूपी भूत इत्यर्थः । मम कर्मणा प्रचण्डवर्मवधकार्येण तुमुले व्याकुलरवयुक्ते राजद्वारि प्रासादात् निर्गमनमार्गे । दुःखेन कष्टेन लब्धं प्राप्तं वर्त्म निर्गमनमार्गः येन सः । श्मशानस्य मृतशरीरदाहप्रदेशस्य उद्देशं स्थानम् ।

३९. प्रागिति—प्राक् आगामिदिवसकर्मणः पूर्वम् । दुर्गागृहे दुर्गायाः मन्दिरे । प्रतिमाधिष्ठाने प्रतिमाधारे । कृतं सम्पादितम् । भग्नेति—भग्नं नष्टं पार्श्वयोः स्थैर्यं दाढर्यं यस्य, तथाविधेन स्थूलप्रस्तरेण गुरुपाषाणेन स्थगितम् आच्छादितं बाह्यद्वारं यस्य तत् । बिलं छिद्रम् ।

४०. अथेति—गलति गच्छति । रात्रेः शर्वर्याः मध्यभागे इति मध्यरात्रे । वर्षवरैः षण्ढैः उपनीतानि उपाहृतानि महार्हाणि बहुमूल्यानि रत्नभूषणानि रत्नाभरणानि पट्टनिवसनानि कौशेयवस्त्राणि च ययोः, तौ । आवां विश्रुतभास्करवर्माणौ । तूष्णीं मौनम् । पूर्वेद्युः पूर्वस्मिन्

---

११७. तुमुले　　११८. राजद्वारदुःख०

द्यु रेव यथार्हमग्निसंस्कारं मालवाय दत्त्वा[११९] प्रचण्डवर्मणे, चण्डवर्मणे च तामवस्थामश्मकेन्द्रोपधिकृतामेव संदिश्य, उत्तरेद्यु: प्रत्युषस्येव पूर्वसंकेतितपौरामात्यसामन्तवृद्धै: सहाभ्येत्य, भगवतीमर्चयित्वा, सर्वजनप्रत्यक्षं परीक्षितकुक्षिवैजन्यं तद्भवनं विधाय, दत्तदृष्टि:[१२०] सह जनेन स्थित्वा, पटीयांसं पटहशब्दमकारयत् ।

४१. अणुतररन्ध्रप्रविष्टेन तेन नादेनाहं दत्तसंज्ञः शिरसैवोत्क्षिप्य सप्रतिमं लोहपादपीठमंसलपुरुषप्रयत्नदुश्चलमु-

---

दिवसे । अर्हम् योग्यम् अनतिक्रम्य यथार्हम् । अग्निसंस्कारम् दाहकर्म; अन्त्येष्टिसंस्कारं सम्पाद्य इति भावः । मालवाय प्रचण्डकर्मणे । **अश्मकेति**—अश्मकेन्द्रस्य वसन्तभानोः उपधिः कपटः—कूटनीतिः, तेन कृतां जनितां सम्पादितां वा । उषसि इति प्रत्युषसि, प्रात:काले सूर्योदयात्प्राक् इत्यर्थः । पूर्वं संकेतिताः विज्ञापिताः नियताः वा, तैः । भगवतीं दुर्गां विन्ध्यवासिनीं देवीम् । सर्वजनानां प्रत्यक्षं सर्वेषां समक्षं, सर्वे अपश्यन् यथा तथा । परीक्षितं सम्यक् निरूपितं कुक्षेः दुर्गामन्दिरस्य अभ्यन्तरप्रदेशस्य वैजन्यं निर्जनता यस्य तत् । तद्भवनं दुर्गामन्दिरम् । दत्ता स्थापिता दृष्टिः यया सा । पटीयांसं तीव्रतरम् ।

४१. **अण्विति**—अणुतरेण सूक्ष्मेण रन्ध्रेण छिद्रेण प्रविष्टः अन्तः गतः, तेन । नादेन पटहशब्देन । दत्ता प्राप्ता संज्ञा संकेतः यस्मै सः । उत्क्षिप्य उत्पाट्य उत्थाप्य वा । प्रतिमया मूर्त्या सहितम् । लोहस्य कृष्णायसः पादपीठं पादासनम् । **अंसलेति**—अंसलः बलवान् पुरुषः नरः तस्य प्रयत्नेन प्रयासेन दुश्चलं दुःखेन चालयितुं शक्यम्

---

११९. दाययित्वा

१२०. दृष्टिरेव

भयकरविवृतैक[121] पार्श्वमेकतो निवेश्य निरगमम् । निरगमयं च कुमारम् ।

[विश्रुतस्य प्रकृतिभिरभिभाषणम्]

४२. अथ [122]यथापूर्वमर्पयित्वा[123] दुर्गामुद्घाटितकपाटः प्रत्यक्षीभूय प्रत्ययहृष्टदृष्टि[124] स्पष्टरोमाञ्चमुद्यताञ्जलि रूढविस्मयं च प्रणि[125] पतन्तीः प्रकृतीरभ्यधाम् ।

४३. 'इत्थं देवी विन्ध्यवासिनी मन्मुखेन युष्मानाज्ञापयति- 'स एष राजसूनुरापन्नो[126] मया सकृपया शार्दूलरूपेण

उभाभ्यां कराभ्यां हस्ताभ्यां विवृतौ पार्श्वौ यस्य तत् । निवेश्य स्थापयित्वा । निरगमं बहिर् आगच्छम् । निरगमयं निष्कामितवान् । कुमारं भास्करवर्माणम् ।

४२. अथेति—अथ तदनन्तरम् । यथापूर्वं पूर्वावस्थानुसारम् । अर्पयित्वा स्थापयित्वा । उद्घाटितौ अपावृतौ कपाटौ द्वारौ येन सः । प्रत्यक्षीभूय सर्वेषां समक्षमागत्य । प्रत्ययाद् विश्वासात् हृष्टा परमप्रीता दृष्टिः दर्शनं यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा । स्पष्टाः सुलक्षिताः संजाताः वा रोमाञ्चाः यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा । उद्यतः शिरसि समानीतः अञ्जलिः हस्तपुटः यस्मिन्, तद् यथा स्यात् तथा । रूढः संजातः विस्मयः आश्चर्यं यस्मिन्, तद्यथा स्यात् तथा । प्रणिपतन्तीः अभिवादयन्तीः । प्रकृतीः प्रजाः । अभ्यधाम् अकथयम् ।

४३. इत्थमिति—विश्रुतः देव्याः विन्ध्यवासिन्याः कल्पितं सन्देशं श्रावयति—इत्थम् एवम् । मन्मुखेन मद्वचनेन । आपन्नः आपद्गतः;

---

१२१. विवृतपार्श्वम् १२२. यथापुरम् १२३. मर्चयित्वा
१२४. प्रत्ययहृष्टदृष्टीः १२५. प्रति०
१२६. 'स एष राजसूनुरापन्नो' इति नास्ति

तिरस्कृत्याद्य वो दत्तः[१२७]। तमेनमद्यप्रभृति मत्पुत्रतया[१२८]—ऽमन्दमातृपक्ष इति परिगृह्णन्तु भवन्तः'। अपि च दुर्घटकूटकोटिघटनापाटवप्रकटशाठ्यनिष्ठुराश्मकघटघट्टनात्मानं मां मन्यध्वमस्य रक्षितारम्। रक्षानिर्वेशश्चास्य स्वसेयं सुभ्रूरभ्यनुज्ञाता मह्यमार्यया' इति।

(मञ्जुवादिन्याः पाणिग्रहणम्)

४४. श्रुत्वैतत् 'अहो भाग्यवान् भोजवंशो यस्य त्वमार्या-

प्राणसंकटे पतितः इति यावत्। सकृपया अनुग्रहं प्रदर्श्य इति भावः। शार्दूलरूपेण व्याघ्रस्य आकृतिं प्रधार्य। तिरस्कृत्य आच्छाद्य स्थापितः रक्षितः वा आसीत्। अद्य अस्मिन् दिने सम्प्रति वा। वः युष्मभ्यं प्रजादिभ्यः। दत्तः प्रत्यर्पितः। अद्यप्रभृति इतः अग्रे। मम पुत्रः सूनुः तस्य भावस्तया। अमन्दः अक्षीणः मातृपक्षः; यतः मातृपक्षे देवी विन्ध्यवासिनी स्वयं वर्तते; पितरि मृते माता एव पुत्रस्य संरक्षिका भवति। परिगृह्णन्तु स्वीकुर्वन्तु। दुर्घटेति—दुर्घटा दुष्करा या कूटकोटिः कूटानां कपटानां कोटिसंख्या, तस्याः घटानायां योजनायां पाटवेन नैपुण्येन प्रकटं प्रकाशितं यत् शाठ्यं धूर्तता, तेन निष्ठुरः क्रूरः, अश्मक एव घटः कुम्भः, तस्य घट्टनः नाशकः आत्मा यस्य, तम्। अहमेव वसन्तभानोः कूटनीतिं सम्यक् जानामि, तं च हनिष्यामि इति भावः। रक्षितारं त्रातारम्। रक्षायाः त्राणस्य निर्वेशः शुल्कः। सुभ्रूः शोभने भ्रुवौ यस्याः सा; सुन्दरी इत्यर्थः। अभ्यनुज्ञाता अनुमता; प्रतिश्रुता दत्ता वा इति भावः। आर्यया देव्या विन्ध्यवासिन्या दुर्गया।

४४. श्रुत्वेति—एतत्—विश्रुतस्य मुखेन दुर्गायाः सन्देशवचनम्। भाग्यवान् सौभाग्यशाली। आर्यया देव्या दत्तः कल्पितः इति

---

१२७. दत्तमेनमद्य   १२८. मत्पुत्रतया मन्द०

दत्तो नाथः' इत्यप्रीयन्त प्रकृतयः । सा तु वाचामगोचरां हर्षावस्थामस्पृशन्मे श्वश्रूः । तदहरेव च यथावदग्राहयन्मञ्जुवादिनीपाणिपल्लवम् ।

[भास्करवर्मणः प्रभावप्रसिद्धिरुन्नयनं च]

४५. प्रपन्नायां च यामिन्यां सम्यगेव विलं प्रत्यपूरयम् । अलब्धरन्ध्रश्च लोको नष्टमुष्टिचिन्तादिकथनैरभ्युपायान्तरप्रयुक्तैर्दिव्यांशतामेव मम समर्थयमानो [126]मदाज्ञां नात्यवर्तत ।

आर्यादत्तः । नाथः रक्षकः । अप्रीयन्त हर्षमग्नाः जाताः । वाचामगोचराम् अवर्णनीयाम्; परमाम्, अगाधामिति भावः । हर्षावस्थां प्रमोदम् । अस्पृशत प्राप्नोत । श्वश्रूः मञ्जुवादिन्याः माता वसुन्धरा । तद् अहः एव तस्मिन् एव दिने । यथावत्-विध्यनुसारम् । पाणिः हस्तः पल्लवमिव इति पाणिपल्लवम्, तत्; कोमलं सुन्दरं च हस्तमिति यावत् । आगामिनि दिवसे विघ्नः कोऽपि न आगच्छेत् इति भावनया दिवसस्य च अनुकूलतया आवयोः विवाहमकरोत् इति निष्कर्षः ।

४५. प्रपन्नेति—प्रपन्नायां समागतायाम् । यामिन्यां रात्री सम्यक् सुष्ठु, यथा अन्यः कोऽपि मम कपटं न जानीयात् । अत्यपू भरितवान् पिहितवान् वा । अलब्धं अप्राप्तं रन्ध्रं कपटकृत्यं मम नीतिमजानन् इत्यर्थः । नष्टेति—नष्टम् अदृश्यं जा मुष्टिः मुष्टिगतं वस्तु, चिन्ता चिन्तितं वस्त्वादि, तानि आदी येषां, तेषां कथनैः वाण्या यथावत् प्रकाशनैः । अन्ये अभ्युप इति अभ्युपायान्तराः, तैः प्रयुक्तैः व्यवहृतैः । दिव्यां अंशः भागः, तस्य भावः, ताम्; नाहं मानुषमात्रः विशिष्टः चापि इति भावः । समर्थयमानः प्रतिपा

---

१२६. त्वदाज्ञाम्

तिरस्कृत्याद्य वो दत्तः[१२७]। तमेनमद्यप्रभृति मत्पुत्रतया[१२८]—ऽमन्दमातृपक्ष इति परिगृह्णन्तु भवन्तः'। अपि च दुर्घटकूटकोटिघटनापाटवप्रकटशाठ्यनिष्ठुराश्मकघटघट्टनात्मानं मां मन्यध्वमस्य रक्षितारम्। रक्षानिर्वेशश्चास्य स्वसेयं सुभ्रूरभ्यनुज्ञाता मह्यमार्यया' इति।

(मञ्जुवादिन्याः पाणिग्रहणम्)

४४. श्रुत्वैतत् 'अहो भाग्यवान् भोजवंशो यस्य त्वमार्या-

प्राणसंकटे पतितः इति यावत्। सकृपया अनुग्रहं प्रदर्श्य इति भावः। शार्दूलरूपेण व्याघ्रस्य आकृतिं प्रधार्य। तिरस्कृत्य आच्छाद्य स्थापितः रक्षितः वा आसीत्। अद्य अस्मिन् दिने सम्प्रति वा। वः युष्मभ्यं प्रजादिभ्यः। दत्तः प्रत्यर्पितः। अद्यप्रभृति इतः अग्रे। मम पुत्रः सूनुः तस्य भावस्तया। अमन्दः अक्षीणः मातृपक्षः; यतः मातृपक्षे देवी विन्ध्यवासिनी स्वयं वर्तते; पितरि मृते माता एव पुत्रस्य संरक्षिका भवति। परिगृह्णन्तु स्वीकुर्वन्तु। दुर्घटेति—दुर्घटा दुष्करा या कूटकोटिः कूटानां कपटानां कोटिसंख्या, तस्याः घटानायां योजनायां पाटवेन नैपुण्येन प्रकटं प्रकाशितं यत् शाठ्यं धूर्तता, तेन निष्ठुरः क्रूरः, अश्मक एव घटः कुम्भः, तस्य घट्टनः नाशकः आत्मा यस्य, तम्। अहमेव वसन्तभानोः कूटनीतिं सम्यक् जानामि, तं च हनिष्यामि इति भावः। रक्षितारं त्रातारम्। रक्षायाः त्राणस्य निर्वेशः शुल्कः। सुभ्रूः शोभने भ्रुवौ यस्याः सा; सुन्दरी इत्यर्थः। अभ्यनुज्ञाता अनुमता; प्रतिश्रुता दत्ता वा इति भावः। आर्यया देव्या विन्ध्यवासिन्या दुर्गया।

४४. श्रुत्वेति—एतत्—विश्रुतस्य मुखेन दुर्गायाः सन्देशवचनम्। भाग्यवान् सौभाग्यशाली। आर्यया देव्या दत्तः कल्पितः इति

---

१२७. दत्तमेनमद्य   १२८. मत्पुत्रतया मन्द०

दत्तो नाथः' इत्यप्रीयन्त प्रकृतयः । सा तु वाचामगोचरां हर्षावस्थामस्पृशन्मे श्वश्रूः । तदहरेव च यथावदग्राहयन्मञ्जुवादिनीपाणिपल्लवम् ।

[भास्करवर्मणः प्रभावप्रसिद्धिरुपनयनं च]

४५. प्रपन्नायां च यामिन्यां सम्यगेव विलं प्रत्यपूरयम् । अलब्धरन्ध्रश्च लोको नष्टमुष्टिचिन्तादिकथनैरभ्युपायान्तरप्रयुक्तैर्दिव्यांशतामेव मम समर्थयमानो [१२६] मदाज्ञां नात्यवर्तत ।

आर्यादत्तः । नाथः रक्षकः । अप्रीयन्त हर्षमग्नाः जाताः । वाचामगोचराम् अवर्णनीयाम्; परमाम्, अगाधामिति भावः । हर्षावस्थां प्रमोदम् । अस्पृशत् प्राप्नोत् । श्वश्रूः मञ्जुवादिन्याः माता वसुन्धरा । तद् अहः एव तस्मिन् एव दिने । यथावत्–विध्यनुसारम् । पाणिः हस्तः पल्लवमिव इति पाणिपल्लवम्, तत्; कोमलं सुन्दरं च हस्तमिति यावत् । आगामिनि दिवसे विघ्नः कोऽपि न आगच्छेत् इति भावनया दिवसस्य च अनुकूलतया आवयोः विवाहमकरोत् इति निष्कर्षः ।

४५. प्रपन्नेति—प्रपन्नायां समागतायाम् । यामिन्यां रात्री सम्यक् सुष्ठु, यथा अन्यः कोऽपि मम कपटं न जानीयात् । प्रत्यपू भरितवान् पिहितवान् वा । अलब्धं अप्राप्तं रन्ध्रं कपटकृत्यं रे मम नीतिमजानन् इत्यर्थः । नष्टेति—नष्टम् अदृश्यं जा मुष्टिः मुष्टिगतं वस्तु, चिन्ता चिन्तितं वस्त्वादि, तानि आदौ येषां, तेषां कथनैः वाण्या यथावत् प्रकाशनैः । अन्ये अभ्युप इति अभ्युपायान्तराः, तैः प्रयुक्तैः व्यवहृतैः । दिव्यांश अंशः भागः, तस्य भावः, ताम्; नाहं मानुषमात्रः विशिष्टः चापि इति भावः । समर्थयमानः प्रतिपा

---

१२६. त्वदाज्ञाम्

न
याः
तां वि
, दिव्यां
यन् ।

राजपुत्रस्यार्यापुत्र इति प्रभावहेतुः[130]प्रसिद्धिरासीत् । तं च गुणवत्यहनि भद्राकृतमुपनाय्य पुरोहितेन पाठयन्नीतिं राजकार्याण्यन्वतिष्ठम् ।

[विश्रुतस्य विमर्शः—नयवनस्पतिवर्णनम्]

४६. अचिन्तयं च—'राज्यं नाम शक्तित्रयायत्तं, शक्तयश्च मन्त्रप्रभावोत्साहाः परस्परानुगृहीताः कृत्येषु क्रमन्ते । मन्त्रेण हि विनिश्चयोऽर्थानां, प्रभावेण प्रारम्भः, उत्साहेन निर्वहणम् । अतः

आदेशम् । अत्यवर्तत उल्लंघितवान् । आर्यायाः देव्याः पुत्रः । प्रभावहेतुः उत्कर्षकारणम् । प्रसिद्धिः ख्यातिः । तं भास्करवर्माणम् । गुणवति शुभे; शुभनक्षत्रादियुक्ते भद्रादिभिः रहिते ज्योतिषशास्त्रानुमोदिते दिवसे इत्याशयः । भद्राकृतं कृतक्षौरकर्माणम्, मुण्डितं—नापितेन कृत्तकेशमित्यर्थः; दीक्षायाः पूर्वं क्षौरकर्म अनिवार्यम् । 'भद्राकृतं कृतकल्याणश्मश्रुम्' इति पदचन्द्रिका । उपनाय्य उपनयनसंस्कारं कारयित्वा । नीतिं दण्डनीतिम् । अन्वतिष्ठं समपादयम् ।

४६. अचिन्तयमिति—अचिन्तयम् अहं विमर्शमकरवम् । शक्तीनां सामर्थ्यानां त्रयम्, तस्मिन् आयत्तमधीनम्; शक्तित्रयेण स्थितमिति भावः । मन्त्रः अमात्यादिभिः सह मन्त्रणया जनिता शक्तिः; प्रभावः राज्ञः तेजसा उत्पन्ना शक्तिः; उत्साहः राज्ञः मनसः दृढतया कर्मप्रवृत्तितया च प्राप्ता शक्तिः; एताः तिस्रः शक्तयः राज्यं धारयन्ति । परस्परं मिथः अनुगृहीताः मिलिताः; सहप्रयुक्ताः परस्परं योगं कुर्वाणाः । कृत्येषु राजकर्मसु । क्रमन्ते वृद्धिं प्राप्नुवन्ति । विनिश्चयः निर्धारणम् । अर्थानां कर्त्तव्याकर्त्तव्यकर्मणाम् प्रारम्भः कर्त्तव्यकर्मसु प्रवर्तनम् । निर्वहणं

---

१३०. ०हेतुप्रसिद्धिः

पञ्चाङ्गमन्त्रमूलो द्विरूपप्रभावस्कन्धश्चतुर्गुणोत्साहविटपो द्विसप्ततिप्रकृतिपत्रः षड्गुणकिसलयः शक्तिसिद्धिपुष्पफलश्च नयवनस्पतिर्नेतुरुपकरोति । स चायमनेकाधिकरणत्वादसहायेन

सिद्धिः, कार्यान्तस्य प्राप्तिः इति भावः । **पञ्चेति**—पञ्च सहायसाधनादीनि अङ्गानि यस्य सः, तथाविधः मन्त्रः एव मूलं यस्य सः । अत्र नयवृक्षस्य वर्णनं क्रियते । यथा वृक्षस्य स्थितिः मूलेन भवति, तथैव नीतिरपि पञ्चांगमन्त्रमाश्रितास्ति । पञ्चांगानामेतेषां वर्णनं कामन्दकीयनीत्यामेवं वर्तते—

"सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः ।
विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमुच्यते ॥"

द्विरूपेति—द्विरूपः द्विविधः प्रभावः तेजः एव स्कन्धः अंसः यस्य सः; धनसमृद्धिः पुरुषबाहुल्यं चैते द्वे प्रभावस्य कारणम्; अतः तस्य द्विरूपत्वम् अत्र प्रतिपादितम् । **चतुरिति**—चत्वारः गुणाः सामदानभेददण्डाख्या भेदाः यस्य स चतुर्गुणः । तादृशः उत्साह एव विटपाः शाखा यस्य सः । **द्विसप्ततीति**—द्विसप्ततिः प्रकृतयः एव पत्राणि यस्य सः । एतासां द्विसप्ततिप्रकृतीनां वर्णनं हिन्दीटिप्पणीषु द्रष्टव्यम् । षट् सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावरूपाः गुणाः एव किसलयानि पल्लवानि यस्य सः । शक्तिः च सिद्धिः च, ते एव पुष्पफले यस्य सः; शक्तिः सामर्थ्यं नयवृक्षस्य पुष्पं, सिद्धिः साफल्यं च फलं स्तः इति भावः । नयः राजनीतिः एव वनस्पतिः वृक्षः, स नयवृक्षः । नेतुः नायकस्य, नयप्रयोक्तुः जयकामस्य राज्ञः इति भावः । उपकरोति लाभं प्रयच्छति, कर्माणि सुष्ठु सम्पाद्य सिद्धिं प्रयच्छति, सुखिनं च विदधाति । अनेकानि अधिकरणानि आधाराः प्रकाराः अवयवाः वा यस्य, तस्य भावः, तस्मात्; अयं विविधासु दिक्षु प्रसृतः अस्ति इति भावः । न विद्यते सहायः यस्य,

दुरुपजीव्यः[131]। यस्त्वयमार्यकेतुर्नाम मित्रवर्ममन्त्री, स कोसला-भिजनत्वात् कुमारमातृपक्षो मन्त्रिगुणैश्च युक्तः, तन्मतिमवमत्यैव ध्वस्तो मित्रवर्मा, स चेल्लब्धः पेशलम्' इति।

[आर्यकेतोरुपलब्धिः]

४७. अथ नालीजङ्घं रहस्यशिक्षयम्—'तात, आर्यमार्यकेतु-मेकान्ते ब्रूहि- 'को न्वेष मायापुरुषो य इमां † राजलक्ष्मीमनुभवति। स चायमस्मद्बालो भुजङ्गेनामुना परिगृहीतः। किमुद्-

---

तेन असहायेन साहाय्यरहितेन। दुरुपजीव्यः दुःखेन भोग्यः। **यस्त्विति**—कोसलाभिजनत्वात् कोसलवंशोत्पन्नत्वात्। कुमारस्य भास्करवर्मणः मातुः पक्षः पक्षस्थः। वसुन्धरा चापि कोसलवंशोत्पन्ना अस्ति, तस्यामस्य पक्ष-पातः स्वाभाविकः इत्याशयः। मन्त्रिणः सचिवस्य गुणाः दण्डनीतिकौश-लादयः, तैः। **तन्मतिमिति**—तस्य मतिम्। अवमत्य तिरस्कृत्य। विश्रुतेन इतः पूर्वम् मित्रवर्मकृतार्यकेतुतिरस्कारस्य उल्लेखः न कृतः। अस्मिन् विश्रुताख्याने तु वसुरक्षितोपदेशं प्रति एव अनन्तवर्मणः अवज्ञा वर्णि-तास्ति। ध्वस्तः नष्टः। पेशलं शोभनम्।

४७. **अथेति**—अथ ततः। रहसि उपांशु—एकान्ते। अशिक्षयं आर्यकेतुमुपगम्य कथं व्यवहर्तव्यमिति उपदिष्टवान्। एकान्ते रहसि। ब्रूहि कथय। **को न्विति**—नु खलु। मायापुरुषः। मायया छलादिना युक्तः पुरुषः, कपटी ऐन्द्रजालिकः इत्यर्थः। राजलक्ष्मीं राज्ञः श्रियम्। यतः अयम् मित्रवर्मराज्यमधितिष्ठति। अस्माकं बालः दारकः भास्कर-वर्मा; नालीजंघार्यकेत्वोः भास्करवर्ममातृपक्षत्वात् अस्मद्बालः इत्युक्तम्। भुजङ्गेन कुटिलेन, दुष्टेन; भुजं कुटिलं गच्छति इति भुजंगः। अमुना विश्रुतेन। परिगृहीतः आत्माधीनं स्थापितः। उद्गीर्येत वम्येत, त्यज्येत

---

१३१. ०जीवः † राज्य०

४८. सोऽन्यदैवं मामावेदयत्—"मुहुरुपास्य प्राभृतैः प्रवर्त्य चित्राः कथाः संवाह्य पाणिपादमतिविस्रम्भदत्तक्षणं तमप्राक्षं त्वदुपदिष्टेन नयेन । सोऽप्येवमकथयत्—'भद्र, मैवं वादीः । अभिजनस्य शुद्धिदर्शनमसाधारणं [१३२]बुद्धिनैपुण्यमतिमानुषं प्राणबलमपरिमाणमौदार्यमत्याश्चर्यमस्त्रकौशलमनल्पं शिल्पज्ञान-मनुग्रहार्द्रं चेतस्तेजश्चाप्यविषह्यमभ्यमित्रीणमित्यस्मिन्नेव संनि-

---

इति भावः । ग्रस्येत कवलोक्रियेत नाशं प्राप्येत इत्याशयः । बोध्यः ज्ञापनीयः ।

४८. स इति—अन्यदा अन्येद्युः । आवेदयत् निवेदितवान् । मुहुः वारम्वारम् । उपास्य सेवां विधाय । प्राभृतैः उपायनैः । प्रवर्त्य प्रारभ्य । चित्राः रुचिकराः । संवाह्य संपीड्य; सुखं मर्दयित्वा इत्यर्थः । **अतीति**—अतिविस्रम्भेण परमविश्वासेन दत्तः प्राप्तः क्षणः हर्षः येन तम्; विश्वासेन प्रीतमित्यर्थः । अप्राक्षम् अपृच्छम् । **अभिजनेति**—अभिजनस्य जन्मनः कुलस्य वा । शुद्धेः पवित्रतायाः अमिश्रणस्य वा दर्शनं दर्पणं; स्थितिरित्यभिप्रायः । असाधारणं विलक्षणम् अद्वितीयं महद् वा; निपुणस्य भावः नैपुण्यं, बुद्धेः मत्याः नैपुण्यं कौशलम्; चातुर्यमित्यर्थः । अतिमानुषम् अलौकिकम् । प्राणबलं सामर्थ्यम् । अपरिमाणम् अतुलनीयम् । औदार्यं दानशीलत्वं महानुभावत्वं वा । आश्चर्यमतिक्रम्य इति अत्याश्चर्यं परमविस्मयजनकम् । अस्त्रेषु बाणादिप्रक्षेप्यायुधेषु कौशलं प्रावीण्यम् । अनल्पं प्रभूतम् । अनुग्रहेण दयया आर्द्रं क्लिन्नं परीतं स्निग्धम् इति भावः । तेजः प्रतापः, प्रभावो वा । अविषह्यं सोढुमशक्यम् । अभ्यमित्रीणम् अमित्रान् अरीन् अभि

---

१३२. बुद्धिनैपुणम्

पातिनो गुणा येऽन्यत्रैकैकशोऽपि दुर्लभाः। द्विषतामेष चिरविल्व[133] द्रुमः, प्रह्वाणां तु चन्दनतरुस्तमुद्धृत्य † नीतिज्ञंमन्यमश्मकमिमं च राजपुत्रमनेन पित्र्ये पदे प्रतिष्ठितमेव विद्धि। नात्र संशयः कार्यः" इति।

[विश्रुतस्य शासनव्यवस्था]

४९. तच्चापि श्रुत्वा भूयोभूयश्चोपधा[134] भिर्विशोध्य तं मे मतिसहायमकरवम्। तत्सखश्च सत्यशौचयुक्तानमात्यान्

अभिमुखम् अलं गच्छतीति; तथाविधं तेजः। सन्निपातिनः एकत्र वर्तमानाः। एकैकशः पृथक् पृथक्। **द्विषतामिति**—द्विषतां शत्रूणाम्। चिरविल्वद्रुमः विषवृक्षः; चिरं बिलति भिनत्ति इति; 'चिरविल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके' इत्यमरः; शत्रुरूपरोगनिवारणाय औषधमिव इति भावः। प्रह्वाणां नतानां भक्तिमतामित्यर्थः। चन्दनतरुः मलयजः;सुखप्रदः इति भावः। उद्धृत्य विनाश्य। नीतिज्ञम् नयकुशलम् आत्मानं मन्यते बोधति, तं नयकौशलाभिमानिनम्। अश्मकम् अश्मकस्य स्वामिनं वसन्तभानुम्। अनेन विश्रुतेन। पित्र्ये पदे पितुः राज्ये। प्रतिष्ठितम् स्थिरीकृतम्।

४९. **तच्चापीति**—तत् नालीजंघवचः। भूयो भूयः पुनः पुनः। उपधाभिः परीक्षणोपायैः। विशोध्य भावशुद्धिं विज्ञाय। मतिसहायं मतिषु आत्मविचारेषु सहायं सहायकम्, आत्मानुकूलमित्यभिप्रायः। तस्य आर्यकेतोः सखा मित्रं सः तत्सखः अहम्। सत्यशौचयुक्तान् भक्तिसद्भावादिसत्यप्रतिज्ञानं सत्यम्; कपटादिरहितः व्यवहारः शौचं-शुद्धिः, ताभ्यां युक्तान् विभूषितान्, सत्यशौचपरायणान् इति भावः।

---

१३३. चिलिविलि † ० तरुस्तदुद्धृत्य १३४. चोपदाभिः

विविधव्यञ्जनांश्च गूढपुरुषानुदपादयम् । तेभ्यश्चोपलभ्य लुब्धसमृद्धमत्युत्सिक्तमविधेयप्रायं च प्रकृतिमण्डलमलुब्धताम-भिख्यापयन्, धार्मिकत्वमुद्भावयन्, नास्तिकान् कदर्थयन्, कण्टकान्

अमात्यान् सचिवान् । विविधेति—विविधानि अनेकप्रकाराणि व्यञ्जनानि प्रच्छदादिरूपाणि येषां, तान् अनेकरूपान् विविधवेषधारिणः वा । गूढान् गुप्तचरान् पुरुषान् सेवकजनान् । उदपादयं नियोजितवान् । तेभ्यः गूढपुरुषेभ्यः । लुब्धश्चासौ समृद्धश्च, तं धनादेः गृध्नं धनिकम् । अत्युत्सिक्तं परमाभिमानयुतं सदर्पमित्यर्थः । अविधेयप्रायं बाहुल्येन सामान्येन वा अविधेयम् अप्रतिकारम् अवशीभूतं वा । प्रकृतिमण्डलं द्विसप्ततिप्रकृतीः, यथा कौटिल्येन अर्थशास्त्रे षष्टेऽधिकरणे द्वितीये-ऽध्याये प्रपञ्चितम् । अलुब्धताम् आत्मनः लोभरहितां प्रकृतिम्; अथवा अलोभस्य प्रशंसाम् इति भावोऽभिप्रेतः स्यात् । अभिख्यापयन सर्वत्र प्रचारयन् । धार्मिकत्वं धर्मप्रेमाचरणादिकम् आत्मनः प्रजानां वा । उद्भावयन् प्रकाशयन् । नास्तिकान् श्रुतिस्मृतिनिन्दकान् परलोके च विश्वासमकुर्वाणान् । तथा चाह मनुः—

> "योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
> स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥
> नास्तिक्यं वेदनिन्दा च.......... ॥"

अत्र 'नास्ति परलोक इति बुद्धिम्' इति नास्तिक्यस्य कुल्लूकभट्टकृतं व्याख्यानम् । एतादृशान् वेदपरलोकादिष्वविश्वासपरायणान् । कदर्थयन् तिरस्कुर्वन् । कण्टकान् प्रजाकष्टकराः स्थितीः; कौटिल्यार्थशास्त्रे प्रजाभिः राजनियमानां भंगः, अग्निव्याधिदुर्भिक्षोदकमूषिकव्यालसर्परक्षांसि इति अष्टौ दैवानि कष्टानि, गुप्तचरादीनां जीवितसंशयादिकम् इत्येवं बहुविधाः कण्टकाः प्रतिपादिताः सन्ति; ते प्रजायाः शत्रुभूताः सन्तः कण्टकवत्

विशोधयन्, अमित्रोपधीर[१३५] पघ्नन्, चातुर्वर्ण्यं च स्वधर्मकर्मसु स्थापयन् अभिसमाहारेयमर्थान् । अर्थमूला हि दण्डविशिष्टकर्मारम्भाः । न चान्यदस्ति पापिष्ठं तत्र दौर्बल्यात् इत्याकलय्य योगानन्वतिष्ठम् ॥'

इति श्रीदण्डिनः कृतौ दशकुमारचरिते विश्रुतचरितं नामाष्टम

उच्छ्वासः ।

दुःखदायिनः, अतस्तेषां शोधनं नितरामावश्यकम् । विशोधयन् उद्धरन् । अमित्राणां शत्रूणाम् उपधीः कूटप्रयोगान् अपघ्नन् विफलयन् । चतुर्णां वर्णानां समूहः चातुर्वर्ण्यम् । अथवा-चत्वारो वर्णाः चतुर्वर्णाः, तेषां भावः चातुर्वर्ण्यम् । स्वधर्मकर्मसु स्वकर्त्तव्यकर्मसु । स्थापयन् स्थिरीकुर्वन् । अभिसमाहरेयम् आचिनुयाम् । अर्थेति—अर्थः धनादिकं मूलम् आश्रयः येषां, ते धनाश्रिताः । दण्डेन राजनीत्या विशिष्टाः उपलक्षिताः कर्मणां कार्याणाम् आरम्भाः प्रवर्तनानि, अथवा—दण्डानां दण्डसाध्यानां विशिष्टानां च कर्मणाम् आरम्भा उद्योगाः" इति बालबोधिनी । अन्यद् भिन्नम् । पापिष्ठम् अतिशयेन पापि (=पापम्); निकृष्टं दोषपूर्णं वा कर्म इति यावत । तत्र राजनीतिकर्मारम्भेषु । दौर्बल्यात् दुर्बलस्य भावः, तस्मात्; दौर्बल्यं परित्यज्य इति भावः । आकलय्य विचिन्त्य । योगान् विविधान् उपायान् । अन्वतिष्ठम् प्रयुक्तवान् ।

इति डा० सुधीरकुमारगुप्तविरचितायां सुधीरिण्यां भावप्रकाशिकायां टीकायां विश्रुतचरितं नाम अष्टम उच्छ्वासः ।

---

१३५. उपघ्नन्

दशकुमारचरिते

उत्तरपीठिकायां

विश्रुतचरितभागः

[विश्रुतस्य नीतिः]

५०. व्यचिन्तयञ्च—'सर्वोऽप्यतिशूरः सेवकवर्गो मयि तथा ऽनुरक्तो यथाऽऽज्ञया जीवितमपि तृणाय मन्यते । राज्य-द्वितयसैन्यसामग्र्या च नाहमश्मकेशा[1]द्वसन्तभानोर्न्यूनो नीत्या-

---

उत्तरपीठिकायां विश्रुतकथाभागः

सुधीरिणी भावप्रकाशिका टीका

अष्टमोच्छ्वासस्य समाप्तौ अपि विश्रुतचरितं समाप्ति न यातम् । अतोऽत्र तदवशिष्टमंशं प्रस्तौति दण्डिशिष्यः कश्चित् कविः । आर्यकेतु प्राप्य, विविधरूपान् गूढपुरुषान् नियोज्य, योगान् अनुष्ठाय, स विश्रुतः वसन्तभानुमुच्छेत्तु कामयमानो विचारयति ।

५०. व्यचिन्तयमिति—व्यचिन्तयं विचारमकरवम् । अति-शयेन शूरः परमवीरः । सेवकानां राजपुरुषाणां वर्गः समुदायः । अनुरक्तः भक्तः । जीवितं प्राणान् । तृणाय मन्यते त्यक्तुमुद्यत इति भावः । राज्येति—राज्ययोः द्वितयम् । द्वे राज्ये तु मित्रवर्मप्रचण्डवर्मणोः आस्ताम् । तयोः राज्ययोः सैन्यस्य सामग्र्या; विपुलसेनया युक्तः इति भावः । नेति—वसन्तभानुरपि राज्यद्वयशक्तिसम्पन्नः—स्वकीयं राज्यम्

---

१. अश्मकेन्द्राद्

विष्टश्च । अतो वसन्तभानुं पराजित्य विदर्भाधिपतेरनन्त-वर्मणस्तनयं भास्करवर्माणं पित्र्ये पदे स्थापयितुमलमस्मि । अयं च राजसूनुर्भवान्या पुत्रत्वेन परिकल्पितः । अहं चास्य साहाय्ये नियुक्तः' इति सर्वत्र किंवदन्ती संजाताऽस्ति । अद्यापि चैतन्मत्कपटकृत्यं न केनापि विदितम् । अत्रस्थाश्च अस्मिन् भास्करवर्मणि राजतनये 'अयमस्मत्स्वामिनोऽनन्तवर्मणः पुत्रो भवान्याः प्रसादादेतद्राज्यमवाप्स्यति' इति बद्धाशा वर्त्तन्ते । अश्मकेशसैन्यं[२] च राजसूनोर्भवानीसाहाय्यं विदित्वा 'दैव्याःशक्तेः

अनन्तवर्मणश्चेति । न्यूनः हीनः । नीत्याविष्टः नीतिप्रयोगकुशलः नीति-परायणो वा । पराजित्य उन्मूल्य । विदर्भस्य अधिपतिः राजा, तस्य । अलं समर्थः । भवान्या शिवपत्न्या दुर्गादेव्या । पुत्रत्वेन पुत्ररूपेण । कल्पितः भावितः । साहाय्ये सहायताकरणे । किंवदन्ती जनश्रुतिः । संजाता प्रसृता । मम कपटकृत्यं छलकर्म । विदितं ज्ञातम्—अवबुद्धम् । अत्रस्थाः अत्र माहिष्मत्यां मित्रवर्मराजधान्यां तिष्ठन्ति इति अत्रस्थाः, मित्रवर्मप्रजाः इत्याशयः । **अस्मदिति**—पूर्वं वर्णितं यदनन्तवर्मराज्यं वसन्तभानुनात्मसात् कृतम्, वसुरक्षितश्च कैश्चिन्मौलैः सबालं वसुन्धरा-मादाय ततोऽपक्रान्तः । वसुन्धरा च मित्रवर्मराज्ये आसीत्, सर्वं च पूर्वगतं वृत्तं माहिष्मत्यां घटितम् । अतः माहिष्मतीस्थजना अनन्तवर्मप्रजाः कथमिति समाधानमूह्यम् । सम्भाव्यते मित्रवर्मराज्यम् अनन्तवर्मराज्यस्य मण्डलमासीत्, मित्रवर्मा च अनन्तवर्मणा नियुक्तः सामन्तः मण्डलरक्षको वासीत् । **भवान्या इति**—प्रसादात् अनुग्रहेण । बद्धाशाः बद्धा आशा यैर्याभिर्वा, ते ताः वा । अश्मकस्य अश्मकेन्द्रस्य अश्मकदेशस्य वा सैन्यं बलम् । भवानीसाहाय्यं भवान्या प्रदत्तं नियुक्तं वा साहाय्यं माम्; अथवा,

---

२. अश्मकेन्द्रसैन्यं

पुरो न बलवता मानवी शक्तिः' इत्यस्माभिर्विग्रहे चलचित्तमिवोपलक्ष्यते । अत्रत्याश्च मौलाः प्रकृतयः प्रथममेव राजसुताभ्युदयाभिलाषिण्य इदानीं च पुनर्मया दानमानाद्यावर्जनेन विश्वासिता विशेषेण राजपुत्रमेवाभिकाङ्क्षन्ति । अश्मकेन्द्रान्तरङ्गाश्च भृत्या मदीयैर्विश्वास्यतमैः पुरुषैः प्रभूतां प्रीतिमुत्पाद्य मदाज्ञया रहसीत्युपजप्ताः— 'यूयमस्मन्मित्राणि, अतोऽस्माकं शुभोदर्कं वचो वाच्यमेव । अत्र भवान्या राजसूनोः साहाय्यकाय

भवान्याः साहाय्यं सहायताम्, भवानी स्वयं साहाय्यं करिष्यति, शत्रून् उद्धरिष्यति इति भावः । विदित्वा ज्ञात्वा । दैव्याः देवः एव दैवः, स्त्रियां दैवी, तस्याः, दुर्गायाः इति निष्कर्षः । मानवी शक्तिः मनुष्याणाम् सामर्थ्यम् । अस्माभिः विश्रुतभास्करवर्मादिभिः सह । विग्रहे युद्धे । चलेति—चलं चञ्चलं चित्तं मनः यस्य-तत्; व्याकुलचित्तमिव, अतः अस्थिरमिति यावत् । उपलक्ष्यते ज्ञायते, दृश्यते वा । अत्रत्याः इहस्थाः मौलाः मूलभूताः कुलक्रमेण राष्ट्रस्यादितः निवासिनः, तद्राष्ट्रकल्याणकामाः जनाः इत्यभिप्रायः; ताः प्रजाः तु विदर्भनगरवासिनः एव स्युः । अथवा ये जनाः वसुरक्षितेन वसुन्धरया च सह माहिष्मतीमागताः तेऽभिप्रेताः स्युः । राजसुतेति—राजसुतस्य भास्करवर्मणः अभ्युदयस्य पित्र्ये पदे अवस्थितेः अभिलाषिण्यः कामयमानाः । दानमानादीनां धनवस्त्रभूम्यादिसत्कारादीनाम् आवर्जनेन वितरणेन प्रयोगेणाभिमुखीकरणेन इति वा । विश्वासिताः सत्यापिताः । अश्मकेति—अश्मकेन्द्रस्य वसन्तभानोः अन्तरङ्गाः विश्वस्ताः पुरुषाः । भृत्याः दासाः । विश्वास्यतमैः अतिशयेन विस्रम्भभाजनैः । प्रभूतां महतीम् । प्रीतिं प्रेम-विस्रम्भमिति भावः । उपजप्ताः वचोभिः स्वामिनं प्रति भिन्नाः । शुभोदर्कं शुभं कल्याणकरम् उदर्कं परिणामः यस्य तत्, कल्याणोत्तरफल-

विश्रुतं विश्रुतं नियुज्य तद्धस्तेनाश्मकेन्द्रस्य वसन्तभानोस्तत्पक्षे स्थित्वा ये चानेन सह योत्स्यन्ते तेषामप्यन्तकातिथिभवनम्। यावदश्मकेन्द्रेण स जन्यवृत्तिर्न जातस्तावदेनमनन्तवर्मतनयं भास्करवर्माणमनुसरिष्यथ। स वीतभयो भूयसीं प्रवृत्तिमासाद्य सपरिजनः सुखेन निवत्स्यति, न चेद् भवानीत्रिशूलवश्यो भविष्यति। भवान्या च ममेत्याज्ञप्तमस्ति यदेकवारं सर्वेषां कथय। अतोऽस्माकं युष्माभिः सह मैत्रीमवबुध्यास्मन्मुखेन सर्वेभ्यो[3] गदितम्[4]।' [5]इत्याकर्ण्य तेऽश्मकेन्द्रान्तरङ्गभृत्या राजसूनोर्भवानीवरं विदित्वा पूर्वमेव भिन्नमनस आसन्। विशेष-

---

मित्यर्थः। विश्रुतं प्रख्यातम्, दुर्गया दत्तमिति वा। विश्रुतं तन्नामकं पुरुषम्। तद्धस्तेन तस्य विश्रुतस्य हस्तेन पाणिना, विश्रुतद्वारा इति भावः। तत्पक्षे तस्य वसन्तभानोः पक्षे दले पार्श्वे वा। योत्स्यन्ते युद्धं करिष्यन्ति। अन्तकस्य यमराजस्य मृत्योः अतिथयः अभ्यागताः, तैः भवनम् स्थितिप्रापणम्, मरणमित्याशयः; तेऽवश्यं मृत्युमाप्स्यन्ति इति भावः। जन्यवृत्तिः जन्यं युद्धमेव वृत्तिर्व्यवहारो यस्य सः। अनुसरिष्यथ तत्पक्षीया भवत, तं स्वामित्वेन स्वीकुरुत इत्याशयः। वीतभयः वीतं गतं भयं यस्मात् सः, निर्भयः। भूयसीं प्रभूताम्। प्रवृत्तिं गौरवं सम्पदादिकं वा। आसाद्य प्राप्य। भवानीति—भवान्याः दुर्गायाः; त्रिशूलस्य पिनाकस्य वश्यः अभिभवनीयः, भवानी तस्य वधं विधास्यति इत्याशयः। ममेत्याज्ञप्तमस्ति अहम् एवम् आदिष्टः। अवबुध्य कारयित्वा ज्ञात्वा वा। भवान्याः वरः आशीर्वादः, तम्। भिन्नमनसः भिन्नानि चञ्चलानि मनांसि

---

३. सर्वेभ्योऽपि   ४. वार्तम्   ५. वार्तामिमामा०

तच्च मदीयमिति वचनं श्रुत्वा ते सर्वेऽपि मद्वशे समभवन् ।

[वसन्तभानोर्विमर्शो विश्रुतं प्रत्यभियानं च]

५१, एतं[6] सर्वमपि वृत्तान्तमवबुध्याश्मकेशेन[7] व्यचिन्ति—'यद्राजसूनोर्मौलाः प्रजास्ताः सर्वा अप्येनमेव प्रभुमभिलपन्ति । मदीयश्च वाह्य आभ्यन्तरो भृत्यवर्गो भिन्नमना इव लक्ष्यते । एवं यद्यहं क्षमामवलम्ब्य गृह एव स्थास्यामि तत उत्पन्नोपजापं स्वराज्यमपि परित्रातुं न शक्ष्यामि । अतो यावता भिन्नचित्तेन मदवबोधकं प्रकटयता मद्वलेन सह मिथोवचनं न संजातं तावतैव तेन साकं विग्रहं रचयामि । इत्येवं विहिते सोऽवश्यं मदग्रे क्षणमवस्थास्यति' इति निश्चित्यान्यायेन परराज्यक्रमणपातक-

---

चिन्हानि येषां, ते; क्षीणभवतयः । मम वशे मद्वशे समभवन् मम निर्देशवर्तिनः जाताः ।

५१. सर्वमिति—अवबुध्य ज्ञात्वा । व्यचिन्ति विचारितम् । प्रभुं स्वामिनम् । वाह्यः साधारणः । आभ्यन्तरः अन्तरंगः, विश्वस्त इति यावत् । क्षमां धैर्यम् । उत्पन्नः जातः उपजापः भेदः यस्य, तत् उत्पन्नोपजापम् । स्वराज्यम् आत्मनः राष्ट्रम् । मदवबोधकं मम अवबोधकं निश्चयं–युद्धनिर्णयं, मद्वलस्थितिविषयक विचारं वा इति भावः । मिथः परस्परं वचनं वार्तालापः तत् मिथोवचनम्, भेदवचनं वा; यावत् विश्रुतः मम सैन्येन सह प्रत्यक्षम् अप्रत्यक्षं वा वार्तालापं न करोति । तावता तस्मात् पूर्वमेव । विग्रहं युद्धम् । विहिते कृते, युद्धे रचिते इति भावः । क्षणं क्षणमात्रमेव, न वहुकालं यावत् । अवस्थास्यति युद्धं कर्तुं समर्थः

---

६. एतं

७. अश्मकेन्द्रेण

प्रेरितः ससैन्यो मृत्युमुखमिवास्मत्सैन्यमभ्यगात्[८] ।

[विश्रुतस्य विजयो वसन्तभानोर्मृत्युश्च]

५२. तमभ्यायान्तं विदित्वा राजपुत्रः पुरोऽभवत् । अतोऽश्मकेन्द्रमेव तुरगाधिरुढो यान्तमभ्यसरम् । तावत् सर्वा एव तत्सेना 'यदयमेतावतोऽपरिमितस्यास्मत्सैन्यस्योपर्येक एवाभ्यागच्छति तत्र भवानीवर एवासाधारणं कारणं, नान्यत्' इति निश्चित्यालेख्यलिखितेवावस्थिता[९] । ततो मयाऽभिगम्य संगराय समाहूतो वसन्तभानुः समेत्य मामसिप्रहारेण दृढमभ्यहन्[१०] । अहं च शिक्षाविशेषविफलिततदसिप्रहारः प्रतिप्रहारेण तं

भविष्यति । परेति—परस्य अन्यस्य अनन्तवर्मणः इति यावत् राज्यस्य राष्ट्रस्य क्रमणस्य आत्मसात्करणस्य पातकेन पापेन प्रेरितः चालितः ।

५२. तमेति—तं वसन्तभानुम् । अभ्यायान्तम् युद्धाय आत्माभिमुखम् आगच्छन्तम् । राजपुत्रः भास्करवर्मा । तुरगम् अश्वम् अधिरूढः आसीनः । यान्तम् अग्रे गच्छन्तम् । पुरतः आगच्छन्तमिति भावः । इदं पदम् 'अश्मकेन्द्रम्' इत्यस्य विशेषणम् । अभ्यसरम् अभिमुखं समीपं वा अगच्छम् । तावत् तस्मिन् काले । तस्य वसन्तभानोः सेना तत्सेना । अपरिमितस्य असंख्यस्य । आलेख्ये चित्रे लिखिता चित्रिता, निश्चला इत्यर्थः । संगराय युद्धाय । समाहूतः आकारितः । दृढं बलपूर्वकं, पूर्णसामर्थ्येन इति भावः । शिक्षेति—शिक्षायाः आयुधप्रयोगकौशलस्य यो विशेषः वैशिष्ट्यं तेन विफलितो व्यर्थीकृतः तस्य असेः कृपाणस्य प्रहारो हननं येन सः । वसन्तभानोः आघातस्य उत्तररूपेण तस्योपरि प्रहारेण आघातेन इति

---

८. ०मभ्ययात् ९. ०वस्थिताः १०. ०मभ्यहनत्

प्रहृत्याव[११] 'कृत्तमश्मकेन्द्रशिरोऽवनौ विनिपात्य तत्सैनिकानवदम्— 'अतः परमपि ये युयुत्सवो भवन्ति ते समेत्य मया युध्यन्ताम्। न चेद् राजतनयचरणप्रणामं विधाय तदीयाः सन्तः स्वस्ववृत्युपभोगपूर्वकं निजान् निजानधिकारान् निःशङ्कं परिपालयन्तः सुखेनावतिष्ठन्तु' इति। मद्वचनश्रवणानन्तरं सर्वेऽप्यश्मकेन्द्रसेवकाः स्वस्ववाहनात् सहसावतीर्य राजसूनुमानम्य तद्वशवर्तिनः समभवन्।

[भास्करवर्मणो राज्याभिषेकः]

५३. ततोऽहं तदश्मकेन्द्रराज्यं राजसूनुसाद् विधाय तद्रक्षणार्थं मौलान् स्वानधिकारिणो नियुज्यात्मीभूतेनाश्मकेन्द्रसैन्येन

प्रतिप्रहारेण। प्रहृत्य मृत्युं प्रापय्य। अवकृत्तं छिन्नम्। अवनौ भूम्याम् विनिपात्य क्षिप्त्वा इति भावः। युयुत्सवः युद्धकामाः। समेत्य मिलित्वा आगत्य। राज्ञः अनन्तवर्मणः तनयस्य पुत्रस्य भास्करवर्मणः चरणाभ्यां पादाभ्यां प्रणामं नमस्कारम्। विधाय कृत्वा। तदीयाः तस्य अनुयायिनः। स्वस्याः स्वस्या आत्मनः वृत्तेः आजीविकायाः भृतेः वा उपभोगः प्राप्तिः पूर्वं यस्मिन् कर्मणि, तद् यथा स्यात् तथा। अधिकारान् पदानि। निःशङ्कं निर्भयम् परिपालयन्तः उपभुञ्जानाः, अधिकारानुरूपं कर्मादिकं सम्पादयन्तः इति वा।

५३. तत इति—राजसूनुसात् राजपुत्रस्य अधीनम्। तद्रक्षणार्थं तस्य पालनाय, सुष्ठु चालनाय वा। मौलान् प्रमुखान्, कुलक्रमागतान् प्राचीनान् जनान् वा। स्वान् आत्मीयान् सम्बन्धिनः। अधिकारिणः अध्यक्षान् राजकर्मसम्पादकान् वा। आत्मीभूतेन आत्मवशवर्तिजातेन।

---

११. प्रहृत्याव ०

च साकं विदर्भानभ्येत्य राजधान्यां तं राजतनयं भास्करवर्माण-मभिषिच्य पित्र्ये पदे न्यवेशयम् ।

[विश्रुतस्य राज्यलाभो राजवाहनेन च समागमः]

५४. एकदा च मात्रा वसुमत्या सहावस्थितं तं राजानं व्यजिज्ञपम्—'मयैकस्य कार्य्यस्यारम्भश्चिकीर्षितोऽस्ति । स यावन्न सिद्ध्यति तावन्मया न कुत्राप्येकत्रावस्थातुं शक्यम् । अत इयं मद्भार्या त्वद्भगिनी मञ्जुवादिनी कियन्त्यहानि युष्मदन्तिकमेव तिष्ठतु । अहं च यावदिष्टजनोपलम्भं[12] कियन्तमप्यनेहसं भुवं विभ्रम्य तमासाद्य पुनरत्र समेष्यामि ।' इत्याकर्ण्य मात्राऽनुमतेन राज्ञाऽमहृगादि—'यदेतदस्माकमेतद्राज्योपलम्भलक्षणस्यैतावतोऽभ्युदयस्यासाधारणो हेतुर्भवानेव । भवन्तं विना क्षणमप्यस्मा-

---

विदर्भान् विदर्भदेशम् । अभिषिच्य राजतिलकं कृत्वा । न्यवेशयं स्थापितवान् ।

५४. **एकदेति**—अवस्थितम् उपविष्टम् । राजानं भास्कर-वर्माणम् । व्यजिज्ञपम् अकथयम् । चिकीर्षितः कर्तुमिष्टः । एकत्र सततमेकस्मिन् स्थाने । अवस्थातुं निवस्तुम् । शक्यं सम्भवति इति भावः । युष्मदन्तिकं तव समीपे । **यावदिति**—यावत् अवधि ज्ञापयति । इष्टः अभिप्रेतः जनः तस्य उपलम्भं प्राप्तिः; यावता कालेन इष्टजनः मिलति तावन्तं कालमिति भावः । कियन्तम् अनिश्चितं, परम् अल्पम् । अनेहसं कालम् । समेष्यामि आगमिष्यामि । अनुमतेन सहमति-प्राप्तेन । **एतदिति**—एतस्य राज्यस्य यदुपलम्भं प्राप्तिस्तस्य लक्षणं प्रज्ञापकं सूचकं वा इति भावः; तस्य । अभ्युदयस्य उत्कर्षस्य । हेतुः

---

१२. ०पलम्भः

भिरियं राज्यधूर्न निर्वाह्या । अतः किमेवं वक्ति भवान्' । इत्याकर्ण्य मया प्रत्यवादि–'युष्माभिरयं चिन्तालवोऽपि न चित्ते चिन्तनीयः । युष्मद्गृहे यः सचिवरत्नमार्यकेतुरस्ति स ईदृग्विधानामनेकेषां राज्यानां धुरमुद्वोढुं शक्तः । ततस्तं तत्र नियुज्याहं गमिष्यामि' इत्यादि वचनसंदोहैः प्रलोभितोऽपि सजननीको नृपोऽनेकैराग्रहैर्मां कियन्तमपि कालं प्रयाणोपक्रमान्न्यवर्तयत् । उत्कलाधिपतेः प्रचण्डवर्मणो राज्यं मह्यं प्रादात् । अहं च तद्राज्यमात्मसात् कृत्वा राजानमामन्त्र्य यावत् त्वदन्वेषणाय प्रयाणोपक्रमं करोमि तावदेवाङ्गनाथेन सिंहवर्मणा स्वसाहाय्यायाकारितोऽत्र समागतः पूर्वपुण्यविपाकात्[13] स्वामिना समगंसि ।'

इति श्रीदण्डिनः कृतौ दशकुमारचरिते उत्तरपीठिकायां

विश्रुतचरितम् ।

कारणम् । राज्यधूः राज्यस्य धूः राज्यधुरा, राज्यभारः इति यावत् । राज्यधूरिति प्रयोगस्तु चिन्त्यः । निर्वाह्या निर्वोढुं शक्या । चिन्तायाः लवः लेशः । सचिवेषु रत्नं, श्रेष्ठमिति भावः । उद्वोढुं धारयितुम् । वचनानां संदोहैः समूहैः । प्रलोभितः प्रतारितः मोहितो वा । आमन्त्र्य आपृच्छ्य । प्रयाणस्य उपक्रमः आरम्भः, तम् । आकारितः आहूतः । पूर्वेषां पुण्यानां शुभकर्मणां विपाकात् परिणामात् । स्वामिना त्वया राजवाहनेन । समगंसि संगतः, मिलितः ।

इति डा० सुधीरकुमारगुप्तविरचितायां सुधीरिण्यां भावप्रकाशिकायां टीकायां दशकुमारचरिते उत्तरपीठिकायां विश्रुतचरितं समाप्तम् ।

---

१३. परिपाकात्

विश्रुत चरित के परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

विश्रुतस्य कथा

(दशकुमारचरितस्याष्टमोच्छ्वासीया)

एकदा विन्ध्यवने भ्रमन् विश्रुत एकं भास्करवर्माणं नाम कुमारं कस्यचित् कूपस्य समीपे स्थितमपश्यत् । कुमारस्य रक्षको नालीजंघः कूपे पतित आसीत् । विश्रुतो नालीजंघं कूपाद् उदाहरत् । नालीजंघो विश्रुतम् आत्मवृत्तम् अकथयत्—'अस्य कुमारस्य पितानन्तवर्मा दण्ड-नीतिम् अनादृत्य राजकार्याणि नापश्यत् । अस्मात् तं नयपरायणो वसन्तभानुर्जवान तस्य राज्यं चात्मसाद् अकरोत् । अथ कुमारस्यास्य माता वसुन्धरा तेन, दुहित्रा मञ्जुवादिन्या च सह माहिष्मत्यां नगर्या देवरं मित्रवर्माणमुपागच्छत् । मित्रवर्मा तु दुष्ट आसीत् । स वसुन्धरा-मन्यथामन्यत । तस्य व्यवहारं दृष्ट्वा वसुन्धरा मां भास्करवर्माणं रक्षितुमाज्ञापयत् । अहं च कुमारम् नीत्वात्रागतः ।' विश्रुत एतत् श्रुत्वाकथयत्—'अहं वसन्तभानुं नयेनैवोन्मूल्य कुमारं पितृ राज्ये स्थापयिष्यामि ।' एतस्मिन् अन्तरे कश्चिद् व्याधस्तत्रागच्छत् । तस्माद् विश्रुतः ज्ञातवान् यत् प्रचण्डवर्म-मञ्जुवादिन्योर्विवाहः शीघ्रं भविष्यति ।

इदानीं विश्रुतः नालीजंघमकथयत्—"तात, वसुन्धराम् उपगम्य, एकान्ते कुमारस्य कुशलं निवेद्य, प्रकाशे तस्य मृत्युं प्रख्यापय । ततः संदिश्य वसुन्धरा मित्रवर्मणः आज्ञाकारिणी भवेत् । यदा स समीपम् आगच्छेत्, तदा तं विषदिग्धया मालयाभिहन्यात् । स मरिष्यति । ततो मन्त्रिणः पौरवृद्धांश्चाहूय कथयेत्—'देवी विन्ध्यवासिनी स्वप्ने मामकथयत्—अद्य चतुर्थे अहनि प्रचण्डवर्मा मरिष्यति । एको द्विज-

कुमारः कुमारेण सह मम भवनात् निर्गमिष्यति । स एव युष्माकं रक्षकः, मञ्जुवादिन्याः पतिश्च ।" नालीजंघो गत्वा सर्वमिदमेवमेव अकारयत् । विश्रुतः कुमारश्च श्मशाने कापालिकवेशेन अतिष्ठताम् । अन्यस्मिन् दिने विश्रुतः कापालिकवेषमपनीय नर्तको भूत्वा प्रचण्डवर्माणमन्वरञ्जयत्, अवसरं प्राप्य च तम् अहन् । प्रभाते च यथोक्तप्रकारं कुमारेण सह दुर्गामन्दिराद् निरगच्छत् । सर्वाः प्रजा एतत् सर्वं दृष्ट्वा परं विस्मिता अभूवन् । इदानीं विश्रुतमञ्जुवादिन्योर्विवाहोऽपि सम्पन्नः । विश्रुतश्च कुमारं राज्ये प्रतिष्ठाप्य राज्यं रक्षितवान् । समयक्रमेण स विश्रुत आर्यकेतुमन्यांश्च पुरुषान् स्वकीये पक्षे कृतवान् ।

[दशकुमारचरितस्योत्तरपीठिकान्तर्गता विश्रुतकथा]

अथ विश्रुतः कुमारस्य भवानीवरं विज्ञाप्य वसन्तभानुसैन्यम् अभिनत् । वसन्तभानुः सर्वाः स्थितीर्विचिन्त्य आक्रमणमकरोत् । विश्रुतः एकाकी एव तुरगारूढस्तं प्रति गत्वा तस्य शिरश् चिच्छेद । विश्रुतो वसन्तभानुसैन्यं कुमारस्य वशवर्ति भवितुमाकारयत् । सर्वे च वसन्तभानुं मृतं वीक्ष्य कुमारम् अनमन् ।

सम्प्रति विश्रुतो भास्करवर्माणं विदर्भराज्येऽभिषिक्तवान् । भास्करवर्मा विश्रुताय प्रचण्डवर्मराज्यमददात् । यावत् स भास्करवर्माणमनुनीय राजवाहनमन्वेष्टुं गन्तुमैच्छत् तावदेव सिंहवर्मसाहाय्याय गतः स राजवाहनेन समगंस्त ।

परिशिष्ट २

दशकुमारचरित
का
हिन्दी अनुवाद
आठवां उच्छ्वास

[विश्रुतचरित]

[विश्रुतचरित की भूमिका—भास्करवर्मा से मिलन]

१. अब वह भी कहने लगा—'महाराज, घूमते हुए मेरे द्वारा भी विन्ध्य वन में कहीं कुएं के पास भूख और प्यास से सताया हुआ, दुःखों के अयोग्य, लगभग आठ वर्ष का कोई राजकुमार देखा गया। वह भय से गद्गद स्वर में बोला—

[भास्करवर्मा की विपत्ति का प्रतिकार]

२. 'महानुभाव, श्रीमान् दुःखी मेरी [अर्थात् मुझ दुःखी की] सहायता कीजिए। इस मेरी प्राणों को निकालने वाली प्यास को दूर करने के लिए पानी खींचता हुआ मेरा एकमात्र आश्रय बना हुआ एक वृद्ध इस कुएं में गिर पड़ा है। मैं उसे निकालने में समर्थ नहीं हूं'। अब पास जा कर किसी [अर्थात्-एक] बेल से ही बूढे को ऊपर निकाल कर और बांस के खोखले डण्डे के छिद्र से खींचे हुए जल से और बाण के फेंकने की दूरी के बराबर ऊंचे लकुच (नाम) के वृक्ष की चोटी से

पत्थरों से गिराए हुए पांच छः फलों से उस कुमार को लौटे हुए प्राणों के व्यापार वाला [अर्थात्–प्रकृतिस्थ] कर के वृक्ष के नीचे बैठे हुए मैं ने बूढ़े से पूछा—

[भास्करवर्मा के विषय में प्रश्न]

३. 'श्रीमान्, यह बालक कौन है ? और आप कौन हैं ? तथा यह विपत्ति कैसे आई है ।'

[पुण्यवर्मा का वर्णन]

४. वह आंसुओं से गद्गद् स्वर में बोला—'श्रीमान् सुनें ! विदर्भ नाम का [एक] देश है । वहां भोजकुल का अलंकार, मानो धर्म के एक अंश का अवतार, परम बलवान्, सच बोलने वाला, महान् दानी, विनम्र [या शिक्षित], प्रजाओं को शिक्षा देने वाला, दासों को भक्त बनाने वाला, यशस्वी, बुद्धि और आकृति से विख्यात, प्रगतिशील, शास्त्र को प्रमाण मानने वाला, सम्भव और कल्याण देने वाले [शास्त्रोक्त] कर्मों को आरम्भ करने वाला, विद्वानों का आदर करने वाला, सेवकों को उन्नत करने वाला [अथवा सेवकों को अधिकार में नियुक्त करने वाला], मित्रों को ऊपर उठाने वाला, शत्रुओं को नीचा करने वाला, व्यर्थ की बातों में कान न लगाने [अर्थात् न सुनने वाला], सदैव गुणों के लिए उत्सुक [शब्दानुवाद–जिस को गुणों की प्यास कभी नहीं बुझती थी], कलाओं में परम निपुण, धर्म और राजनीति शास्त्रों में अत्यन्त कुशल [शब्दार्थ–समीप], थोड़े-से अच्छे काम का भारी पुरस्कार देने वाला (शब्दानुवाद—के बदले में उपकार करने वाला), कोश और सवारियों का निरीक्षण करने वाला, सारे अध्यक्षों की परिश्रम से परीक्षा करने वाला, (श्रीकाले–बड़े यत्न से अध्यक्षों के कार्य की प्रशंसा करने वाला), काम को पूरा करने वालों का योग्य

पुरस्कार और सत्कार से उत्साह बढ़ाने वाला, दैवी और आधिभौतिक विपत्तियों को तुरन्त दूर करने वाला, (राजनीति) के छः गुणों के प्रयोग में प्रवीण, चारों वर्णों को मनु के (बताए हुए) मार्ग पर चलाने वाला, पवित्र कीर्ति वाला, पुण्यवर्मा नाम का (एक राजा) था। वह अपने शुभ कर्मों से मनुष्य की (पूरी) आयु तक जी कर फिर प्रजाओं के पापों से देवताओं में गिना जाने लगा (अर्थात् मर गया।)

[अनन्तवर्मा]

५. उस के पश्चात् अनन्तवर्मा नामक उस का पुत्र पृथ्वी का स्वामी बना। वह सारे गुणों से युक्त होते हुए भी दण्डनीति में विशेष रुचि नहीं रखता था।

[वसुरक्षित का उपदेश]

६. एक बार उस के पिता द्वारा बहुत माने गए, बातों में चतुर (वाक्पटु) वसुरक्षित नामक एक बूढ़े मन्त्री ने उसे एकांत में कहा—

७. 'पुत्र, जन्म से ले कर ही समस्त आत्मा (अर्थात् मनुष्य) के गुण आप में पूर्ण रूप से मिलते हैं। और स्वभाव से ही परम तीक्ष्ण नाच-गाने आदि कलाओं, चित्रों और काव्यों के विभिन्न रूपों (शब्दानुवाद-फैलावों) (के ज्ञान) में बढ़ी (अर्थात्-लगी) हुई आप की बुद्धि दूसरों की बुद्धि से श्रेष्ठ है। तो भी राजनीति में अपने अनुरूप संस्कार को प्राप्त न हुई [अर्थात् राजनीति के ज्ञान से अपरिष्कृत] वह बुद्धि आग से शुद्ध न किये हुए सुवर्ण के समान पूरी तरह नहीं चमक रही है। निश्चय से (राजनीति में दक्ष) बुद्धि से हीन बहुत शक्तिशाली राजा भी दूसरों द्वारा वश में किए जाते हुए अपने आप को नहीं जान सकता। और कार्य और कारण को अलग-अलग कर के व्यवहार करने में समर्थ

नहीं होता। और अयोग्य आचरण वाला (अपने) कर्मों में विघ्नों से संताया हुआ अपनों और परायों (सभी) से अपमानित होता है। और तिरस्कृत व्यक्ति की आज्ञा प्रजा के योग और क्षेम (समृद्धि और रक्षा) की सिद्धि में समर्थ नहीं होती। और शासनव्यवस्था को तोड़ने वाली [अथवा आज्ञा का उल्लंघन करने वाली] प्रजाएं कुछ का कुछ कहती हुई और स्वच्छन्द आचार वाली (शब्दानुवाद-जैसे-तैसे कर्म करती हुई) (शासन की) समस्त मर्यादाओं को भंग कर सकती हैं। और मर्यादा-हीन प्रजा अपने आप को और (अपने) राजा को इस लोक में और परलोक में नष्ट कर देती है। शास्त्र के दीपक से देखे मार्ग (पर चलने) से निःसंदेह संसार में स्थिति (या जीवनयात्रा) सुगम हो जाती है। भूत, वर्तमान और आगे आने वाले गुप्त और परोक्ष विषयों में अकुण्ठितगति राजनीतिशास्त्र निश्चय से अलौकिक आंख ही है। उस (अलौकिक आंख) से हीन पुरुष लम्बी और विशाल आखों के होते हुए भी राजनीति की बातों को समझने में अयोग्यता के कारण अन्धा ही है। इस लिए अन्य बाहर की विद्याओं से लगाव हटा कर अपने कुल की विद्या राजनीति का ज्ञान प्राप्त करो। और उस के प्रयोग से शक्तियों को सिद्धि प्राप्त कर के निर्बाध राज्यशासन वाले [अथवा अकुण्ठित आज्ञा वाले] आप चिरकाल तक समुद्र रूपी तगड़ी वाली पृथ्वी पर राज्य करें।'

[विहारभद्र का वर्णन]

८. यह सुन कर 'गुरु (तुल्य आप) ने ठीक ही उपदेश दिया है। ऐसा ही किया जायगा' यह (कह कर) अन्तःपुर में चला गया और स्त्रियों के सामने बातचीत में राजा से कही हुई इस बात को सुन कर पास बैठे हुए, मन के भावों (के ज्ञान अथवा मनोनुकूल आचरण) में कुशल, राजा की कृपा को पाने वाले (या राजकृपा से धनी, या—राजकृपा के कारण प्रसिद्ध—श्रीकाले), गाने, नाचने और बजाने आदि में निपुण, पर नारियों (या-वेश्याओं) में आसक्त, चतुर, मुंहफट, अनेक

प्रकार के वक्रभाषणों में प्रवीण, दूसरों के दोषों को ढूंढने में तत्पर, हंसाने वाले, निन्दा में आनन्द लेने वाले, चुगली में प्रवीण, मंत्रियों से भी घूस लेने वाले, सारे दुष्ट कर्मों के आचार्य, कामशास्त्र (की नौका को) खेने वाले, कुमारावस्था से सेवा करने वाले विहारभद्र नामक (एक दास) नें मुस्कुराते हुए निवेदन किया—

१०

[विहारभद्र का उपदेश—पुरोहितों की निन्दा]

९. 'महाराज, भगवान् की कृपा से यदि कोई ऐश्वर्य का पात्र बनता है तो धूर्त तुरन्त ही अनेक प्रकार के प्रलोभनों (लालचों) से उस को दुःखी बनाते हुए अपने प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। जैसे—कुछ व्यक्ति मरने पर प्राप्त होने वाले तथाकथित उत्कृष्ट अभ्युदयों की आशा उत्पन्न कर, सिर मुण्डवा कर, कुशा की रस्सियों से बांध कर, मृगचर्म पहना कर (शब्दानुवाद—ढक कर), मक्खन से मालिश कर और बिना खाए सुला कर (उस की) सारी धनसम्पत्ति को हस्तगत कर लेते हैं। उन से भी अधिक क्रूर पाखण्डी पुत्र, पत्नी, शरीर और प्राणों को भी छुड़वा देते हैं। यदि कोई कुशलबुद्धि इस मृगतृष्णा (झूठी आशा) के लिए हाथ की वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता तो दूसरे उसे घेर कर कहते हैं।

११

[राजनीतिज्ञों की निन्दा]

१०. यदि हमारे बताये हुए मार्ग पर चला जाय तो हम एक (अकेली) कौड़ी को भी एक लाख कार्षापणों में बदल दें, बिना शस्त्र के सारे शत्रुओं को मरवा दें, केवल एक शरीर वाले पुरुष को भी चक्रवर्ती बना दें।' तब वह इन से पूछता है—'वह मार्ग कौन-सा है?'

[दण्डनीति के दोष]

१

११. तब वे कहते हैं—'निश्चय से चार ही राजविद्याएं हैं-त्रयी,

(वेदविद्या), वार्त्ता (सम्पत्तिशास्त्र), आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) और दण्डनीति (अर्थशास्त्र) । उन में त्रयी, वार्त्ता और आन्वीक्षिकी—ये तीन बड़ी विस्तृत और अल्प (या देर में) फल (देने) वाली हैं । इस लिए उन्हें रहने दिया जाए । अतः दण्डनीति को पढ़ो । अब यह आचार्य विष्णुगुप्त द्वारा (चन्द्रगुप्त) मौर्य के लिए छः हजार श्लोकों में संक्षिप्त की गई थी । वह ही यह पढी जा कर और अच्छी प्रकार प्रयोग की हुई ऊपर कहे हुए कर्मों (के करने) में समर्थ होती है ।' वह 'अच्छा' यह (कह कर उसे) पढता है और सुनता है । उसी में वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है । निःसन्देह वह शास्त्र तो दूसरे शास्त्रों से सम्बद्ध है । सारे ही साहित्य को जाने विना यथार्थरूप से वह समझी भी नहीं जाती । मान लो, बहुत समय में अथवा थोड़े में ही उस के ज्ञान की प्राप्ति (हो जाती है) ।

[राजनीतिज्ञ की दिनचर्या की कटु आलोचना]

१२. शास्त्र को जानने वाला सब से पहले ही पुत्र और पत्नी का भी विश्वास न करे । अपने पेट के लिए भी इतने चावलों से इतना भात बनता है । इतने भात को पकाने के लिए इतना इन्धन काफी रहेगा इस प्रकार नापतोल के साथ देना चाहिये ।

१३. और जागे हुए राजा को धुले या विना धुले मुख से एक या आधी मुट्ठी अन्दर (पेट में) डाल कर (अथवा एक या आधी मुट्ठी को भी हिसाब में ले कर) (अथवा मुष्टि और अर्धमुष्टि के परिमाणों को स्वीकार कर के) (अथवा नगर और गांव के आय की पड़ताल करने वालों पर विश्वास कर के) समस्त आय और व्यय (खर्चे) को दिन के पहले आठवें भाग में सुनना चाहिए । उस के सुनते हुए ही वे धूर्त अध्यक्ष दुगुना (धन आदि) हड़प कर लेते हैं । वे चाणक्य के बताए हुए अपहरण के चालीस उपायों को अपनी बुद्धि से हजारों प्रकार का बनाने वाले (होते हैं) । दूसरे (अष्टम भाग) में आपस में लड़ती हुई प्रजाओं की

परुष और निन्दक चिल्लाहट से जलते हुए कानों वाला दुःख से जीता है। वहां भी जज आदि अपनी इच्छा से जीत और हार का निर्णय करते हुए स्वामी को पाप और अपयश से और अपने आप को धन से युक्त करते हैं। तीसरे (अष्टम भाग) में स्नान और भोजन के लिए (समय) मिलता है। खाए हुए का जब तक भोजन पूरी तरह नहीं पच (जाता) तब तक उस का विष (दिए जाने) का डर ही शान्त नहीं होता। चौथे (अष्टम भाग) में सुवर्ण की (भेंट) स्वीकार करने के लिए हाथ फैलाता हुआ (काले-हाथ फैलाने के लिए) ही उठ जाता है। पांचवें (अष्टम भाग) में मन्त्र (= राजनीति) के विचार से महान् दुःख का अनुभव करता है। इस में भी मंत्री तटस्थ से (बन कर) एक दूसरे से आपस में मिल कर दोषों और गुणों को, दूतों और गुप्तचरों के संदेशों को, सम्भव और असम्भव को तथा स्थान समय और कर्म की स्थितियों को अपनी इच्छा से बदलते हुए (अर्थात्, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उल्टा-सुल्टा बताते हुए) अपने और शत्रु के मित्रवर्ग पर निर्भर रहते हैं (अर्थात् उन से अपनी वृत्ति कमाते हैं)। बाहरी और अन्दर के झगड़ों को चुपके-चुपके उत्पन्न कर के प्रकट रूप से उन को शान्त करते हुए से विवश स्वामी को अपने वश में कर लेते हैं। छठे (अष्टम भाग) में इच्छानुसार विनोद आदि अथवा मन्त्रणा करनी चाहिये। उस का वह इतना ही स्वच्छन्द विनोद का समय है जितना पौने चार (शब्दार्थ—तीन और तीन चौथाई अधिक) नाड़ियां होती हैं। सातवें में चार अङ्गों वाली सेना के निरीक्षण का परिश्रम (होता है)। आठवें में इस को सेनापति के साथ (सेना के) बलाबल (अथवा वीरता) की चिन्ता का दुःख (होता है)। फिर सायंकाल (ईश्वर की) उपासना कर के रात्रि के पहले भाग में गुप्त सेवकों से मिले और उन के द्वारा अत्यन्त क्रूर, शस्त्र, आग, (और) विष (का शत्रुओं आदि पर प्रयोग करने वाले) गुप्तचरों को (अपना-अपना) काम बताए। दूसरे (रात्रि भाग) में भोजन के बाद वेदपाठी ब्राह्मण के समान (शास्त्र का) स्वाध्याय

करे। तीसरे (भाग) में बाजों के शब्द के साथ सोया हुआ चौथे और पांचवें (भागों) में जरा सोए। सदैव चिन्ता के दुःख से व्याकुल मन वाले इस बिचारे को नींद का सुख कैसे मिले। फिर (रात्रि के) छठे (भाग) में शास्त्र और कर्त्तव्य की चिन्ता चल पड़ती है। सातवें में सम्मतिस्वीकार (=मन्त्रियों का परामर्श सुनना) और दूतों का भेजना होता है। और दूत निःसन्देह दोनों (पक्षों) को मीठा कहने से प्राप्त किए हुए धनों को कर की बाधा से मुक्त मार्गों पर व्यापार द्वारा बढ़ाते हुए अविद्यमान अर्थात् अस्तित्वहीन काम को भी सरलता से निकाल कर लगातार घूमते रहते हैं। आठवें (भाग) में पुरोहित आदि पास आ कर इन को कहते हैं—"आज बुरा स्वप्न देखा गया है। ग्रह बुरे पड़े हुए हैं। शकुन बुरे हैं। शांतियां कराइए। यज्ञ के (पात्र आदि) सभी साधन सोने के ही हों। ऐसा होने पर कर्म गुणों से युक्त (=अधिक और शीघ्र फल देने वाला) होता है। ये ब्राह्मण ब्रह्मा के समान हैं। इन के द्वारा किया हुआ स्वस्तिपाठ अधिक कल्याण देने वाला होता है। और ये दारुण दरिद्रता (से सताये हुए), बहुत सन्तान वाले और तेजस्वी याज्ञिक आज भी दान की प्राप्ति से हीन हैं' (अर्थात् इन्हें अभी तक दान नहीं मिला है)। और इन को दिया हुआ दान स्वर्ग में ले जाने वाला, आयु बढ़ाने वाला और बाधाओं का नाशक होता है। इस प्रकार बहुत बहुत दिलवा कर उन के द्वारा अपने आप गुप्त रूप से खाते हैं। इस लिए इस प्रकार बिना किसी सुख के, अत्यन्त परिश्रम से और लगातार तङ्ग होते हुए दिन रात को बिताने वाले राजनीतिज्ञ की चक्रवर्तिता तो (दूर) रही, (उस को) तो अपने राज्य की रक्षा (करनी) भी कठिन हो जायगी। नीतिशास्त्र को जानने वाले की आज्ञा से जो कुछ देता है, जो कुछ सम्मान करता है, जो मीठा बोलता है, वह सब कुछ ठगने के लिए है, (उस में) यह अविश्वास (होता है)। अविश्वास निःसन्देह अविभूति (=ऐश्वर्यहीनता) की उत्पत्ति का कारण होता है और जितने (ज्ञान से) राजनीति के बिना संसार के व्यवहार चलते हैं, वह संसार में प्रत्यक्ष ही

है। (अतः) यहां शास्त्र से (कोई) लाभ नहीं। दूध पीने वाला बालक भी निश्चय ही अनेक प्रकार से माता के स्तनों (के दूध) को पीना चाहता है। इस लिए घोर कष्ट (मय जीवन) को त्याग कर इच्छा के अनुसार इन्द्रियों के सुखों को अनुभव कीजिये।

[दण्डनीति व्यर्थ]

१४. और जो (कोई) भी उपदेश देते हैं कि 'इस प्रकार इन्द्रियों को जीतना चाहिये। इस प्रकार काम क्रोध आदि छः शत्रुओं के समूह से बचना चाहिये। साम आदि उपायों को अपनों और परायों में निरंतर काम में लाना चाहिये। सन्धि और विग्रह के विचार में ही समय बिताए, सुख को तनिक-सा भी अवसर न दे', वे धूर्त मंत्री भी आप से चोरी से इकट्ठे किए धन को दासियों के घरों में भोगते हैं। और ये विचारे कौन हैं? जो भी कूटनीतिज्ञ राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले शुक्र, आङ्गिरस, विशालाक्ष, बाहुदन्तिपुत्र, पराशर आदि (हुए है), क्या उन से (काम आदि) छः शत्रुओं का समूह जीता गया अथवा उन के द्वारा राजनीतिशास्त्र (के सिद्धान्तो) पर आचरण किया गया? उन के द्वारा भी निश्चित रूप से आरम्भ किए हुए कामो में सफलता और असफलता का (मुख) देखा गया। और बहुत-से (राजनीति) को पढने वाले उसे न पढने वालों से धोखा पाते हैं। निश्चय से महाराज के यह अनुरूप ही है जो समस्त लोक से आदरणीय जाति, न बीता हुई (अर्थात् युवा) आयु, सुन्दर शरीर (और) अतुलनीय ऐश्वर्य (आप को मिले है)। उस सब को सब पर अविश्वास के कारण, सुखों के उपभोग में रुकावट डालने वाले, अनेक मार्गों के प्रयोग से सभी कार्यों में विपत्ति या सन्देह से अहीन (अर्थात् विपत्तिप्रद या सन्दिग्ध) तन्त्रावाप (१. तन्त्र—राष्ट्रचिन्ता, अवाप—शत्रुचिन्ता; २. तन्त्रावाप—नीतिविचार) से व्यर्थ मत बनाओ। निःसन्देह तुम्हारे (पास) हाथियों के दस हजार, घोड़ों के तीन लाख और असंख्य पैदल (सैनिक) हैं।

२३ और खजाने सोने और रत्नों से भरे पड़े हैं और यह सारा प्राणिलोक (संसार) भी हजार युगों तक (पूर्ण रूप से) खाते हुए भी तुम्हारे अन्नकोश को खाली नहीं कर सकेगा। क्या इतनी (विभूति) काफी नहीं जो और कमाने के लिए परिश्रम किया जाता है। जन्म लेने वालों का जीवन तो चार-पांच दिन (का ही है)। उस में भी भोगों के योग्य आयु का
२४ भाग बहुत ही थोड़ा है। फिर मूर्ख तो कमाते हुए ही नष्ट हो जाते हैं। कमाई हुई वस्तु के कण को भी भोग करना नहीं चाहते।

[विहारभद्र के उपदेश का उपसंहार]

१५. अधिक (कहने) से क्या—राज्य के बोझ को बोझा (धारण करने) में समर्थ विश्वस्त (और) स्वामिभक्त (दासों) को सौंप कर, अप्सराओं के तुल्य रूप वाली अन्तःपुर (की रानियों) से रमण करते हुए, ऋतुओं के अनुसार गीत, संगीत और (सुरा) पान की सभाओं का आयोजन करते हुए (अपने) अनुरूप शरीर का लाभ उठाओ (अर्थात् सुख प्राप्त करो)।' इस प्रकार (कह कर) शरीर के पांच अंगों से पृथ्वी को छूता हुआ, अञ्जलि से चूमे जाते हुए शिर वाला (अर्थात्
२५ भाल पर हाथ जोड़ कर) देर तक लेटा रहा और खिली हुई आंखों वाली अन्तःपुर की स्त्रियां हंस पड़ीं। राजा ने मुस्कुराहट के साथ 'उठो। निश्चय से कल्याण का उपदेश करने से आप गुरु (ही) हैं। (तो) गुरु के आचार के विपरीत (यह) क्या किया है' ? इस प्रकार (कह) उसे उठा कर आनन्दक्रीड़ा में मग्न हो गया।

[मंत्री वसुरक्षित का वितर्क]

१६. अब इन्हीं दिनों में वूढ़े मन्त्री के द्वारा बार-बार उपस्थित कार्यों के (करने के लिए) प्रेरित किया जाता हुआ (वह राजा) वाणी से मान कर मन में 'चित्त को जानने वाला नहीं है' इस प्रकार तिरस्कार करने लगा। अब मंत्री के मन में यह (बात) उठी—'अहो,

मोह के कारण मेरी मूर्खता। अरुचिकर कामों के लिए प्रेरणा करता　२
हुआ मैं आंखों में खटकने वाले भिखारी के समान इस के उपहास का
पात्र हो गया हूँ। इस के व्यवहारों की पहले से भिन्नता स्पष्ट ही है।
क्यों कि न मुझे प्रेम से देखता है, न मुस्कुरा कर बोलता है, न गुप्त
बातों को प्रकट करता है, न हाथ पर छूता है (अर्थात् हाथ नहीं मिलाता
है), न विपत्तियों में सहानुभूति दिखाता है, न उत्सवों पर अनुग्रह करता
है, न पारितोपिक की वस्तुएं भेजता है, न मेरे अच्छे कामों को गिनता
है, न मेरे घर का हाल पूछता है, न मेरे पक्ष वालों का ध्यान करता
है, न मुझ पर गुप्त कार्यों में विश्वास करता है, न मु े अन्तःपुर में
प्रवेश कराता है। बल्कि मुझे अयोग्य कामों में लगाता है, दूसरों के द्वारा
ग्रहण किये जाते हुए मेरे आसन की अनुमति देता है, मेरे वैरियों में　२
विश्वास प्रकट करता है, मेरे कहे हुए का उत्तर नहीं देता है, मेरे जैसों
(अर्थात् नीतिज्ञों) के दोषों की निन्दा करता है (अथवा निन्दा करवाता
है), मेरी मर्मपीड़क हंसी उड़ाता है; मेरे द्वारा वर्णन किए जाते हुए
अपने मत का भी विरोध करता (अथवा, छोड़ देता) है, मेरे द्वारा भेजी
हुई बहुमूल्य वस्तुओं को स्वीकार नहीं करता है, दण्डनीति को जानने
वालों की भूलों को मेरे सामने मूर्खों द्वारा घोपित कराता है। चाणक्य
ने सच कहा है—'चित्त को जान कर व्यवहार करने वाले अनिष्ट (अर्थात्
अहित करने वाले व्यक्ति) भी प्रिय बन सकते हैं। उस के मन के भावों
से परे रहते हुए चतुर (अथवा हितेच्छु) भी वैरी बन जाते हैं।' तो　२
भी क्या उपाय (हो सकता है)। उद्दण्ड भी (यह) राजा इस के बाप-
दादा के सेवक हमारे जैसों से छोड़ने योग्य नहीं है। न छोड़ते हुए भी
न सुनी जाती हुई बात वाले (हम) क्या भलाई कर सकेंगे। इस राज्य
को सब प्रकार से राजनीतिज्ञ अश्मक के राजा वसन्तभानु के हाथ में
पड़ गया (समझो)। सम्भवतः आने वाली विपत्तियां इसे होश में ले
आएं। (सम्भव है कि) सरलता से दुःख (देने वाली) विपत्तियों में कहीं
उत्पन्न हुआ वैर उस के लिए अच्छे आचार को रुचिकर न बनाए

२८ (अर्थात् ऐसी अवस्था में उत्पन्न हुई अरुचि के कारण, वह सद्व्यवहार को स्वीकार न करे)। अच्छा। अब विपत्ति तो आएगी ही। दूसरों के दोष बताने वाली जिह्वा को वश में किए हुए जैसे-तैसे अपने पद पर स्थित रहूं (शब्दार्थ–पद से न गिरा हुआ रहूँ)।

२९ [चन्द्रपालित का आगमन]

१७. मन्त्री के ऐसा हो जाने पर और राजा के स्वेच्छाचार (अथवा) कामवासना में लग जाने पर अश्मक के राजा के मन्त्री इन्द्रपालित के पुत्र, दुराचारी और पिता द्वारा देश से निकाला हुआ प्रसिद्ध हो कर अनेकों गाने वालों, अनेकों अति प्रवीण शिल्पकन्याओं, बहुत से गुप्त दासों और गुप्तचरों से घिरे हुए चन्द्रपालित नामक ने पास आ कर अनेक प्रकार की क्रीडाओं से विहारभद्र को अपने वश में कर लिया। और उसी क्रम से (अथवा उसी के माध्यम से) राजा (के मन) में (भी) स्थान पा लिया। (राजा के) दोषों को जान लेने वाला वह, राजा जिस-जिस व्यसन को आरम्भ करता था, उस-उस को ठीक बताने लगा—

३० [चन्द्रपालित द्वारा व्यसनों की प्रशंसा—शिकार]

१८. 'महाराज, जितना शिकार लाभकारी है, उतना और कुछ नही। क्यों कि इस में परिश्रम की अधिकता से [अथवा सर्वोत्तम व्यायाम होने से] विपत्तियों में उपकार करने वाला, लम्बे मार्ग को पार करने में समर्थ जंघाओं का बल, कफ के नाश से स्वास्थ्य की एक मात्र कारण पेट की अग्नि की वृद्धि, चर्बी की क्षीणता के कारण शरीर के अंगो में स्थिरता, कठोरता और बहुत हल्कापन आदि, सर्दी, गर्मी, वायु, वर्षा, भूख (और) प्यास का सह सकना, प्राणियों की भिन्न-भिन्न दशाओं में मन की चेष्टाओं का ज्ञान, मृग, जंगली भैंसों और सांडों आदि की हिंसा से खेती को नाश (से बचाने का) उपाय, भेड़ियों और

चीतों आदि के मारने से भूमि के मार्गों के कांटों का नाश, अनेक कामों के लिए उपयुक्त पर्वत और जंगलों के स्थानों का देखना, जंगलियों के समूहों में विश्वास, उत्साह की शक्ति को बढ़ाने से शत्रु की सेना को भय (देना)--ये बहुत सारे गुण हैं । ३१

[जुआ]

१६. जूए में भी धन के ढेरों को तिनके के समान छोड़ने से अद्वितीय हृदय की उदारता, हार और जीत के अनिश्चय के कारण आनन्द और शोक के वश में न होना, शौर्य के एक मात्र कारण क्रोध की वृद्धि, पासों के हाथों (अथवा पासों, हाथों) और घरों आदि की चालों और बहुत ही सूक्ष्म (शब्दार्थ–दुःख से दिखाई देने वाली) कुटिल चालों के देखने से बुद्धि में परम (शब्दार्थ–असीम) कुशलता, एक वस्तु पर जमाने के कारण मन की असाधारण एकाग्रता, दृढ़ निश्चय पर निर्भर (शब्दार्थ—के साथी) वीर कर्मों में महान् रुचि, अत्यन्त कठोर पुरुषों की संगति से किसी अन्य से अभिभूत न होना, सम्मान की स्थापना [अथवा ज्ञान] और बिना दीनता के शरीर का निर्वाह [ये गुण मिलते हैं] । ३२

[उत्तम स्त्रियों का उपभोग]

२०. श्रेष्ठ स्त्रियों के रमण में भी धन और धर्म के फल की प्राप्ति, पुरुषत्व का अत्यधिक अभिमान, चित्त के भावों को समझने में कुशलता, लोभ और क्लेश से (अथवा लोभ के क्लेश से) रहित कर्म, समस्त कलाओं में निपुणता, अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का उपभोग, भोगी हुई का याद रखना, रूठी हुई को मनाने आदि में लगातार उपायों की रचना [अर्थात प्रयोग] से बुद्धि और वाणी की चातुरी, शरीर की उत्तम सजावट के कारण, (और) सुन्दर वेष के कारण लोगों में आदर, मित्रों में परम प्रेम, दासों का अत्यधिक ध्यान, मुस्कुराहट से बोलना, ३३

३३ बढ़ी हुई शक्ति [अथवा भावना], चातुरी [अथवा विनय] का प्रयोग,
३४ (और) पुत्र के पैदा करने से दोनों लोकों में कल्याण—ये [गुण हैं]।

[शराब पीना]

२१. [सुरा] पान में भी अनेक प्रकार के रोगों के नाश में समर्थ आसवों के सेवन से अभिलपित आयु [अर्थात् यौवन] की (चिर) स्थिति, अहंकार की वृद्धि से सारे दुःखों का छिप जाना, कामदेव के राग की वृद्धि से स्त्रियों के रमण की शक्ति की वृद्धि, अपराधों के भूल जाने से मन की कीलों का नाश, गुप्त रहस्यों की प्रकाशक इच्छानुसार व्यर्थ की बातों से विश्वास की वृद्धि, ईर्ष्या के अभाव से सुख का अतिशय [शब्दार्थ—एक सा सतत विस्तार], शब्द (और स्पर्श) आदि इन्द्रियों के
३५ विषयों का लगातार उपभोग, बांटने के स्वभाव के कारण मित्रों के समूह की वृद्धि, अद्वितीय शरीर का सौन्दर्य, अलौकिक विलास, और भय और दुःख के नाश से संग्राम की योग्यता—ये [गुण होते हैं]।

[कठोर व्यवहार और धन का अपव्यय]

२२. वाणी की परुषता, कठोर दण्ड और धन का व्यय [श्री काले-दण्ड] भी समय पर भलाई करने वाले [होते हैं]। निःसंदेह मुनि के समान शान्ति में मग्न राजा शत्रुओं को वश में करने में और राज्य के शासन को धारण करने में समर्थ नहीं [हो सकता]।'

[अनन्तवर्मा के राज्य में अनाचार]

२३. वह भी गुरु के उपदेश के समान ही बड़े आदर के साथ उस
३६ के मत को मानने लगा। उस के चरित्र का अनुकरण करती हुई प्रजा उच्छृंखलता के साथ व्यसनों का सेवन करने लगी। एक जैसे दोष

के कारण कोई किसी के दोषों की खोज के लिए प्रयत्न नहीं करता था। ३६
एक जैसे स्वामी और प्रजा वाले [अथवा-स्वामी और प्रजा के समान आचरण करने वाले अथवा स्वामी के से स्वभाव वाले] शासन के अधिकारी अपने कर्मों के फलों का उपभोग करने लगे (अर्थात् अपने-अपने विभाग की आय को हस्तगत करने लगे)। तब क्रम से [= धीरे-धीरे] आय के साधन नष्ट होने लगे। राजा के विटों के वश में होने से खर्च के साधन दिन-दिन बढ़ने लगे। एक जैसे आचार के कारण बढ़े हुए विश्वास वाले ३७
राजा के द्वारा (अपनी-अपनी) स्त्रियों के साथ सुरापन की बैठकों में सम्मिलित किए गए सामन्तों और नगर तथा गांव के प्रमुख अधिकारियों ने अपने-अपने आचार को छोड़ दिया। और राजा अनेक रूपों में उन की स्त्रियों से व्यभिचार करने लगा। और निर्भय वे चरित्र को भंग करने वाली उस की रानियों में बहुत आनन्द से रहने लगे। दूषक पुरुषों के वक्र भाषणों में रुचि रखने वाली, चरित्र की मर्यादा को तोड़ने वाली सारी ही कुलीन स्त्रियां (अपने) पतियों को तिनके के समान भी न गिन कर जारों की बातों को सुनने लगीं। (उन की चेष्टाओं को) न सह सकने वालों के उन (कर्मों) से उत्पन्न झगड़े उठने लगे। दुर्बल बलवानों द्वारा मारे जाने लगे। चोर आदि द्वारा धनिकों के धन चुराए ३८
जाने लगे। और (दण्ड आदि) अपमान से हीन पाप के मार्गों का चलन हो गया। मरे हुए सम्बन्धियों वाली, लूटे गए धन वाली, वध और कारावास से दु:खी और आंसुओं से युक्त गले वाली प्रजाएं गला फाड़ कर रोने लगीं। अनुचित रूप से प्रयुक्त दंड ने भय और क्रोध को उत्पन्न कर दिया। क्षीण-कुटुम्ब वालों में लोभ ने घर बना लिया। और तिरस्कृत तेजस्वी क्रोध से जलने लगे।

[अनन्तवर्मा के राज्य में शत्रु के षड्यन्त्र]

२४. शत्रु की चालें अनेकों दुष्कर्मों में फैलने लगीं। और तब शिकारी के भेस में (अथवा शिकारी के भेस और) शिकार की अधिकता ३९

३६ के वर्णन द्वारा वाहर आने के मार्ग से हीन सूजे तिनकों और वांसों के समूहों (अथवा वांसों और झाड़ियों) वाले पर्वत के निम्न प्रदेशों में प्रवेश करा कर दरवाजे पर आग लगाने से, चीते आदि के मारने के लिए उत्साहित कर के उन के मुख में डालने से, अभिलषित कुएं के लिए प्यास [अर्थात्-इच्छा] उत्पन्न कर के बहुत दूर ले जाए गये (अर्थात पहुँच जाने वालों) के प्राणों को नष्ट करने वाली भूख और प्यास की वृद्धि से, तिनकों के समूह से गहरे ढके हुए ऊंचे-नीचे स्थानों और गुफाओं मे गिराने के कारण [बने हुए] कठिन मार्गो पर दौड़ाने से, विष (में बुझे हुए) किनारों वाली छुरियों से पैरों के कांटों को निकालने से चारों और घूमने से वियुक्त साथियों के कारण अकेले कर दिए गयों
४० (अर्थात् रहे हुओं) के इच्छानुसार मरवाने से, हरिणों के शरीर से उचटे हुए निशानों के वहाने (शब्दार्थ-नाम से) वाण चलाने से, शर्त लगा कर कठिनता से चढ़ने योग्य पर्वत की चोटियों पर चढ़ कर विना देखे जाते हुए गिराने से, जंगलियों के वहाने से जंगलों में थोड़े-से सैनिकों वालों को [अथवा सैनिकों को] घेरने (अर्थात् घेर कर युद्ध में मारने) से, पांसों, जूए, पक्षियों के युद्ध, यात्रा, उत्सव आदि से भरे हुए स्थानों में वेग के साथ घुसने के द्वारा कुछ की हिंसा के विधान से, गुप्त रूप से उत्पन्न कराए हुए दुःखों के लिए स्पष्ट रूप से शिकायतें स्वीकार कर के उन्हें गवाहों को कहला कर अपयश को छिपाने के निमित्त (किए हुए)
४१ साहस कर्मो से, जारों को मित्रों के रूप में अन्यों को स्त्रियों में रमण करा के (उन के) पतियों वा दोनों को मार कर उन के साहस कर्म (की प्रसिद्धि) के प्रवन्ध से, योगनारियों से मुग्धों की संकेत स्थानों में पहले छिप कर फिर आक्रमण कर घृणित हिंसाओं से, विलों के प्रवेश, खजानों के खोदने, और मन्त्रों को सिद्ध करने के लिए प्रलोभन दे कर [या उकसा कर] (वहां) विघ्नों के वहाने से कराई गई हिंसाओं से, मस्त हाथी पर चढने के लिए प्रेरित कर के वचाव के उपायों के त्याग से, दुष्ट हाथी को क्रुद्ध करा के लक्ष्य वनाए हुए प्रधान पुरुषों के

समूहों पर छोड़ने से, वंश की सम्पत्ति के लिए लड़ते हुओं को गुप्त रूप से मार कर विरोधियों पर अपराध लगाने से, सामन्तों, नगरों और गांवों में अनुचित आचार वालों को चुपके से मार कर उन के शत्रुओं के के नाम की घोषणाओं से (अर्थात्-उन के शत्रुओं का काम बता कर), विषकन्याओं से रात-दिन रमण करा के तपेदिक पैदा कर के, वस्त्रों, आभूषणों, मालाओं, शरीर के (लेप आदि) रागों में विष देने की कुशलता से, इलाज के बहाने रोगों को बढ़ाने से और अन्य उपायों से अश्मक के राजा के द्वारा नियुक्त किए हुए तीव्र विष आदि देने वालों ने नष्ट हुए वीरों वाली अनन्तवर्मा की सेना को जर्जर (=क्षीण) कर दिया। ४१ ४२

[वसन्तभानु का षड्यन्त्र और वानवास्य का विद्रोह]

२५. अब वसन्तभानु ने बनवासी के राजा भानुवर्मा को उकसा कर अनन्तवर्मा से लड़वा दिया। उस से आक्रान्त हुए राज्य की सीमाओं वाले अनन्तवर्मा ने उस पर आक्रमण करने के लिए सेना का प्रयाण कराया। और सभी सामन्तों में से अश्मकराज पहले पहुँच कर उस का अधिक प्रेमी बन गया। दूसरे सामन्त भी इकट्ठे हो गए। और कुछ दूर (शब्दार्थ-पास ही) जा कर नर्मदा के किनारे पर ठहर गए [अर्थात् शिविर डाल दिया] । ४३

२६. और उसी समय चन्द्रपालित आदियों से अति प्रशंसित नाच के कौशल वाली क्ष्मातलोर्वशी नाम की महासामन्त, कुन्तल के राजा अवन्तिदेव की अपनी नर्तकी को बुला कर अनन्तवर्मा ने नाच देखा। और तीव्र राग से युक्त हुए (उस अनन्तावर्मा) ने शराब में मस्त उस का उपभोग कर लिया। अश्मकराज ने कुन्तल के स्वामी को एकान्त में कहा-पागल [शब्दार्थ-परम मस्त] यह राजा हमारी स्त्रियों को दूषित करता है। कितना तिरस्कार सहन किया जाए। मेरे सौ हाथी है और तुम्हारे पांच सौ इस लिए हम दोनों मिल कर मुरला के स्वामी वीरसेन

४४ को, ऋपीक के स्वामी एकवीर को, कोंकरण के राजा कुमारगुप्त को और नासिक्य के राजा नागपाल को उखाड़ लें। इस के तिरस्कारों को न सहने वाले वे भी हमारे मत को अवश्य ही मान लेंगे। और यह वनवासी का राजा मेरा प्रिय मित्र है। उस के द्वारा आगे से युद्ध में लगे हुए इस दुष्ट पर हम पीछे से आक्रमरण कर दें। और तब (उस के) खजाने और सेना [अथवा सवारियों] को बांट लेंगे'। प्रसन्न हुए उस के सहमत हो जाने पर बीस उत्तम वस्त्र (और) पच्चीस सुनहरी और केसरिया कम्बल भेंट कर के विश्वस्त दूतों के द्वारा उन (दूसरे) सामन्तों से मन्त्रणा कर के उन्हें भी अपने पक्ष में कर लिया।

४५ [अनन्तवर्मा का नाश और वसन्तभानु की धूर्तता]

२७. दूसरे दिन अनन्तवर्मा राजनीति से विमुख होने के कारण उन सामन्तों और वनवासी के राजा का मांसकवल बन गया। और 'उस के नष्टप्राय खजाने और सेना [अथवा सवारियों] को अपने अधीन कर के अपनी सेनाओं के अनुसार बांट कर ले लें। आप की अनुमति से मैं तो चाहे जिस भी भाग से सन्तुष्ट हो जाऊंगा।' इस प्रकार धूर्तता से सब के अनुकूल रहने वाले, कारण बने हुए उसी प्रलोभन से झगड़ा उत्पन्न कराने वाले (वसन्तभानु) ने सभी सामन्तों को नष्ट करवा दिया। और उन की सब धन-सम्पत्ति को अपने आप ले लिया [शब्दार्थ-निगल लिया]। वनवासी के स्वामी को कुछ भाग से अनुगृहीत (अर्थात् सन्तुष्ट कर लौट कर अनन्तवर्मा के समस्त राज्य को अपने अधीन कर लिया।

४६ [वसुरक्षित का वच कर भागना और मृत्यु]

२८. इस बीच में कुछ मूल दासों से मिल कर इस बालक भास्करवर्मा को, इसी की ही बहन १३ वर्ष की मंजुवादिनी को और इन की माता बड़ी रानी वसुन्धरा को ले कर भागते हुए बूढ़े मन्त्री वसुरक्षित ने इस विपत्ति के भाग्य में लिखा [शब्दार्थ–निश्चित] होने से जलते हुए बुखार से (अपने) शरीर को त्याग दिया।

[मित्रवर्मा द्वारा हिंसा के प्रयत्न से भास्करवर्मा की रक्षा]   ४६

२६. हमारे जैसे मित्रों द्वारा माहिष्मती में ले जा कर सन्तान के साथ महारानी स्वामी के सौतेले भाई मित्रवर्मा को सौंप दी गई [शब्दार्थ-दिखाई गई] । उस दुष्ट ने उस साध्वी को दुराचारिणी (शब्दार्थ—दूसरी प्रकार का) समझा । उस के द्वारा धमकाए हुए उस ने 'यह सती पुत्र को राज्य का अधिकारी बनाना चाहती है' इस प्रकार क्रूरता से उस इस बालक को मारना चाहा । महारानी ने यह जान कर मुझे   ४७ आज्ञा दी—'प्रिय नालीजंघ, जीते हुए इस बालक के साथ जहां-कहीं गुप्त रूप में जा कर अथवा सावधानी से रहो (शब्दार्थ-जीओ) । अगर जीती रहती हूं तो मैं भी पीछे से आ जाऊंगी । कुशलपूर्वक निकले हुए (तुम) मुझे अपना समाचार भिजवाते रहना ।'

भास्कर वर्मा का विन्ध्यवन में आगमन]

३०. मैं भी जनों से भरे हुए राजकुल में से जैसे-तैसे इसे निकाल विन्ध्य वन में प्रविष्ट हो गया । और पैदल चलने से दुःखी इस को सान्त्वना देने के लिये कहीं (एक) गांव में कुछ दिन विश्राम करा कर, वहां भी राजा के कर्मचारियों के आगमन से डरा हुआ दूरदेश चला   ४८ आया । वहां घोर प्यास से दुःखी इस को जल देने के इच्छुक, फिसल कर इस कुएं में गिरे हुए मुझ पर तुम ने इस प्रकार कृपा की है । इस के आगे शरणहीन इस राजपुत्र की तुम्हीं शरण बनो ।' इस प्रकार (कह कर उस ने) हाथ जोड़े ।

[विश्रुत द्वारा अश्मकेन्द्र को उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा और भास्करवर्मा की भूख को शान्त करना]

३१. 'इस की माता किस जाति की है' मेरे से इस प्रकार पूछे जाने पर उस ने कहा–'पाटलिपुत्र के व्यापारी वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता में (साक्षात) कामदेव (अथवा कुसुमधन्वा नामक) कौसल के राजा से इस की माता उत्पन्न हुई है' । 'अगर ऐसा है तो इस की माता और

४८ मेरे पिता का नाना एक ही है' इस प्रकार मैं ने स्नेहपूर्वक उस का
४९ आलिगन किया। बूढ़े ने कहा, 'सिन्धुदत्ता के पुत्रों में तुम्हारा पिता कौन सा है।' 'सुश्रुत' ऐसा कहा जाने पर वह बहुत प्रसन्न हुआ। मैं भी 'नीति के घमण्ड में चूर उस अश्मकराज को नीति से ही समूल नष्ट कर इस बालक को पिता के पद पर बिठाऊंगा' यह प्रतिज्ञा कर 'इस की इस भूख को कैसे दूर करूं' यह सोचने लगा। तभी किसी शिकारी के तीन बाणों से बच कर दो हरिण और वह शिकारी आ गए। उस के हाथ से बचे हुए दोनों बाणों और धनुष को ले कर निशाना लगाया (शब्दार्थ-बींध दिया)। एक पंखों तक घुसे हुए बाण से (घोर पीड़ा के साथ) जख्मी हुआ और दूसरा पंखोंरहित (अर्थात् बिना पंखों के भाग के अन्दर गए हुए) बाण से (घोर पीड़ा के साथ) जख्मी हुआ गिर
५० पड़ा। और उस एक मृग को शिकारी को दे कर हटाए हुए बालों और खाल वाले दूसरे (हरिण) के मस्तिष्क (या फेफड़ों) को निकाल कर, अन्दर के अवयवों को हटा कर, जांघों हड्डियों, (और) गर्दन आदि को काट कर वन की आग के अंगारों पर भून कर गरम मांस से उन की और अपनी भूख को दूर किया। इस काम में मेरी कुशलता से
५१ परम प्रसन्न हुए किरात को मैं ने पूछा—क्या माहिष्मती का हाल जानते हो?'

[प्रचण्डवर्मा की मञ्जुवादिनी से विवाह की कामना का समाचार]

३२. उस ने कहा—'वहां पर चीते की खाल और चमड़े के थैले बेच कर आज ही आया हूं। क्यों नहीं जानता। प्रचंडवर्मा नामक चण्डवर्मा का छोटा भाई मित्रवर्मा की पुत्री मंजुवादिनी को पाने की इच्छा वाला आ रहा है। इस कारण से नगरी उत्सव में मग्न है।'

५२ [विश्रुत की चाल]

३३. अब मैं ने बूढ़े को कान में कहा—'धूर्त मित्रवर्मा पुत्री के साथ उचित व्यवहार से माता को विश्वासयुक्त कर उस के द्वारा

बालक को निकाल कर मारना चाहता है। इस लिए लौट कर इसके कुशल और मेरे समाचार को महारानी को एकांत में बता कर फिर 'कुमार को चीते ने खा लिया है' इस प्रकार जोर से रोदन करना। वह दुष्टबुद्धि मन में प्रसन्न हुआ, बाहर दुःख दिखाता हुआ महारानी को सान्त्वना देगा। फिर उस से वह तुम्हारे द्वारा कहा जाए—जिस के कारण तुम्हारी बात का उल्लंघन किया था वह बालक भी मेरे पापों से परलोक चला गया है। अब तो मैं तुम्हारी आज्ञापालक हो गई हूं।' ऐसा कहा हुआ वह प्रसन्नता प्राप्त कर के समीप आएगा। फिर इस वत्सनाभ नामक घोर विष से जल को मिला कर उस में माला डुबो कर उस के द्वारा वह (मित्रवर्मा) सीने और मुख पर प्रहार किया जाए। 'अगर मैं पतिव्रता हूं तो वह यह (माला) ही तुझ घोर पापी के लिए तलवार का प्रहार बन जाए'। फिर इस दवा से मिले हुए पानी में उस माला को डुबो कर अपनी पुत्री को दे। उस के मर जाने पर परन्तु उस (पुत्री) के विकार-हीन होने पर 'सती है' इस (भाव से) प्रजा उस (रानी) का अनुसरण करेगी। फिर प्रचंडवर्मा को संदेश भेजे—'यह राज्य शासक-हीन है। इसी के साथ इस लड़की को स्वीकार कीजिये।' इतने में हम दोनों (आ कर) कापालिक के वेष से युक्त (शब्दार्थ-वेष से छिपे हुए), देवी से ही दी जाती हुई भिक्षा वाले नगर के बाहर श्मशान के समीप रहेंगे। ५२ ५३

३४. फिर सज्जनों, वृद्ध नगरवासियों और विश्वस्त बूढ़े मन्त्रियों से देवी एकांत में कहे—'आज स्वप्न में विन्ध्यवासिनी देवी (दुर्गा) ने मुझ पर कृपा की। 'आज से चौथे दिन प्रचंडवर्मा मर जायगा। पांचवें दिन रेवा के किनारे वर्तमान मेरे मन्दिर में पुरुषों के अभाव की परीक्षा कर के सब लोगों के निकल जाने पर किवाड़ खोल कर तुम्हारे पुत्र के साथ एक द्विजकुमार निकलेगा। वह इस राज्य की रक्षा कर के तुम्हारे बालक को (राज्य में) स्थापित करेगा। निश्चय से वह बालक चीते के रूप वाली मेरे द्वारा छिपा कर रख लिया गया था। और वह ५४

५४ यह पुत्री मंजुवादिनी उस ब्राह्मणपुत्र की पत्नी निश्चित की गई है।' वह यह अत्यन्त रहस्य की वात आप में ही गुप्त रहे जब तक यह पूरी न हो।'

५५

[वसुन्धरा के प्रभाव की प्रसिद्धि]

३५. अब वह अति प्रसन्न हुआ चला गया और यह कार्य योजना (शब्दार्थ–विचार)के अनुसार कर दिया गया। सब ओर जनश्रुति फैल गई–'अहो पतिव्रताओं की महिमा। वह ही माला का प्रहार उस के लिए तलवार का प्रहार हो गया। यह कर्म छलयुक्त है यह कहना सम्भव नहीं क्यों कि वही माला पुत्री को दी हुई उस के स्तनों का आभूषण वन गई, मृत्यु न (वनी)। जो इस पतिव्रता की आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह (जल कर) राख हो जायगा।'

[विश्रुत और भास्करवर्मा का राजप्रासाद में प्रवेश]

३६. अब महान् तपस्वी के वेष में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए मुझे और पुत्र को देख कर वहते हुए दूध वाले स्तनों वाली [वह] सत्कार के लिए उठ कर आनन्द से भर कर वोली—श्रीमान्, यह अंजलि है [अर्थात् यह हाथ जोड़ती हूं]। इस अनाथ व्यक्ति पर कृपा करें। मेरा एक स्वप्न है। वह क्या सच्चा है या नहीं।' मैं ने कहा—'उस का फल आज ही देख लोगी।' 'अगर ऐसा है तो आप की इस दासी का महान् सौभाग्य है। नि.संदेह वह (स्वप्न) इस (मंजुवादिनी) के स्वामी को वताने वाला है।' इस प्रकार मेरे देखने से राग के कारण लज्जायुक्त मंजुवादिनी से प्रणाम करा के वह फिर आनन्द से भर कर वोली–'अगर वह भूठ हुआ तो कल मैं आप के उस इस कापालिक वालक को पकड़ लूंगी।' मंजुवादिनी के राग पर पड़ी दृष्टि से नष्ट [शब्दार्थ–चाटे] हुए धैर्य वाले मैं ने मुस्कराते हुये कहा—'ऐसा

ही हो ।' प्राप्त हुई भिक्षा वाला (मैंने) नालीजंघ को बुला कर और वहां से निकल कर और पीछे आते हुये उस को धीमे से पूछा 'वह प्रसिद्ध थोड़ी आयु वाला प्रचण्डवर्मा कहां है ।' वह बोला—'यह राज्य मेरा है इस प्रकार निःशंक वह भाटों से सेवा किया जाता हुआ राजसभा के मण्डप में बैठा है ।' ५७

[प्रचण्डवर्मा का वध]

३७. 'अगर ऐसा है तो बाग में (ही) ठैरो ।' यह उस बूढ़े को आज्ञा दे कर उस फसील के एक ओर किसी खाली मठिका में अपने कपड़े आदि उतार कर उस की रक्षा में लगाये हुये राजपुत्र वाला [अर्थात् राजकुमार को उस की रक्षा में नियुक्त कर के] भाट के वेष और चेष्टायें (आदि) धारण किये हुये जा कर (मैं ने) प्रचण्डवर्मा को प्रसन्न किया । पर सायंकाल हो जाने पर [शब्दार्थ–लाल हुई धूप वाले समय में] (उपस्थित) जनों के समूह के ज्ञान के योग्य [अर्थात् ज्ञान को बढ़ाने वाले] नाच, गाने और अनेक प्रकार के रोने [श्री काले—स्वरों] का अभिनय कर के, हाथों के घुमावों [श्री काले—हाथों पर कूदना], ऊर्ध्व-पाद [हाथों से पृथ्वी को छू कर और टांग ऊपर कर के बार-बार सिर हिलाना], अलातपाद [एक पैर को ऊपर उठा कर दूसरे को सुकोड़ कर टेढ़ा नाच], मुकुट के आकार [का प्रकाशक नाच] [अथवा–मुकुट पहन कर नाच] (आदि खेल,) विच्छू और मगरमच्छ की चाल आदि, मछली के विलास आदि क्रियाओं [या–ताली बजाना] [और] बार-बार पास बैठे हुओं की छुरियों को ले ले कर उन से युक्त-शरीर [अर्थात्–उन्हें शरीर में लगा कर] विचित्र और कठिन खेलों, बाज की झपट, और कुरर की उड़ान आदि को दिखाता हुआ बीस धनुष [अर्थात–अस्सी हाथ] की दूरी पर बैठे हुए प्रचण्डवर्मा की छाती पर एक छुरी से प्रहार कर के 'वसन्तभानु हजार वर्ष तक जीता रहे' यह गर्जता हुआ मेरे शरीर ५८ ५९

५६ को काटने के लिए उठाई हुई तलवार वाले किसी वीर योधा के मोटे
६० कन्धों वाली भुजाओं की चोटी पर कूद कर, इतने से ही उसे बेहोश करता हुआ और व्याकुल लोगों को ऊपर को देखने के लिए (विवश) करता हुआ दो पुरुषों के बराबर ऊंची दीवार को फांद गया।

३८. और बाग में कूद कर 'मेरे पीछे आने वालों को यह मार्ग दिखाई देता है' ऐसा कहता हुआ ही नालीजंघ से बराबर किए हुए रेत में न दिखाई देने वाले पद-चिह्नों वाली दीवार के पास की तमाल वृक्षों की पंक्ति के साथ पूर्व दिशा में भाग कर फिर दक्षिण में संश्लिष्ट (एक दूसरे से जुड़ी हुई) पक्की ईंटों से पटी होने से न दिखाई देते हुए पदों से दौड़ कर दीवार, टीले और खाई के घेरे को पार करता हुआ
६१ उसी खाली मठिका में जल्दी से प्रवेश कर के पहले [अर्थात् कापालिक के] वेष को धारण कर के राजकुमार के साथ मेरे काम से शोरयुक्त राजद्वार से कठिनता से मार्ग प्राप्त कर के श्मशान के स्थान पर पहुँच गया।

३९. पहले ही उस दुर्गा के मन्दिर में मूर्ति के चबूतरे में ही ढीले किनारों वाले [शब्दार्थ-नष्ट हुई किनारों की स्थिरता = सख्ती वाले] भारी पत्थर से ढके हुए बाहर के दरवाजे वाला बिल मैं ने बना लिया था।

[कुमार के साथ विश्रुत का प्रकट होना]

४०. अब आधी रात के बीतने पर नपुंसकों द्वारा लाए हुए बहुमूल्य रत्नों (से जड़े हुए) आभूषण और रेशमी वस्त्र पहने हुए हम दोनों उस बिल में घुस कर चुप बैठ गए। महारानी ने पहले दिन ही
६२ मालवराज प्रचण्डवर्मा का रीति के अनुसार दाहसंस्कार कर के, और चण्डवर्मा को अश्मकराज की चाल से की हुई उस अवस्था का सन्देश भेज कर, दूसरे दिन प्रातः ही पहले निश्चित किए हुए नगरवासी मन्त्री, सामन्त और वृद्धों के साथ आ कर, देवी की पूजा कर के, सभी पुरुषों

के सामने उस मंदिर के मध्य भाग की निर्जनता की परीक्षा कर के (शब्दार्थ–परीक्षा किए हुए मध्यभाग की निर्जनता वाला उस मन्दिर को बना कर), पुरुषों के साथ ठहर कर (उसी) ओर दृष्टि लगाए हुए जोर से नगाड़े का शब्द करवाया।

४१. बहुत बारीक सुराख में से प्रविष्ट हुए उस शब्द से संकेत प्राप्त कर के मूर्ति के साथ लोहे के आधार को शिर से ही उखाड़ कर (और) भारी भुजाओं वाले पुरुष से बड़े परिश्रम से भी कठिनता से हिलने वाले (उस आधार) को दोनों हाथों से एक किनारे से पकड़ कर एक ओर को रख कर निकल आया। और राजकुमार को भी निकाल लिया।

[विश्रुत का प्रजाओं को सम्बोधन]

४२. अब दुर्गा को पहले जैसा रख कर किवाड़ खोल कर प्रकट हो कर (मैं) विश्वास से प्रसन्न दृष्टि के साथ साफ दिखाई देने वाले रोमाञ्च के साथ, हाथ जोड़ कर और आश्चर्य में आ कर प्रणाम करती हुई प्रजाओं से बोला:—

४३. 'देवी विन्ध्यवासिनी मेरे द्वारा आप को यह आज्ञा देती है—'विपत्ति में पड़ा हुआ यह वह राजपुत्र कृपा से युक्त मैं ने चीते के रूप में छिपा कर आज तुम्हें दिया है। उस इस को आज से मेरा पुत्र होने से शक्तिशाली माता के पक्ष वाला है इस प्रकार आप स्वीकार करें।' और कठिनता से करने योग्य करोड़ों कुटिल प्रबन्धों में कुशलता से प्रकाशित हुई धूर्तता के कारण क्रूर अश्मकराज रूपी घड़े को तोड़ने वाली आत्मा वाले मुझे इस का रक्षक समझो। और रक्षा के शुल्क में इस की इस सुन्दर भौंह वाली बहन को देवी ने मुझे [पत्नी बनाने की आज्ञा] दी है।''

[मञ्जुवादिनी का विवाह]

४४. यह सुन कर 'अहो भोजकुल सौभाग्यशाली है जिस के आप देवी से दिए हुए रक्षक हैं' इस प्रकार प्रजा प्रसन्न हुई। उस मेरी सास

६५ ने तो वाणी के वर्णन से बाहर के हर्ष की अवस्था को प्राप्त किया। और उस दिन ही रीति के अनुसार मञ्जुवादिनी के कोमल हाथ [शब्दार्थ-हाथ रूपी पत्ती] को ग्रहण करा दिया [अर्थात् मेरे से विवाह कर दिया] ।

[भास्करवर्मा के प्रभाव की प्रसिद्धि और उस का उपनयन]

४५. रात हो जाने पर बिल को अच्छी प्रकार भर दिया। सुराख को न देखने [अथवा मेरी चाल को न जानने] वाले, खोई हुई वस्तु, मुट्ठी की वस्तु, मन की बात आदि के बताने (आदि) अन्य उपायों के प्रयोगों से मुझे दिव्य अंश युक्त मानने वाले लोग मेरी आज्ञा का उल्लं-
६६ घन नहीं करते थे। राजपुत्र की '(यह) देवी का पुत्र है' इस प्रकार प्रभाव (की वृद्धि) की कारण ख्याति हो गई। और एक शुभ दिन में मुण्डित उस (राजकुमार) को उपनीत करा के (=जनेऊ पहनवा कर) पुरोहित द्वारा नीति पढ़वाता हुआ मैं राजकार्यों को करने लगा।

[विश्रुत का विमर्श—नय के वृक्ष का वर्णन]

४६. और मैं ने विचार किया—निःसन्देह राज्य तीन शक्तियों के अधीन है। और मंत्र (नीति-विचार), प्रभाव (सामर्थ्य) (और) उत्साह-(ये) शक्तियां आपस में सहायता करती हुई कर्मों में सफल होती हैं। क्यों कि मंत्र से अर्थों (राजनीतिक कार्यों) का निश्चय (होता है), प्रभाव से उन्हें आरम्भ (किया जाता है) और उत्साह से (उन्हें) पूर्ण
६७ (किया जाता है)। इस लिए पांच अंगों वाले मंत्र [नीति-विचार] रूपी जड़ वाला, दो प्रकार के प्रभाव रूपी तने वाला, चार प्रकार के उत्साह रूपी शाखाओं वाला, बहत्तर प्रकार की प्रजाओं रूपी पत्तों वाला, छः गुण रूपी कोंपलों वाला, शक्ति और सिद्धि रूपी फूल और फल वाला नीति का वृक्ष राजा को लाभ पहुँचाता है। और वह यह अनेक प्रकार

का [शब्दार्थ-अनेक आधारों वाला] है (श०-होने से), (अतः) बिना सहायक के इस पर निर्भर रहना सम्भव नहीं [अथवा-इस से लाभ उठाना सम्भव नहीं] परन्तु जो यह आर्यकेतु नाम का मित्रवर्मा का मन्त्री (है) वह कोसल निवासी होने से राजकुमार की माता के पक्ष वाला [है] और मन्त्री के गुणों से पूर्ण है। उस की सम्मति का तिरस्कार कर के ही मित्रवर्मा नष्ट हुआ है। यदि वह प्राप्त हो जाए [तो बहुत] सुन्दर [हो]।' ६७ ६८

[आर्यकेतु की प्राप्ति]

४२. अब मैं ने नालीजंघ को एकान्त में सिखाया-'मित्र, श्रीमान् आर्यकेतु से एकांत में कहना—'यह मायावी पुरुष भला कौन हो सकता है जो इस राज्य की लक्ष्मी का उपभोग कर रहा है। और वह यह हमारा बालक उस धूर्त [श्री काले-सर्प] से वश में कर लिया गया है। क्या वह इसे छोड़ देगा [शब्दार्थ—उगल देगा] अथवा मरवा देगा ६९

[शब्दार्थ-—निगल जायगा] । वह जो कहे वह मुझे बताना ।'

४८. दूसरे किसी दिन उस ने मुझ से इस प्रकार निवेदन किया— "अनेक बार भेंटों से सेवा कर के और मनोहर कथाएं आरम्भ कर के हाथ-पैर दबा कर अति विश्वास से प्राप्त हुए अवसर में मैं ने उस से आप के द्वारा दिए हुए उपदेश के अनुसार पूछा, उस ने भी इस प्रकार कहा—'सौम्य, ऐसा मत कहो। वंश की पवित्रता का प्रकाश, बुद्धि में असाधारण कौशल, अलौकिक शक्ति, अगाध उदारता, अस्त्रों में आश्चर्यजनक निपुणता, कलाओं का विपुल ज्ञान, कृपालु चित्त, और असह्य और शत्रुओं के (नाश) के लिए समर्थ तेज—ये गुण इसी में ही इकट्ठे हुए हैं जो दूसरों में एक एक कर के भी दुर्लभ हैं। यह शत्रुओं के लिए विषवृक्ष, परन्तु भक्तों के लिए चन्दनवृक्ष है। अपने आप को नीति में प्रवीण समझने वाले उस अश्मकराज को उखाड़ कर इस ७०

७० राजपुत्र को इस के द्वारा पिता के पद पर बिठाया हुआ ही समझो। इस में संदेह नहीं करना चाहिये।'

[विश्रुत की शासनव्यवस्था]

४६. और यह सुन कर और बार-बार अनेक उपायों से उस की परीक्षा ले कर उसे अपनी बुद्धि का [अर्थात्—राज्य के कार्य में] सहायक बना लिया। और उस की सहायता से सत्य और पवित्र भावों से युक्त
७१ मन्त्रियों और अनेक वेषों वाले गुप्तचरों को नियुक्त किया। और उन से लालची धनवान्, उद्दण्ड और प्रतिकार–रहित प्रजागणों का (ज्ञान) प्राप्त कर के मैं अपनी उदारता [=लालच के अभाव] को प्रकट करता हुआ, धर्मभाव को उन्नत करता हुआ, नास्तिकों को दुःख देता हुआ, शत्रुओं
७२ को नष्ट करता हुआ, शत्रुओं की चालों को विफल करता हुआ और चारों वर्णों को अपने धर्म–कर्मों में स्थित कराता हुआ, धन एकत्र कर सकूंगा। क्यों कि राजनीति सम्बन्धी कर्मों के आरम्भ धन पर ही निर्भर होते हैं और वहां दुर्बलता से अधिकतम (अर्थात् घोर) पाप और कोई नही है ऐसा विचार कर के मै ने विभिन्न उपायों का प्रयोग किया। '

श्री दण्डी के बनाए हुए
दशकुमारचरित में विश्रुत का चरित
नामक आठवां उच्छ्वास समाप्त हुआ।

(दशकुमार चरित की)

उत्तरपीठिका

में

विश्रुतचरित का (शेष) भाग

(विश्रुत की नीति और षड्यन्त्र)

५०. "और मैं ने विचार किया–सारे ही अत्यन्त वीर सेवकगण, मेरे में इतने भक्तियुक्त हैं कि कहने से जीवन को भी तिनके के समान मानते हैं (अर्थात्–तिनके के समान त्यागने को तैयार हो जायेंगे)। और दोनों राज्यों की सेना को सामग्री से (युक्त) मैं अश्मक के राजा वसन्तभानु से (किसी प्रकार भी) कम नहीं (हूं) और नीति में कुशल हूँ। अतः वसन्तभानु को हरा कर विदर्भ के राजा अनन्तवर्मा के पुत्र भास्करवर्मा को पिता के पद (–राज्य) में बैठाने में समर्थ हूं। और यह राजपुत्र देवी भवानी से पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया गया है। और मैं इस की सहायता के लिए लगाया गया हूं।' यह अफवाह सब जगह फैल चुकी है और अभी तक मेरे इस छल कर्म को किसी ने नहीं समझा है। और यहां के (लोग) इस राजा के पुत्र भास्करवर्मा में 'यह हमारे स्वामी अनन्तवर्मा का पुत्र दुर्गा की कृपा से इस राज्य को प्राप्त करेगा' इस आशा को लगाये हुए हैं। और अश्मक के राजा की सेना राजपुत्र को दुर्गा की सहायता (प्राप्त होने के विषय में) जान कर 'दिव्य शक्ति के आगे मनुष्य की शक्ति समर्थ नहीं हो सकती' इस प्रकार हमारे साथ

७३ ७४ ७५

७५ युद्ध में निरुत्साह (श०—टूटे मन वाली) सी दिखाई पड़ती है। और यहां की मूल प्रजाएं पहले ही राजा के पुत्र की उन्नति की इच्छुक (हैं) और अब फिर मेरे द्वारा धन और सम्मान आदि के दान से विश्वास दिलाई हुई विशेष रूप से राजा के पुत्र को ही चाहती हैं। और अश्मक के राजा के विश्वस्त नौकरों से मेरे अत्यन्त विश्वसनीय पुरुषों ने महान् प्रेम उत्पन्न कर (=घनिष्ट मित्रता कर के) मेरी आज्ञा से एकांत में (उन के) अपने स्वामी में अप्रीति उत्पन्न करने वाले यह वचन कहे हैं—'आप हमारे मित्र हैं। अतः हमें भलाई की [श०—परिणाम में हितकर] बात तो

७६ बतानी ही चाहिए। यहां दुर्गा से राजपुत्र की सहायता में यशस्वी विश्रुत को नियुक्त कर के उस के हाथ से अश्मक के राजा वसन्तभानु और उस के पक्ष में रह कर जो इस के साथ लड़ेंगे उन को भी यमराज का अतिथि बनाया जायगा। जब तक अश्मकराज से उस का युद्ध नहीं होता (श०=युद्ध के व्यवहार वाला नहीं होता) तब तक इस अनन्तवर्मा के पुत्र भास्करवर्मा का अनुसरण कर लो (अर्थात्—उस की शरण में आ जाओ)। वह (=भास्करवर्मा का आश्रय लेने वाला) निर्भय हो भारी सम्मान को प्राप्त कर (अपने) परिवार (या दासो) के साथ सुख से रहेगा, नही तो दुर्गा के त्रिशूल के वश मे हो जायगा (अर्थात्-मारा जायगा)। और भवानी ने मुझे (=विश्रुत को) आज्ञा दी है कि एक बार सब को बता दो। इस लिए (उस ने) आप के साथ हमारी मित्रता करा कर [अथवा-मित्रता को जान कर] हमारे मुंह से (आप) सब को कहला दिया है।' यह सुन कर वे अश्मक के राजा के विश्वस्त नौकर राजपुत्र को दुर्गा से (प्राप्त हुए) वर को जान कर पहले ही (अपने स्वामी से) दिल हटा चुके थे (श०टूटे हुए दिल वाले थे)। (अब) विशेष

७७ रूप से यह वचन मेरे हैं ऐसा सुन कर वे सब ही (पूर्णतया) मेरे वश में ही गए हैं।

[वसन्तभानु का विमर्श और विश्रुत पर आक्रमण]

५१. इस सारे ही वृत्तान्त को जान कर अश्मकराज ने विचार ७७ किया कि 'राजा के पुत्र की (जो) मूल प्रजा है वे सब भी इसी को स्वामी (बनाना) चाहती हैं। और मेरे साधारण और विशेष [=विश्वस्त] (सभी) दासों का समूह (मेरी भक्ति से) मन हटाये हुआ सा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार यदि मैं उपेक्षा [श० —सहनशीलता] का आश्रय ले [अर्थात्–इस ओर ध्यान न दे कर] घर में बैठा रहूं तो भेद उत्पन्न हुए अपने राज्य को भी बचाने में समर्थ नहीं हो सकूंगा। इस लिये जब तक (शत्रु की) (मेरे से) टूटे हुए मन वाली और मेरे (युद्धविषयक निश्चय के) ज्ञान को (शत्रु को) बता देने वाली मेरी सेना के साथ आपस में बातचीत नहीं होती तभी तक [अर्थात्-उस से पहले ही] उस के साथ युद्ध छेड़ दूंगा। ऐसा हो जाने पर वह निश्चय से मेरे सामने थोड़ी ही देर ठैर सकेगा, (अधिक देर नहीं), यह निश्चय कर अन्याय से दूसरे के राज्य पर आक्रमण करने के पाप से प्रेरित हुआ वह ७८ अपनी सेना के साथ हमारी सेना की ओर मानो मृत्यु के मुख की ओर आया।

[विश्रुत की जीत और वसन्तभानु की मृत्यु]

५२. उस को (अपनी ओर) आता हुआ जान कर राजपुत्र आगे बढ़ गया। इस लिये घोड़े पर चढ़ा हुआ (मैं) बढ़ते हुए अश्मक के राजा की ओर गया। तब उस की सारी ही सेना 'जो यह इतनी और असंख्य हमारी सेना के ऊपर अकेला ही (आक्रमण करने के लिये) आ रहा है वहां (अवश्य ही) दुर्गा का वरदान ही अलौकिक कारण है, दूसरा (कोई नहीं)' ऐसा निश्चय कर चित्र में बनाई हुई सी खड़ी रह गई। तत्पश्चात् पास जा कर मेरे द्वारा युद्ध के लिए ललकारे हुए वसन्तभानु ने आ कर तलवार के वार से मुझ पर भारी चोट की। और मैं ने

७८ (अपने) विशेष कौशल से उस की तलवार के वार को असफल कर,
७९ बदले के वार में उस पर चोट कर अश्मकराज के काटे हुए सिर को पृथ्वी पर गिरा कर उस के सैनिकों से कहा—'इस के आगे भी जो युद्ध करने के अभिलाषी हैं वे आ कर [अथवा—मिल कर एक साथ ही] मेरे से युद्ध कर लें। नहीं तो राजा के पुत्र के चरणों में प्रणाम कर के उस के (दास) होते हुए अपनी-अपनी आजीविका का उपभोग करते हुए निर्भयता से अपने-अपने अधिकारों (=पदों) पर रहते हुए (श०-को पालते हुए) सुख से रहो'। मेरे वचन सुनने के बाद सभी अश्मकराज के सेवक अपनी-अपनी सवारियों से एक दम उतर कर राजपुत्र को नमस्कार कर के उस के आज्ञाकारी बन गए।

[भास्करवर्मा का राजतिलक]

५३. फिर मैं ने अश्मकराज के राज्य को राजा के पुत्र को सौंप कर उस की रक्षा के लिये अपने मूल [=विशेष-विशेष सम्बन्धियों] को अधिकारी नियुक्त कर, अपनी बनी हुई अश्मकराज की सेना के
८० साथ विदर्भ देश में आ कर उस राजपुत्र भास्करवर्मा का राजधानी में राजतिलक कर (उस को) पिता के पद पर बिठा दिया।

[विश्रुत का राज्यलाभ और राजवाहन से मिलन]

५४. और एक बार (अपनी) माता वसुमती के साथ बैठे हुए उस राजा से (मैं ने) निवेदन किया—'मैं एक काम आरम्भ करना चाहता हूँ। जब तक वह पूरा नहीं हो जाता, तब तक मैं कहीं भी एक जगह नहीं ठैर सकता। इस लिये यह आप की बहन मञ्जुवादिनी नाम मेरी पत्नी कुछ दिन आप के पास ही रहे। और मैं प्रिय पुरुष की प्राप्ति तक कुछ काल के लिये पृथ्वी पर घूम कर उस को प्राप्त कर फिर यहां आ जाऊंगा'। यह सुन कर (उस) राजा ने माता के परामर्श

से मुझे कहा—क्यों कि हमारे इस राज्य की प्राप्ति रूप इतनी उन्नति के विशेष कारण आप ही हैं। (इस लिए) आप के विना एक क्षण भी हम इस राज्य की धुरा को धारण नहीं कर सकेंगे। इस लिए आप ऐसा क्यों कहते हैं।' यह सुन कर मैं ने उत्तर दिया—'आप (अपने) मन में तनिक भी चिन्ता न करें [श०—आप से चिन्ता का लेश भी मन म नहीं सोचा जाना चाहिये]। आप के घर में जो आर्यकेतु (नाम का) मन्त्रीरत्न है, वह इस प्रकार के बहुत से राज्यों की धुरा को धारण करने में समर्थ है। तो मैं उस को वहाँ (=राज्य-कार्य में) नियुक्त कर के जाऊंगा।' इस प्रकार के वचनों के समूहों से प्रलोभन दिये जाने पर भी माता के साथ राजा ने अनेकों आग्रहों से मुझे (और) कितने ही काल तक प्रस्थान के आरम्भ से रोके रक्खा। (और) उत्कल के राजा प्रचण्डवर्मा के राज्य को मु‍े दे दिया। और मैं उस के राज्य को अपने अधीन कर के राजा से विदा ले कर जैसे ही आप को खोजने के लिए प्रस्थान का आरम्भ करने लगा वैसे ही अङ्ग के स्वामी सिंहवर्मा से अपनी सहायता करने के लिए बुलाया हुआ यहाँ आ कर पिछले पुण्यों के फल से प्रभु (आप) से मिल गया हूँ"।

श्री दण्डी के बनाए हुए दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका में विश्रुतचरित (का शेष अंश) समाप्त हुआ।
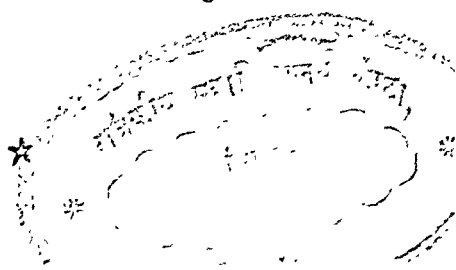
परिशिष्ट ३

दशकुमारचरित का

आठवां उच्छ्वास

विश्रुतचरित की टिप्पणियां

इस उच्छ्वास में विश्रुत की कहानी दी गई है। यह उच्छ्वास कथा के बीच में ही समाप्त हो जाता है। विश्रुत की शेष कथा उत्तर-पीठिका में दी गई है। (कथा के सार के लिए भूमिका संदर्भ १४५-१४६ देखें)।

इस भाग में राजनीति का बड़ा सुन्दर और कतिपय शब्दों में ही पर्याप्त विस्तृत वर्णन किया गया है। पुण्यवर्मा के विशेषणों की छटा दर्शनीय है। अनन्तवर्मा को वसुरक्षित का नीतिगर्भ उपदेश, विहारभद्र की राजनीतिनिन्दा, वसन्तभानु की कूट चालें और उस के षड्यन्त्र, चन्द्रपालित द्वारा की गई मृगया, द्यूत, उत्तमांगनोपभोग, पान, वाक्पारुष्य, दण्ड और अर्थ दूषणों की प्रशंसा, विश्रुत और भास्करवर्मा का मिलाप, विश्रुत का षड्यन्त्र और उस की सफलता तथा उस के द्वारा राज्यशासन के अंगों का वर्णन—सब ही विचित्र सौन्दर्य लिये हुए हैं। भाषा और भाव दोनों ही बड़े उत्तम बन पड़े हैं।

दण्डी के समस्त मूल काव्य में यही एक उच्छ्वास अश्लीलता से हीन और सुरुचि-पूर्ण है। राजनीति का नग्न चित्र खींच कर कवि ने यथार्थता को ही अपनाया है। ये आदर्शवाद के झमेले में नहीं पड़े हैं।

संक्षेप में यह उच्छ्वास कवि के काव्य का सर्वोत्कृष्ट भाग है।

पृष्ठ १—संदर्भ १-**आचचक्षे**-आ+√चक्ष्+लिट् प्रथम पु० एक व०। परिभ्रमता-परि+√भ्रम्+शतृ+पुं० तृतीया एक व०। क्षुधा, तृषा-क्षुध् और तृष् से तृतीया एक व० के रूप हैं; भूख और प्यास से। क्लिश्यन्—√क्लिश्+शतृ+पुं० प्र० एक व०; कष्ट पाता हुआ। **अष्टवर्षदेशीयः**—लगभग आठ वर्ष का।

संदर्भ २—साहाय्यकम्-सहायस्य भावः। पिपासाम्—√पा+सन्+स्त्री० आ+द्वितीया एक व०। उदञ्चन्—उद्+√अञ्च्+शतृ+ पुं० प्रथमा एक व०; खींचता हुआ।

पृष्ठ २-**निष्कलः**-वृद्ध। उद्धर्तुम्-उद्+√हृ+तुमुन्। पञ्चषैः-पंच वा षट् वा तैः; बहुव्रीहिः। उच्छ्रित-उत्+√श्रि+त। निषण्णः नि+√सद्+क्त+प्रथमा एक व० पुंल्लिग।

संदर्भ ३—**आपद्**—आ+√पद्+क्विप्, स्त्रीलिंग प्रथमा एक व०। **आपन्ना**-आ+√पद्+क्त+आ।

संदर्भ ४—**विदर्भो नाम जनपदः**-यह महान् राज्य कृष्णा और नर्मदा के बीच में स्थित था। अपने विस्तार के कारण यह महाराष्ट्र भी कहलाता था। इस की राजधानी कुण्डिनपुरी थी। यह सम्भवतः आजकल की बीदर नगरी ही है। **भोजवंश**-यह यादवों के कुल की ही एक शाखा थी। भोजकुल पर्याप्त प्राचीन मालूम पड़ता है। ऋग्वेद में भोज 'दानशील' का वाचक है। अंशावतारः-एक धर्मात्मा राजा को विशेष रूप से धर्म का अवतार कहा गया है। वैसे तो राजाओं के लिए 'धर्मावतार' संबोधन भी प्रायः प्रयुक्त होता रहा है। पूर्णावतार विरले होते हैं। कृष्ण पूर्णावतार थे और षोडश कलाओं से सम्पन्न थे। अंशावतार में १६ से कम एक वा अधिक कला होती हैं।

पृष्ठ ३–**शक्य**–सम्भव कार्य। **भव्य**–कल्याणकारी। **कल्प**–कर्म, विधि। श्री अगाशे के मत में संभवतः दण्डी ने इन शब्दों को कौटिल्य अर्थशास्त्र (७, ८, ११४–११५) से लिया है।

पृष्ठ ४–**अवितृष्णः**–विगता तृष्णा यस्मात् सः वितृष्णः। न वितृष्णः; अवितृष्णः; अतृप्त। **नदीष्णः**—नदी + √स्नै + अ; नदियों में स्नान करने वाला-नदियों के प्रमाद स्थानों को जानने वाला–अतः कुशल, अनुभवी। **नेदिष्ठ**-अन्तिक + इष्ठन्; समीपतम, अतः पारंगत। **अर्थसंहिता**-राजनीतिशास्त्र। **प्रत्यवेक्षिता**–प्रति + अव + √ईक्ष् + तृ + पुं० प्रथमा एक व०; देखभाल रखने वाला। **कोष**–धनसमूह; खजाना। इसी पर राज्य की स्थिति निर्भर होती है। **सर्वाध्यक्षाणाम्**–सभी विभागों के प्रबन्धकों का। **उत्साहयिता**–उत् + √सह् + णिच् + तृच्, पुं० प्रथमा एक व०। **दैवीमानुषीणामापदाम्**–आग लगाना, बाढ़ आना, रोग दुर्भिक्ष पड़ना, मृत्यु आदि दैवी विपत्तियां होती हैं। दुराचारी राजकर्मचारी, चोर, शत्रु, राजा के कृपापात्र, राजा का लोभ आदि मानुषी विपत्तियां हैं। **षाड्गुण्य**–विदेशनीति में प्रयोग किये जाने वाले छः उपायों के समूह का नाम है। इन के नाम (१) सन्धि या मेल करना (२) विग्रह–युद्ध करना (३) यान—शत्रु पर आक्रमण करना। (४) आसन–ठहर कर उचित अवसर की प्रतीक्षा करना। (५) द्वैध और द्वैधीभव—शत्रुपक्ष में फूट डालना और (६) आश्रय—सहारा ढूँढना आदि। ये उपाय सभी कालों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। इन के प्रयोग में कुशल राजा ही अपनी विदेशनीति में सफल हो सकता है। **मनुमार्गेण**–मनु मानव वंश के आदि स्रोत हैं। वे धर्मशास्त्रकार भी हैं। उन्हों ने जो नियम बनाए हैं उन के अनुसार। ये नियम "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं वैश्यस्य

कृपिमेव च ।। एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।" (मनु १,८८–९१) हैं। अध्याय १० भी देखें।

पृष्ठ ५—**प्राण्य**—प्र + √अण् + अल्प् । **प्राप्य**—पा० भे०—प्र + √आप् + ल्यप् । **पुरुषायुषम्**—पुरुष की पूर्ण आयु सौ वर्ष की मानी गई है-'जीवेम शरदः शतम्'; 'जिजीविषेच्छतं समाः ।' **अगण्यत**—√गण् + कर्मवाच्य + लङ् प्रथम पु० एक वचन । **अगण्यतामरेषु**—देवों में गिना जाने लगा—मर गया—स्वर्गवास हो गया।

संदर्भ ५—**तदायतिः**-(१) तस्माद् आयतिः वृद्धिः यस्य सः—उस पुण्यवर्मा से ही जिस की वृद्धि, ऐश्वर्य आदि थे; अर्थात् जो उस पुण्यवर्मा के समृद्ध राज्य पर बैठा । (२) तस्माद् आयतिः विस्तारः यस्य सः—जिस का विस्तार उस पुण्यवर्मा से था । पुत्र पिता का विस्तार होता है । अतः तदायतिः—उस का पुत्र । (३) तस्य आयतिः विस्तारः—उस पुण्यवर्मा का विस्तार अर्थात् सन्तान । (४) तस्य आयतिः इव आयतिः यस्य सः जिस की वृद्धि उस पुण्यवर्मा की वृद्धि के समान थी । **दण्डनीति**—अर्थशास्त्र । शासनप्रकार । दण्ड—√दम् + ड । राजा या शासक के लिए इस का ज्ञान परम आवश्यक है । महाभारत में दण्ड की महिमा का प्रकरण देखें । **आद्दत**—आ + √दृ० (तुदादि आ०) + क्त ।

संदर्भ ६-**रहसि**—रहस् सप्तमी एक वचन । **प्रगल्भवाक्**—प्रभावशाली वक्ता ।

पृष्ठ ६—**संदर्भ ७**—**आत्मसम्पत्**—आत्मा के गुण अर्थात् पुरुषोचित गुण । 'शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता । उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लेशसहिष्णुता । प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता । कुलं शीलं दमश्चेति गुणाः संपत्तिहेतवः ॥' ये

पुरुषोचित गुण माने गए हैं। **विस्तर**—वि + √ स्तृ + अप्। वाणी के योग में विस्तर रूप बनता है। वृक्ष और आसन के अर्थ में यह 'विष्टर' बन जाता है और फैलाव के अर्थ में वि + √ स्तृ + घञ् = विस्तार बनता है। **बुद्धिशून्य**-अर्थात् दण्डनीति से परिष्कृत बुद्धि से हीन।

पृष्ठ ७—**साध्यम्**—करने योग्य कर्म, उद्देश्य, शत्रुसम्बन्धी कर्म। **साधनम्**—उपाय, सहायक काम। **विभज्य** वि + √भज् + ल्यप्। बांट कर; अर्थात् अलग-अलग कर के, अपने-अपने स्थान पर प्रयोग कर के। **अयथावृत्तः**—साध्य और साधन का अपने-अपने स्थान पर उचित रूप से प्रयोग न करने वाला। **योग**—अप्राप्त की प्राप्ति। **क्षेम**—प्राप्त की रक्षा। **निर्मर्यादः**—निर्गता मर्यादा यस्मात् सः—आचारहीन।

पृष्ठ ८—**आगम**—राजनीतिशास्त्र। **व्यवहित**—वि + अव + √धा + क्त; आंखों से परे अर्थात् गुप्त; अथवा बाधाओं से पूर्ण। **विप्रकृष्ट**—दूर; इन्द्रियों की पहुँच से बाहर; वि + प्र + √कृष् + क्त। **अर्थदर्शनेषु**—राजनीतिक अथवा सामान्य प्रयोजनों के समझने में। **आवर्जितशक्तिसिद्धिः**—मन्त्र, प्रभाव और उत्साह—इन तीन प्रकार की शक्तियों को सिद्धि को प्राप्त हुआ। **शाधि**—√शास् + लोट मध्यम पु० एक०।

पृष्ठ ९—**संदर्भ ८**-**अनुशिष्टम्**—अनु + √शास् + क्त + नपुंसक प्रथमा एक व०। **वित्तः**- √विद् + क्त; ज्ञात, प्रसिद्ध, युक्त। प्राप्त्यर्थक √विद् धातु से निष्पन्न हो कर-धन, सम्पत्ति। **प्रसादवित्तः**-राजकृपा के लिए ख्यात; राजा का कृपापात्र है ऐसा प्रसिद्ध; अथवा राजकृपा से युक्त, या, राजकृपा रूप धन वाला, या राजकृपा से धन पाने वाला **वाद्य**—यह चार प्रकार का होता है—(१) ततम्-वीणा आदि बजाना (२) आनद्धम्-तबला आदि बजाना (३) सुषिरम्-बांसुरी आदि बजाना

(४) घनम्–कांसी के वर्तन आदि के युगल का बजाना । **अबाह्य**—वाहर नहीं, अर्थात् प्रवीण । **परिहासयिता**—परि + √हस् + णिच् + तृच् + पुं० प्रथमा एक व० ।

पृष्ठ १०—कुमारसेवक—जो राजा का कुमारावस्था से ही सेवक था, अतः राजा से बहुत खुला हुआ था । **व्यज्ञापयत्**–वि + √ज्ञा + णिच् + लङ् प्रथम पु० एक व० । **व्यज्ञपयत्**–पा. भे.–वि + √ज्ञप् + लङ् प्रथम पु. एक. व. ।

संदर्भ ९–उच्चावचैः—उदक् च अवाक् च उच्चावचम्, तैः; ऊंची और नीची अर्थात् अनेक प्रकार की । **मुण्डयित्वा**—√मुण्ड् + णिच् + क्त्वा; अग्निष्टोम यज्ञ की विधि की ओर संकेत है । उस में इसी क्रम से यजमान के शिर का मुण्डन और कुश से वन्धन आदि होते हैं । **शाययित्वा**—√शी + णिच् + क्त्वा । **पाषण्डिनः**—श्री काले के मत में इस में जैन भिक्षुओं की ओर संकेत है जो पत्नी, पुत्र आदि सांसारिक वन्धनों के त्याग का प्रचार करते हैं । ये व्रतों और उपवासों में शरीर को मृतवत् करा देते हैं ।

पृष्ठ ११-संदर्भ १०–काकिणी-एक कौड़ी । श्री काले के मत में २० कौड़ी के वरावर का एक सिक्का । **कार्षापण**—सोने का एक सिक्का । श्री काले ने भूषण के अनुसार मनुस्मृति ८, १३६ के आधार पर इसे तांवे का सिक्का माना है । यद्यपि टीका में भी यही माना गया है, तथापि प्रकरण में सोने का सिक्का ही अधिक संगत प्रतीत होता है ।

पृष्ठ १२-संदर्भ ११—त्रयी—ऋग्, साम और यजुर्वेद को त्रयी कहते हैं । आधुनिक विद्वानों के मत में प्रारम्भ में अथर्ववेद न था । वह वहुत पीछे वना । उस के वनने के वहुत काल पश्चात् उसे वेद माना गया । अतः वेदों का त्रयी नाम ही विख्यात है । अन्यों के मत में यह पद

वेदों में प्रतिपादित त्रिविध विद्या का द्योतक है, संहिताओं की संख्या का द्योतक नहीं है। वैदिक साहित्य की धारणा भी ऐसी ही है। देखो वेद का स्वरूप (वेदवाणी १६ । १, पृ० ४७-४६) नामक हमारा लेख। अतः यह चारों वेदों का द्योतक है। **वार्ता**—व्यावहारिक कलाएं-कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि सभी कर्मों के समूह को वार्त्ता कहते हैं। **विष्णुगुप्त**-यह प्रसिद्ध चाणक्य का ही नाम है। इस का समय ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इस का बनाया हुआ कौटिल्य अर्थशास्त्र राजनीति पर संस्कृत साहित्य में अद्वितीय ग्रन्थ है। **मौर्य** -यहां पर मगधराज चन्द्रगुप्त मौर्य की ओर संकेत है। भारतीय परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त की राज्यप्राप्ति का प्रधान कारण चाणक्य ही था।

पृष्ठ १३--अधिगंस्यते—अधि + √गम् + कर्म वाच्य + लृट् प्रथम पु० एक व०।

संदर्भ १२—अधिगतशास्त्रेण-इन शब्दों से कवि दण्डनीति को जानने वाले के संदेहपूर्ण व्यवहार की निन्दा करता है। राजनीति-शास्त्र के अनुसार अपने पुत्र और पत्नी का भी विश्वास करना राजा के लिए घातक सिद्ध हो जाता है। इत्यादि इत्यादि।

पृष्ठ १४-संदर्भ १३-उत्थितेन च राज्ञा—यहां पर दण्डी दिन और रात को ८-८ भागों में विभक्त कर के प्रत्येक भाग का कार्यक्रम बताते हैं। यह वर्णन कौटिल्य के अनुरूप ही है। **मुष्टि**—भूषणा के मत में जनपद के आयव्यय की देखभाल करने वाला मुष्टि और गांव (की आयव्यय) का शोधक अर्धमुष्टि होता है। लघुदीपिका के मत में इन का अर्थ 'कृत्स्नानामायव्ययप्रदेशोवशिष्टमात्रगणनायुक्तोऽर्धमुष्टिः। कृत्स्नावान्तरस्थलविषय आयादिचतुर्विधगणनायुक्तो मुष्टिः' है। श्री काले-के मत में देश के आय और व्यय को जांचने का परिमाणविशेष

मुष्टि कहलाता था। और गांव के आयव्यय का परिमाण अर्धमुष्टि कहलाता था। परन्तु यहां पर 'मुट्ठी, आधी मुट्ठी' साधारण अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। **अभ्यन्तरीकृत्य** – १. गिनने के लिए अन्दर बुला कर २. हिसाब लगा कर ३. अन्दर कर के अर्थात् खा कर।

पृष्ठ १५–प्राड्विवाक-प्राट् च विवाकश्च प्राड्विवाकौ, प्रश्नविवेकौ, तौ अस्य स्तः इति। कहा है—'विवादानुगतं पृष्ट्वा पूर्ववाक्यं प्रयत्नतः। विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः।" **हिरण्यप्रतिग्रहाय**–चौथे भाग में राजा भेंट स्वीकार करता है और पारितोषिक देता है। **हस्तं प्रसारयन्नेवोत्तिष्ठति**-हाथ फैलाता हुआ ही खड़ा हो जाता है। अर्थात् अभी उपहारकर्म पूरा भी नहीं होता कि समय समाप्त हो जाता है और उसे दूसरे कामों में लग जाना पड़ जाता है। **मन्त्रचिन्ता**—मन्त्रियों और सचिवों के साथ राज्य की नीति और शासन की योजनाओं पर विचार-परामर्श। **मध्यस्थाः**– १. तटस्थ। निष्पक्ष २. वकील। **सम्भूय**—सम् + √भू + ल्यप्, मिल कर।

पृष्ठ १६–**विपरिवर्तयन्तः**–वि + परि + √ वृत् + णिच् + शतृ, प्रथमा बहु व०, पुं०, बदलते हुए, अशुद्ध रूप में बताते हुए और गड़बड़ करते हुए। **बाह्याभ्यन्तरान्**–सीमाप्रदेश के निवासी, जंगली जाति आदि अप्रधान रूप से राजा से सम्बन्धित व्यक्ति 'बाह्य' होते हैं और पुरोहित, मन्त्री और सेनापति राजा से सीधे सम्बन्धित होने के कारण 'आभ्यन्तर' प्रजा कहलाते हैं। देखो कामन्दकी० १६। १९–२१। अथवा बाह्य–विदेशी और आभ्यन्तर-अपने देश के। **कोपान् उत्पाद्य**–क्रोधों को भड़का कर। अर्थात् झगड़े करा कर। **प्रशमयन्त इव**—उत्प्रेक्षा से यह बताया गया है कि वे वास्तव में झगड़ों को दबाना तो चाहते नहीं है परन्तु दिखावे के लिए उन्हें शान्त करने का प्रयत्न करते हैं। **सोऽस्यैतावान्**—स दह्यतां स्वैर० आदि पाठभेद लेखक की शैली के विरुद्ध होने से अच्छा नहीं है। कवि कहीं भी सीधे ढंग से किसी वस्तु की निन्दा नहीं करता, फिर

इसी स्थान पर ही क्यों करता। उस की निन्दा तो उस की शैली में ही कूट कूट कर भरी हुई है। **तिस्रस्त्रिपादोत्तरा नाडिका:**—३$\frac{3}{4}$ नाड़ी [=घटिका=घड़ी=२४ मिनट] । अतः १$\frac{1}{2}$ घण्टा । **सेनापतिसखस्य**—सेनापतेः सखा इति सेनापतिसखः, तस्य । यहां पर वहुव्रीहि समास का विग्रह नहीं बनेगा क्यों कि बहुव्रीहि में यह रूप नहीं बनता है। टीका के विग्रह में शुद्धि कर लें। 'सेनापति के मित्र की' अर्थात् सेनापति के साथ में।

पृष्ठ १७—**शस्त्राग्नि०**—इन उपायों से अनिष्ट व्यक्ति अथवा शत्रु को नष्ट कर के अपने मार्ग को निष्कण्टक बनाया जाता था। **श्रोत्रिय**—वेदपाठी। "जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते" यह भी लक्षण दिया जाता है। **तूर्यघोषेण संदिष्टः**-(१) बाजों के शब्दों से सुख पाता हुआ (२) बाजों के शब्दों से सोने के समय की सूचना पा कर बिस्तर पर गया हुआ। **किल**-(शास्त्रकारों से) सुनते हैं। भाव यह है कि यह शास्त्र का विधान है। वास्तव में इस प्रकार के जीवन में नींद एक विडम्बना ही है, सत्य स्थिति नहीं। वह तो ऐसी अवस्था में दूर ही रहती है। **अजस्र**—न+ (√जस्+र)। न+√जस् का अर्थ क्रियासातत्य—क्रिया का लगातार होना है।

पृष्ठ १८—**मन्त्रग्रहः**—मन्त्र ग्रहण करना=मन्त्रियों से सलाह करना। **वीतशुल्क०**-वीता नष्टा शुल्कस्य बाधा यस्मिन् तादृक् वर्त्म। तस्मिन्। वि+√इ+क्त। कर की बाधा से मुक्त मार्गों में। **वणिज्यया**-पा. भे.-(१) वणिजः कर्म वणिज्या। वणिज्+य। (काशिका)। परन्तु यह रूप भाष्यसम्मत नहीं। (२) वणिजि साधुः। वणिज्+ यत्। **वाणिज्य** शब्द इस से भिन्न है, वह वणिज् +ष्यञ् से बनता है। **लेशेन**—थोड़े से ही अर्थात् अनायास ही। **क्लेशेन**—पा० भे०-कठिनता से; अर्थात् महान् परिश्रम कर के भी काम का अवसर निकाल लेते हैं।

पुरोहित—राजाओं के पास धर्मकार्यों के जो अध्यक्ष होते हैं वे पुरोहित कहलाते हैं। दुःस्वप्न–जनता में स्वप्नों के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि कुछ स्वप्न बड़े हानिकर होते हैं। यदि उन का प्रतिकार न किया जाय तो अनर्थ कर देते हैं। उन के प्रतिकार का विधान ज्योतिष ग्रंथों अथवा स्वप्नशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहाः—रवि, सोम मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु ये नौ ग्रह हैं। जब ये अपने नीच के होते हैं तो बड़ा दुःख देते है। ग्रह भी शुभ और अशुभ माने गये हैं। देखो ताजिकनीलकण्ठी आदि ज्योतिष ग्रन्थ। **शकुनानि**—चलते हुए के आगे तीतर का बोलना, आकाश में लालिमा होना आदि शकुन माने गए हैं। शुभ शकुन अच्छा फल देते हैं, अशुभ शकुन बुरा। अतः अशुभ शकुनों का प्रतिकार करने का विधान शकुन-शास्त्र में लिखा है। शान्तयः–ग्रहों आदि के अशुभ फल के लिए प्रतिकार के लिए दान, यज्ञ, भोज आदि कर्म। **स्वस्त्ययनन्**–स्वस्ति ईयते अनेन। विपत्ति को दूर कर कल्याण प्रदान कराने वाली क्रिया। अथवा स्वस्तिवाचन कर्म। इस में स्वस्ति की कामना करने वाले स्वस्ति–पद वाले वेदमन्त्रों का पाठ आदि किया जाता है। आजकल दुर्गापाठ आदि से भी इस लक्ष्य को पूर्ति की जाती है।

पृष्ठ १९—आयुष्यम्—आयुः प्रयोजनमस्य; आयुस् + यत्।

पृष्ठ २०–समज्ञातः–पा० भे०–समज्ञा + तसिल्। **समाज्ञातः** कवि के भाव को सीधा व्यक्त करता है और दण्डी की 'क्त' के प्रयोग की शैली पर है। दण्डी तसिल् का प्रचुर प्रयोग नहीं करता है। **यावता च**—भाव यह है कि यह अनुभव सिद्ध है कि दैनिक जीवन का कार्य नीति के बिना बे रोक-टोक चलता रहता है। न याति लोक.......आदि पाठ में जितनी नीति के बिना संसारयात्रा नहीं चलती यह लोक से ही सिद्ध है। अर्थात् जीवन में जितनी नीति की आवश्यकता है उस का ज्ञान संसार में ही हो जाता है। उस के लिए शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं। **स्तनंधयः**–

स्तनं धयते इति, दूध पीने वाला वालक । स्तन + म् (= मुम्) + √धे + खश् । लिप्सते—√लभ् + सन् + लट् प्रथम पु० एक व० ।

पृष्ठ २१—संदर्भ १४—अरिषड्वर्गः—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये मनुष्य के छः शत्रु माने गए हैं । **सामादिः**—साम, दान, भेद और दण्ड ये चार उपाय हैं । **प्रयोज्यः**—प्र + √युज् + ण्यत्, पुं० प्रथमा एक व० । **सन्धि**—मेल करना, मैत्री करना । **विग्रह**—युद्ध करना । **नेयः, देयः**—√नी और √दा से यत् प्रत्यय । **मन्त्रिबकैः**—मन्त्रिकुत्सितैः इस अर्थ में नित्य समास है । अथवा-मन्त्रिणः वका इव अथवा मन्त्रिणश्च ते वकाश्च । कर्मधारय ।

पृष्ठ २२—शुक्र—राक्षसों के गुरु, शुक्रनीति के रचयिता शुक्राचार्य । **आङ्गिरस**- आदि धर्मसूत्रकार, आंगिरसस्मृति के रचयिता और ज्योतिष के आचार्य हुए हैं । ये महर्षि माने जाते हैं । **विशालाक्ष**-शिवजी का नाम है । यह भी नीतिशास्त्रकार हैं । पौराणिक परम्परा में शिवजी तन्त्र आदि अनेकों विद्याओं के प्रवक्ता हैं । **बाहुदन्तिपुत्र**—वाहुदन्तिनः इन्द्रस्य पुत्रः, इन्द्र का पुत्र जयन्त । ये भी एक तन्त्रकार हुए हैं । **पराशर**—स्मृतिकार हैं । कलि-युग के लिए इन की स्मृति प्रमाण मानी गई है । **अयातयामम्**—यातः यामः प्रहरः (उपभोगकालो) यस्य तद् यातयामम्, न यातयामम् अयातयामम् । जिस के उपभोग का काल नहीं बीता है अर्थात् नवीन, जवान । **तन्त्रावाप**—राज्य के वाह्य और आन्यन्तर कार्यो का ध्यान; देखो टीका । **मा कृथाः**—मा के योग में लुङ् का प्रयोग होता है और लुङ् रूप के 'अ' का लोप हो जाता है । अतः मा + अकृथाः—√कृ + लुङ् मध्यम पु० एक व० ।

पृष्ठ २३-पादातम्-पदातीनां समूह इति; पदाति + अण्; पैदल सेना । **युग**-समय का परिमाण, संस्कृत टीका में विस्तार देखें ।

भुञ्जानः—√भुज् + शानच् + प्रथमा एक व० पुंल्लिग । अन्यार्जिताय—दूसरे के धन के लिए अथवा अधिक धन के लिए । टीका भी देखें ।

पृष्ठ २४—**आस्वादयितुम्**—आ + √स्वद् + णिच् + तुमुन् ।

संदर्भ १५—**गोष्ठी**—सभा, बैठक । कामसूत्र के अनुसार नागरिक अनेक प्रकार की गोष्ठियां किया करते थे । उन्हीं की ओर यह निर्देश है । **यथार्हम्**—यः यः अर्हः यथार्हः—जो जो (उपभोग के) योग्य है । अथवा अर्हम् अनतिक्रम्य । अव्ययीभाव । उचित, उपयुक्त, अपने अनुरूप । **पञ्चांग**—दो घुटने, दो बाहु और शिर इन पांच अगों से । इसी को आजकल साष्टांग दण्डवत् कहते हैं ।

पृष्ठ २५—**क्रीड़ा**—क्रीड़ारसनिर्भरमतिः (पाठभेद)—क्रीड़ा के रस में आसक्त बुद्धि वाला ।

संदर्भ १६—**पृष्ठ २६**—**आसन्नकार्येषु**—समीप किये जाने वाले कार्य, तात्कालिक गुप्त, अथवा उस के व्यक्तिगत कार्य !

पृष्ठ २७—**मत्सनानदोषान्**-१, मेरे जैसों की बुराइयों को २. मेरे जैसे दोषों वालों को, अर्थात् जो मेरे समान उसे उपदेश देने का साहस करते हैं या राजनीति परायण हैं, उन को । **मर्मणि मामुपहसति**—मेरा मार्मिक उपहास करता है; अर्थात् इस प्रकार मेरा उपहास करता है कि मुझे भारी दुःख होता है । **सत्यमाह चाणक्यः**—कौटिल्यार्थशास्त्र के ६२ वें प्रकरण के 'अनर्थ्याश्च' प्रिया दृष्ट्वा चित्तज्ञानानुवर्तिनः ।' और 'अप्रिया अपि दक्षाः स्युस्तद्भावाद् ये बहिष्कृताः' वाक्यों की ओर संकेत है । **अनर्थ्याः**—कौटिल्य के प्रयोग के दृष्टि में 'अनर्थाः' पा०भे० की अपेक्षा यह पाठ अधिक उपयुक्त है । इस का द्वेष्याः से अनुप्रास भी जम जाता है । न अर्थ्याः । अर्थयितुं योग्याः, अर्थादनपेताः वा अर्थ्याः । पहले विग्रह में √अर्थ् + ण्यत और दूसरे में अर्थ + यत् ।

पृष्ठ २८—द्वेष्याः— द्वेष्टुं योग्याः;√द्विष् + ण्यत्+पुं० प्रथमा बहु व० । **अश्मक**—ट्रावन्कोर का एक प्राचीन नाम वराहमिहिर की बृहत्संहिता ४.२४ के अनुसार— अश्मक उत्तर भारत में भी रहते थे। वह उन्हें आन्ध्रों के साथ भी वर्णित करता है। [१६.११] । तत्कालीन अश्मकराज का नाम वसन्तभानु था। **स्तम्भित-पिशुनजिह्वः**—१. उपदेश देने वाली जिह्वा को रोक कर । २. धूर्तों की जिह्वाओं को वश में कर के अर्थात् उन्हें कुछ कहने का अवसर न दे कर। पहला अर्थ ही प्रकरण में उपयुक्त बैठता है जैसा कि आगे की घटनाओं—चन्द्रपालित आदि के आगमन आदि से सूचित होता है। टीका भी देखें।

पृष्ठ २८—संदर्भ १७—एवंगते— मन्त्री के इस प्रकार का भाव मन में ला कर राज्य के काम से उदासीन हो जाने पर । **असद्वृत्त-नाम**—नाम की शक्ति यह प्रकट करती है कि उस का दुराचार बहाना मात्र था। वास्तविक न था । **शिल्पकारिणी**—नर्तकी। **छन्न**—√छद् +क्त । **गूढ**—√गूह् +क्त । **अभ्येत्य**—अभि+आ+√ इ+ल्यप् । **आत्मसात्**—वश में । **अमुना**—अर्थात् विहारभद्र के माध्यम से । **लब्धरन्ध्रः**—लब्धः प्राप्तः ज्ञातः रन्ध्रः प्रमादस्थानं यस्य सः—जिस की दुर्बलताएं जानी जा चुकीं थीं। यह विशेषण राजा का है। श्री काले के मत में यह चन्द्रपालित का विशेषण है । उस अवस्था में लब्धः प्राप्तः ज्ञातः रन्ध्रः येन सः— यह विग्रह होगा।' जिस ने [उस राजा] के छिद्रों [प्रमादस्थानों] को समझ लिया था वह। हिन्दी अनुवाद में काले का मत अपनाया गया है, परन्तु इसे सः = राजा का विशेषण लेना अधिक अच्छा है । **सः**—यह राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। **व्यसनम्**—जुआ खेलना, शराब पीना, स्त्रियों में आसक्ति, शिकार, कठोर वाणी, धन का अपव्यय और कठोर दण्ड— ये व्यसन होते हैं—व्यस्यति श्रेयः अनेनेति व्यसनम् ।

पृष्ठ ३० —संदर्भ १८–**कफापचयः**–शरीर में तीन धातु होती हैं–वात, पित्त, कफ। इन के उचित मात्रा में रहने पर शरीर स्वस्थ रहता है अन्यथा रोगी हो जाता है। कफ के कम होने से और आमाशय में पित्त की उचित गति होने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। **आशयाग्निदीप्तिः**–आशये स्थितः अग्निः। तस्य दीप्तिः वृद्धिः। वैसे तो आयुर्वेद ने कफाशय, आमाशय, अग्न्याशय पक्वाशय, मलाशय, मूत्राशय; रक्ताशय—ये सात माने हैं परन्तु आशय से प्रायः पेट का ही अर्थ लिया जाता है। **मेद**—शरीर को धारण करने वाली रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र नामक सात धातुओं में से एक। भाषा में इसे चर्बी कहते हैं। इस के बढ़ने पर मनुष्य आवश्यकता से अधिक मोटा हो जाता है। **स्थैर्य**—स्थिरताया भावः; स्थिर+ष्यञ्। **कार्कश्य**— कर्कशस्य भावः; कर्कश + ष्यञ्। **लाघव**—लघोः भावः; लघु+अण्। **पिपासा**—पातुमिच्छा;√पा+सन्+ आ। **अवस्थान्तरेषु**–भय से प्रकट हुई मन की भिन्न-भिन्न स्थितियों में। **चित्त**—अर्थात् चित्त के भाव मनोविकार। **चेष्टित**—√चेष्ट् + क्त; चेष्टाएं। अथवा 'चित्तस्य चेष्टितानि' इस प्रकार एक पद ले कर भी 'मन के भावों का' यह अर्थ हो जायगा। ये ही भाव शकुन्तला नाटक में कालिदास ने व्यक्त किए हैं। देखो टीका पृ० ३१। **सस्यलोप**—शास्त्रकारों ने खेती की रक्षा के लिए मृगया का विधान किया था। हिंसक पशुओं के नाश से आवागमन और खेतों में कार्य करना सुरक्षित हो जाने से खेती आदि की वृद्धि होती है। **शैल०**—राज्यगत प्रदेशों का सम्यक् परिचय होने से उन का उचित लाभ उठाया जा सकता है। शबरों से परिचय होने पर उन के आतंक और उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

पृष्ठ ३१—**सङ्घु-क्षण**—सम्+√घुक्ष्+ल्युट्।

संदर्भ १९—**अविधेयत्वम्**—न+वि+√धा+य+त्व। वश में न आना। **औदार्यम्**—उदारस्य भावः; उदार+ष्यञ्। **पौरुष**–पुरुषस्य

भावः; पुरुष + अण् ।

पृष्ठ ३२—अक्षहस्त०-अक्षहस्त-पांसों के हाथ । हाथ से पांसे फेंकने में । अथवा-पाँसों और हाथों की सफाई । भूम्यादि—चौपड़ आदि के घरों में; अर्थात् गोटों को आगे-पीछे चलने में । गोचर—यह यहां पर विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । संज्ञा के रूप में नहीं । अतः—वहुलता से होने वाली, प्रायः पाई जाने वाली । इस का सम्वन्ध कूटकर्मणाम् से है । समस्त वाक्य का अर्थ—पाँसों के हाथों (से फेंकने) में और (चौपड़ आदि के) घरों में (गोटों को आगे-पिछे चलने] में वहुलता से कीए जाने वाली, बहुत ही कठिनता से समझी जाने वाली टेढी [कपट की] चालों को समझने से बुद्धि में असीम निपुणता आ जाती है । श्री काले दोनों स्थानों पर उप + √लक्ष् का अर्थ 'देखना' या 'पकड़ना' करते हैं । यह भी ठीक है यद्यपि यह एकदेशी अर्थ है । वास्तव में चालें पकड़ी ही नहीं जातीं परन्तु स्वयं भी खेली जाती हैं । 'समझना' अर्थ ही इन दोनों भावों को प्रकाशित कर सकता है । दुरुपलक्ष्य—दुःखेन उपलक्षयितुं योग्यानि; दुर् + उप + √लक्ष् + ण्यत् । नैपुण्यम्—निपुणस्य भावः; निपुण + ष्यञ् । संहार-सम् + √हृ + घञ् । ऐकाग्र्यम्—एकाग्रस्य भावः; एकाग्र + ष्यञ् । अध्यवसाय—अधि + अव + √सो + घञ्; उत्साह, निरन्तर परिश्रम । अध्यवसायसहचरेषु—उत्साह के साथी अर्थात् उत्साह से उत्पन्न होने वाले । अतिरति अति + √रम् + क्तिन् । प्रतिसंसर्ग—श्री काले ने इस का अर्थ 'Opposition to'—'विरोध' दिया है । श्री एम० विलियम्स के कोश में पृष्ठ ६७२ पर प्रति संसृज् का अर्थ 'To mingle with'—मिलना और प्रतिसंसर्ग = प्रतिसर्ग तथा प्रतिसंसृष्ट का अर्थ 'mingled with'-'मिला हुआ' दिया है । पृ० ११९६ पर संसृज् का वैदिक अर्थ 'मारना' भी दिया है, परन्तु संसर्ग का वह अर्थ नहीं है । अतः श्री काले का अर्थ निराधार होने से अशुद्ध है । हमारे विचार से तो इस के—'संगति' 'वार-वार संगति'

यही अर्थ हो सकते हैं। अवधारणम्—अव + √धृ + णिच् + ल्युट्।
यापनम्—√या + णिच् + पुक् + ल्युट्।

संदर्भ २०—**उत्तमांगना**—सुन्दर प्रशस्त शरीर वाली जो रतिकर्म में सुखदायक हो। **सफलीकरणम्**— असफलं सफलम् करोति सफली-करोति। च्वि प्रत्यय; उस से ल्युट्; सफलीकरणम्।

पृष्ठ ३८—**अलोभक्लिष्ट**— लोभ के क्लेश से रहित; अर्थात् जिस में लोभ नहीं है। इस दशा में मनुष्य को लोभ त्याग कर उदारता से ही काम लेना पड़ता है। कलासु-कलाएं ६४ गिनी गई हैं। जिन में गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, प्रहेलिका, पुस्तकवाचन, काव्यसमस्यापूर्ति, वास्तुविद्या, संवाहनआदि विशेष उल्लेखनीय हैं। **वैचक्षण्यम्**—विचक्षणस्य भावः; विचक्षण + ष्यञ्। **अलब्धोपलब्धिः**— श्री काले के मत में ये 'धन' के विशेषण हैं, जिन्हें अंगनापक्ष में भी लगाया जा सकता है। परन्तु अंगनोपभोग का प्रकरण और उसी समास में 'रुष्टानुनय' शब्द इन के अर्थ को अंगनापक्ष में ही सीमित कर देते हैं। अतः धनपक्ष का प्रश्न ही नहीं होता। **भुक्तानुसंधान**—भुक्तायाः अनुसंधानं प्रीणनम् 'भोगी हुई स्त्री को प्रसन्न रखना'। भुक्त- √ भुज् + क्त; अनुसंधान-अनु + सम् + √धा + ल्युट्। **शरीरसंस्कार**—शरीर की सजावट। स्त्रियों को आकृष्ट करने के लिए मनुष्य के लिए शरीर को सजाना नितान्त आवश्यक है। मैले-कुचैले और सीधे-सादे पुरुष से स्त्रियां द्वेष करती हैं- यह वात्स्यायन का मत है। ६४ कलाओं में कई कलाएं शरीर-संस्कार से संबन्ध रखती हैं। संस्कार सम् + √ कृ + घञ्-सुट् का आगम। **उद्रिक्तसत्त्वता**—उद्रिक्त-उद् + √ रिच् + क्त। बढ़ी हुई। सत्त्वता-शक्ति, वीर्य। सुन्दर अंगनाओं के उपभोग से मनुष्य की शक्ति बढ़ती है। श्री काले का 'Great nobility of mind' अर्थ बिल्कुल अप्रासंगिक है। दाक्षिण्य-दक्षिणस्य भावः-दक्षिण + ष्यञ्। **अनुवर्तन**— अनु + √ वृत + ल्युट्।

पृष्ठ ३४—**उत्पादन**-उत्+√पद्+णिच्+ल्युट्। **श्रेयस्करत्व**-प्रशस्य+ईयस् से श्रेयः; तत्करोति इति श्रेयस्करः, तस्य भावः।

संदर्भ २१-**पान**-√पा+ल्युट्;शराव पीना। **रोग**-√रुज्+घञ्। **भंग**-√भंज्+घञ्। **पटीयस्**—पटु+ईयस्। **स्पृहणीयवयो०**—(शराव पीने से चेहरे की दीप्ति द्वारा) चाहने योग्य अर्थात् युवा अवस्था का बने रहना। **अवस्थापन**—अव+√स्था+णिच्+ल्युट्। **अहंकार-प्रकर्ष**—शराव के प्रभाव से अहंभाव की वृद्धि। **अहंकार**—अहम्+√कृ+घञ्। **तिरस्करणम्**—तिरस्+√कृ+ल्युट्। **अङ्गजराग०**—शराव से काम का वेग बढ़ता है और नशे की अवस्था में स्त्रियों के साथ रमण की शक्ति बढ़ जाती है। **अश्राव्यशंसिभिः**—गुप्त भेदों, रहस्यों को वताने वाले। शराव के नशे में मनुष्य अनर्गल प्रलाप करता है। वह अपने रहस्यों को गुप्त नहीं रख सकता। रहस्य विश्वस्त व्यक्ति पर ही साधारणतया व्यक्त किए जाते हैं। अतः यहाँ पर रहस्यों के प्रकाशन से विश्वास की वृद्धि वताई गई है। **अशाठ्यशंसिभिः**-पा० भे०। छल-कपट के अभाव को वताने वाली। नशे के कारण बुद्धि इतनी विकल हो जाती है कि वह छलकपट आदि कुछ भी करने में समर्थ नहीं रहती है। यह पाठ वहुत अच्छा नहीं है। **अननुबन्धात्**—न अनुबन्धः; तस्मात्। **अनु-बन्ध**—लगाव, सातत्य, वन्धन। **अननुबन्ध**—सातत्य का अभाव, लगाव का न होना, वन्धन का अभाव। अतः 'अभाव', 'नाश'। **इन्द्रियार्थ**—पांच ज्ञान-इन्द्रियों के विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। **सातत्य**—सततस्य भावः; सतत+ष्यञ्।

पृष्ठ ३५—**सवर्गणम्**-सम्+√वृज्+ल्युट्; इकट्ठा करना, जमा करना। **साङ्ग्रामिकत्वम्**-संग्रामे साधु साङ्ग्रामिकम्, तस्य भावः; संग्राम+ठञ्, उस से त्व। युद्ध के लिए उपयुक्त योग्यता।

संदर्भ २२—**वाक्पारुष्यम्**—भूषणा के मत में ये भी सुरापान के गुण हैं। परन्तु श्री काले इसे स्वीकार नहीं करते। उन का मत ठीक

है। एक तो दण्डी की शैली के अनुसार 'इति' के आगमन से 'पान' का विषय समाप्त हो गया। साथ ही इस वाक्य की 'पान' के पक्ष में संगति भी नहीं लगती है। इस में तो राजा की वाणी के दोषों का ही गुणरूप में वर्णन किया गया है। **पारुष्यम्**—परुपस्य भावः; परुष+ष्यञ्। **दूषणानि अर्थानाम्**—धन का दुरुपयोग, धन का दण्ड लगाना, धन को पानी की तरह बहाना आदि। राजनीतिकारों ने अर्थदूषण को क्रोध के कारण उत्पन्न हुए राजाओं के दोषों में गिना है। यह चार प्रकार का होता है-अदानमादानं विनाशः परित्यागो वार्थस्येत्यर्थदूषणम्। कौटिल्य० ८, ३, १२६। **औपकारिकाणि**—चन्द्रपालित जिन्हें गुणरूप में वर्णन कर रहा है नीतिकारों ने उन्हें दोष बताया है। देखो—वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च। स्मृतं व्यसनतत्त्वज्ञैः क्रोधजं व्यसनत्रयम्॥ कामजं मृगया द्यूतं स्त्रियः पानं तथैव च। व्यस व्यसनं नार्थज्ञैश्चतुर्विध-मुदाहृतम्॥ कामन्दकी० १५, ७, ८। हितोपदेश २, १०३—१०५ भी देखो। **औपकारिक**—उपकार+ठञ्।

सन्दर्भ २३—पृष्ठ ३६—तच्छील०—तत्-राजा की ओर संकेत करता है। साधु अनुसरतीति अनुसारिणी; अनु+√सृ+णिनि+स्त्री-लिंग ङीप्। **छिद्रान्वेषण**—दोष निकालना। **अयतिष्ट**—√यत्+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। **तन्त्राध्यक्षाः**—विभिन्न विभागों के अध्यक्ष। विभागों के नाम टीका में पृ० ४ पर देखें। **कर्मफलानि**—अपने अधिकार के फल-अर्थात् आय को। **व्यशीर्यन्त**—वि+√शॄ+कर्मणि+लङ् प्रथम पुरुष बहुवचन। **विटविधेयतया**-विटों के वश में होने के कारण। अर्थात् विटों की बातों को मानने के कारण। विट-कामगोष्ठी आदि में नायक के सहायक। नायक के धन पर जीवन बिताने वाले। साहित्यदर्पण में इस का लक्षण- "सम्भोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैक-देशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्।" दिया है। **विटवैधेयतया**-पा० भे०। विटों की मूर्खता के कारण-वैधेयस्य भावः वैधेयता।

पृष्ठ ३७–**उपारूढ**–उप + आ + √रूह् + क्त। **विश्रम्भ**–वि + √श्रम्भ् + घञ्। **सजानयः**–सह जाया यस्य सः सजानिः; ते। बहुव्रीहि समास में 'जाया' को 'जानि' हो जाता है। अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ। **अत्यचारिषुः**– अति + √ चर् + लुङ् प्रथम पु० बहुवचन। **अपाचरत्**–अप + आ + √चर् + लङ् प्र० पु० एक वचन। व्यभिचार किया। **भङ्गिभाषण**–कुटिल वाणी–कपट भरी वाणी–चातुरी पूर्ण ऐसे शब्द जिन में अभिधेय अर्थ के साथ-साथ एक गुप्त अर्थ भी होता है जो वक्ता के वास्तविक अभिप्राय को व्यक्त करता है। **भग्न**–√भञ्ज् + क्त। **गणयित्वा**–√गण् + णिच् + क्त्वा। **अहन्यन्त**–√हन् + कर्मवाच्य + लङ्, प्रथम पु० बहु वचन। **अपहृत**–अप + √हृ + क्त।

पृष्ठ ३८—**परिभूति**–परि + √भू + क्तिन्। **अपहृतपरिभूतयः**–अपहृता नष्टा परिभूतिः परिभवभयः येभ्यः ते–जिन में से तिरस्कार का भय निकल चुका था। **अपहृतपरिहृतयः**–पा० भे०। परिहृति–बचाव; जिन से बचाव दूर हो चुका था, अर्थात् अब जिन से बचने की आवश्यकता न थी। **प्रहताः**–प्र + √हन् + क्त। जाने अर्थ में √हन् का प्रयोग 'पद्धति' आदि कुछ विशेष शब्दों में ही शेष रह गया है। साधारणतया यह धातु इस अर्थ में अब प्रयुक्त नहीं होता है। यहां यह गत्यर्थक है। **वधबन्धातुराः**– (१) वधश्च बन्धश्च ताभ्यामातुराः–फांसी और कैद से तंग। (२) वधाय बन्धः वधबन्धस्तेनातुराः–वध करने के लिए कैद से सताए हुए। **अयथाप्रणीतः**—अनुचित अथवा अन्याय से प्रयुक्त हुआ, अयोग्य पक्ष पर प्रयुक्त हुआ। **प्रणीत**–प्र + √नी + क्त। **अजनयत्**—√जन् + णिच् + लङ् प्र० पु० एक वचन। कृश–निर्धन। **अधत्त**—√धा + लङ् प्र० पु० एक व०, आत्मनेपद। **अदह्यन्त**–√दह् + कर्मवाच्य + लङ् प्र० पु० बहु व०।

संदर्भ २४—**अकृत्येषु**—यहां पर नञ् का समास अप्राशस्त्य (= निन्दा) के अर्थ में हुआ है। अतः 'बुरे कर्म', 'कपटकर्म', 'षड्यन्त्र

आदि कर्म' अर्थ हो गया। **उपजाप**—छिपे रूप में शत्रु के नाश के उद्देश्य से किये जाने वाले दुष्कर्म, छल-कपट, भेदोत्पादन, असन्तोष बीजवपन आदि। **तदा च**—इस वाक्य का क्रम—'तदा च अश्मकेन्द्र-प्रयुक्तास्तीक्ष्णरसदादयः मृगयुवेषमृगबाहुल्य .... रन्यैश्चा-भ्युपायैः प्रक्षपितप्रवीरमनन्तवर्मकटकं जर्जरमकुर्वन्' है।

पृष्ठ ३९—अनपसारमार्गाः—'अद्रिद्रोणीः' का विशेषण है। जिन में भागने के, निकलने के मार्ग नहीं थे। केवल एक प्रवेशद्वार ही था। वहाँ पर आग लगा ही दी जाती थी जो निरन्तर अन्दर की ओर बढ़ती ही जाती थी। अतः वहाँ से निकलने का कोई उपाय नहीं रहता था। **शुष्क**—√शुष्+क्त। **प्रवेश्य**—प्र+√विश्+णिच्+ल्यप्। **विसर्ग**—वि+√सृज्+घञ्। **प्रोत्साह्य**—प्र+उत्+√सह्+णिच् +ल्यप्। **इष्टकूप**-अर्थात् जिन कूपों के लिए उन के जल को बहुत मीठा, शीतल और पीने योग्य बता कर अभिलाषा उत्पन्न कर दी गई थी। **इष्ट**—√इष्+क्त। **हारित**-√हृ+णिच्+क्त। **पिपासा**-पातु-मिच्छा—√पा+सन्+आ। **छन्न**—√छद्+क्त। **विषमुखीभिः**—जिन के अग्रभाग विष में बुझे हुए थे। **उद्धरण**—उत्+√हृ+ल्युट्। **विसर**-वि+√सृ+अप्। **विच्छिन्न**-वि+√छिद्+क्त।

पृष्ठ ४०—मृगदेहापराद्धनाम—अपराद्ध=निशाना चूकना। नाम=बहाना। अतः मृगों के शरीरों से निशाना चूकने के बहानों से। **अपराद्ध**--अप+ √राध्+क्त। **मोक्षण**-- √मोक्ष्+ल्युट्। **अधिरुह्य**--अधि+√रुह्+ल्यप्। **प्रभ्रंशन**--प्र+√भ्रंश्+ल्युट्। **प्रतिरोधनैः**—आक्रमण कर के कैदी बनाना (श्रीकाले)। परन्तु कैदी बनाने से उपजाप प्रकट हो जाता है। अतः रोक कर, घेर कर मारना अभिप्रेत है। **गूढोत्पादितव्यलीकेभ्यः**--जिन को गुप्त रूप से हानि पहुँचा दी गई थी, उन से। पञ्चमी विभक्ति। **व्यलीक**—दुःख, पीड़ा,

हानि, सन्ताप। विख्याप्य—वि + √ख्या + णिच् + ल्यप्। गुप्ति—√गुप् + क्तिन्।

पृष्ठ ४१—अभियोज्य—अभि + √युज् + णिच् + ल्यप्। जार-उपपति, पतिभिन्न प्रेमी; √जॄ + घञ्। भर्तॄनुभयं वा—उन के पतियों या दोनों (पतियों और जारों) को मार कर। प्रहृत्य—प्र + √हृ + ल्यप्। तत्साहस०—उन का साहस कर्म वता कर; उस वध को जारों द्वारा या आपस में एक दूसरे के द्वारा किया गया वता कर। भर्तृभयमपह्नुत्य पाठ में—उन के साहस कर्मों को (पतियों से) कह कर पतियों के भय को नष्ट कर के। परन्तु यह अर्थ प्रकरण में असंगत है। अतः पहला पाठ ही अच्छा है। योगनारी—वे सुन्दर स्त्रियां जो मनुष्य को अपने सौन्दर्य से मुग्ध कर के संकटपूर्ण स्थानों में ले जा कर उस की मृत्यु का कारण वन जाती हैं—अतः धोखा देने के लिए नियुक्त नारियां। उपनिलीय—उप + नि + √ली + ल्यप्। अभिद्रुत्य—अभि + √द्रु + ल्यप्। प्रमापण—प्र + √मी + णिच् + ल्युट्; मरवाना, वध कराना। उपप्रलोभ्य—उप + प्र + √लुभ् + णिच् + ल्यप्। प्रेर्य—प्र + √ईर् + ल्यप्। प्रत्यपायनिवर्तनैः—प्रतिगतोऽपायं प्रत्यपायः, तस्मात् निवर्तनैः। प्रत्यपाय—प्रति + अप + √इ + भाव में अच्; विपत्ति का प्रतिकार। अतः विपत्ति को दूर करने के उपायों को हटा कर—जिस से वे हाथी द्वारा मारे जाएं या क्षति प्राप्त कर जाएं। कोपयित्वा—√कुप् + णिच् + क्त्वा। विवदमान—वि + √वद् + शानच्।

पृष्ठ ४२—योगाङ्गना-ऐसी स्त्रियां जिन को कुछ विशेष औषध आदि खिला कर शत्रु के पास भेजा जाता है। ऐसी स्त्रियों के सहवास से मनुष्य को तपेदिक हो जाती है। ये पहले निर्दिष्ट योगनारी से भिन्न हैं। योग्याङ्गना पाठ में यदि योग्या का अर्थ 'युवती नारी' किया जाए तो 'अङ्गना' शब्द व्यर्थ हो जाता है। अतः योग्य—

उपयुक्त—प्रयोजन की सिद्धि करने वाली-यही अर्थ उचित होगा। **अहर्निशम्**—अहः च निशा च तयोः समाहारः। **अभिरमय्य**—अभि+√ रम्+णिच्+ल्यप्। **राजयक्ष्मा**—तपेदिक, क्षयरोग इस रोग से पीड़ित जन दुर्बल और निर्जीव हो जाता है। **रसविधान**—विष की योजना। **प्रयुक्त**—प्र+√ युज्+क्त। **तीक्ष्णरस**—घोर विष। **प्रक्षपित**—प्र+√ क्षप्+क्त।

संदर्भ २५—**वानवास्यम्**— वनवासी का राजा। श्री पीटर्सन के मत में यह नगर दक्षिण भारत में था जिस के अवशेप सुन्द जिले में मिले हैं। श्री अगाशे ने लिखा है—"Vanavasi was one of the seats of the Kadamba kings in the sixth and seventh centuries and is the modern Vanvasi in North Canar. The Maha Bharata mentions वनवासिकाः and from the context these appear to be the inhabitants of Vanavasi. The passage names all the people of the south as under····अथापरे जनपदा दक्षिणा भरतर्षभ। द्रविडाः केरलाः प्राच्या भूपिका वनवासिकाः। कर्णाटका महिषकाः etc. भीष्मपर्व ९. ५८-५९" अर्थात् 'छठी और सातवीं शताब्दी में वनवासी कदम्ब राजाओं की राजधानी थी। यह उत्तरी कन्नड़ की आधुनिक वनवासी ही है। महाभारत में 'वनवासिकाः' का उल्लेख है। प्रकरण से यह वनवासी के निवासियों का वर्णन ही प्रतीत होता है। 'अथापरे' आदि महाभारत के पद्यों में दक्षिण के सभी भागों के निवासियों का वर्णन है। **प्रोत्साह्य**—प्र+उत+ √सह+णिच्+ल्यप्। **व्यग्राहयत्**-वि+√ग्रह्+णिच्+लङ् प्रथम पु० एक व०। **परामृष्ट**—परा+√मृश्+क्त।

पृष्ठ ४३—**अभियोक्तुम्**—अभि+ √युज्+तुमुन्। **समुत्थान**-सम्+उद्+ √ स्था+ल्युट्। **उपेत्य**—उप+ √ इ + ल्यप्।

समगंसत—सम् + √ गम् + लुङ् प्रथम पु० वहुवचन । सम् पूर्वक √गम्—सदैव आत्मनेपद होता है । तु० क० समो गम्यृच्छिभ्याम् पा०–१, ३, २६ ।

संदर्भ २६—**कुन्तल**—चोल देश के उत्तर के देश का नाम था। इस की राजधानी कल्याण या कल्याणदुर्ग थी। श्री स्मिथ के मत में यह देश भीमा और वेदवती के बीच में, पश्चिम में घाटों से घिरा हुआ था। इस में शिमोग, चित्तलद्रुग, वेल्लरी, धाडवार, वीजापुर तथा आसपास के भाग सम्मिलित थे। **आत्मनाटकीयाम्**—अपनी मनोरञ्जन और उपभोग की सामग्रीभूत प्रिय नर्तकी। **क्ष्मातलोर्वशी**–पृथिवी की उर्वशी। यहां पर यह नाम ही है। इस में श्लेष मान कर दोनों अर्थ लेने अधिक अच्छे रहेंगे। **आहूय**—आ + √ह्वे + ल्यप्। **अद्राक्षीत्**—√दृश् + लुङ् प्रथम पु० एक वचन। इस का वैकल्पिक रूप अदर्शत् भी होता है। **भुक्तवान्**—√ भुज् + क्तवतु। **समभ्यधत्त**–सम् + अभि + √ धा + आत्मनेपद लङ् प्रथम पुरुष एक वचन। **प्रमत्तः**—प्र + √मद् + क्त। **सोढव्या**—√सह् + तव्य + (स्त्रीलिंग) आ। **संभूय**—सम् + √ भू + ल्यप्–मिल कर। **मुरलेशम्**—केरल देश का राजा। मुरला केरल देश की प्रधान नदी है। अतः यहां के निवासी 'मुरल' भी कहे जाते थे। श्री काले के मत में केरल देश कावेरी के उत्तर में पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच का प्रदेश था। यह आजकल का कन्नड देश ही था। सम्भवतः मालावार भी इसी में था। श्री नन्दलाल दे के मत में मुरला नदी नर्मदा ही है। डा० वेल्वेल्कर का विचार है कि मुरला पंचवटी के समीप गोदावरी की उपनदी ही थी। **ऋषीक**—दक्षिण भारत का एक देश। साहित्य में 'ऋषीक' नाम ही प्रायः मिलता है। अतः 'ऋचीक' के स्थान पर श्री अगाशे और श्री काले के अनुसार यहां भी 'ऋषीक' पाठ अपनाया गया है। श्री सरकार इसे आधुनिक ट्रावन्कोर वताते हैं।

पृष्ठ ४४—**कोङ्कण**—आजकल के दक्षिण भारत का कोङ्कण देश। **नासिक्य**—दक्षिण भारत का एक भाग। कुछ विद्वानों के मत में गोदावरी नदी पर स्थित नासिक ही है। **उपजपाव**—अपने पक्ष में करें, राजा के विरुद्ध भड़का दें। **असहमानाः**—न सहमानाः; नञ्+ √सह +शानच्+पुं० प्रथमा वहु०। **उपावर्तेरन्**-उप+आ+ √वृत+ विधिलिङ्ग प्रथम पु० वहु० वचन—अनुकूल हो जायेंगे, मान लेंगे, सहमत हो जायेंगे। **व्यतिषक्त**—वि+अति+ √संज्+क्त, लगा हुआ, व्यापृत। **प्राहरेम**-प्र+ √हृ+विधिलिङ् उत्तम पु० वहु व०। **विभज्य**—वि+ √भञ्ज्+ल्यप्। **हृष्ट**- √हृष्+क्त। **अभ्युपेत**-अभि+उप+ √इ+क्त। **कांचनकुङ्कुमकम्बलानाम्**—'गोटा लगी हुई केसरिया शालें (श्री काले)। इस का अर्थ 'सुनहरी और केसरिया शाल (कम्बल)' भी किया जा सकता है। **प्राभृतीकृत्य**-अप्राभृतं प्राभृतं कृत्वा। प्राभृत+च्वि+ √कृ+ल्यप्। **सम्मन्त्र्य**=सम्+ √मन्त्र्+ ल्यप्। **अस्थापयत्**— √स्था+णिच्+लङ् प्र० पु० एक व०।

पृष्ठ ४५—**संदर्भ २७**-**अवशीर्णम्**-अव+ √शॄ+क्त। नष्ट हुए को; अर्थात् लूट में प्राप्त हुए को। **आत्माधिष्ठितम्०**—श्री काले इस वाक्य का अनुवाद इस प्रकार देते हैं—Vasantabhanu, having taken into his possession his dispersed treasure and transport, proposed that it should be divided among all according to their power' अर्थात् वसन्तभानु ने उस के लूटे हुए खजाने और सवारियों को अपने वश में कर के प्रस्ताव किया कि इसे अपनी शक्ति के अनुसार वांट लें।' परन्तु यह अर्थ ठीक मालूम नहीं होता। क्यों कि इस में 'च' की किसी प्रकार भी व्याख्या नहीं की जा सकती है; तथा 'येन केनचिदंशेनाहम्' आदि वाक्य फिर विल्कुल अनुपयुक्त हो जाता है। अतः लूटे हुए उस के कोश और वाहन को अपने ही वश में कर लें और अपनी शक्ति के अनुसार वांट लें' यह

अर्थ ही समीचीन है। 'कृत्वा' के साथ 'च' का प्रयोग अनावश्यक है तो भी साधारण बोलचाल में इस का ऐसा प्रयोग आजकल भी देखा जाता है। **शाठ्यात्**-शठस्य भावः; शठ+ष्यञ्। **सर्वानुवर्ती**— सर्वान् साधु अनुवर्तते इति। **आमिष**—मांस। अतः विवाद की वस्तु। **अध्वंसयत्**—√ध्वंस्+ णिच्+लङ् प्र० पु० एक व०। **तदीयम्**— तस्य इदम्; तत्+छ। **प्रत्यावृत्य**—प्रति+आ+√वृत+ल्यप्।

पृष्ठ ४६—संदर्भ २८—भास्करवर्मा—अनन्तवर्मा का पुत्र। विश्रुत ने इसे ही कुएं पर पाया था। विशेष विवरण उत्तरपीठिका की टिप्पणियों के संदर्भ ५ में देखें। **ज्यायसीम्**— वृद्ध+ईयस्+ङीप् (स्त्री०)। **आदाय**—आ+√दा+ल्यप्। **अपसर्पन्**—अप+√सृप्+ शतृ+पुं० प्रथमा एक व०। **भावितया**—भाविनः भावः, भाविता, तया। **दाहज्वर**—शोक से उत्पन्न हुआ जला डालने वाला बुखार। (श्री काले)। सन्निपातज्वर, विपम ज्वर, टायफाइड ज्वर। **अजहात्**— √हा+लङ् प्रथम पु० एक व०।

संदर्भ २९—माहिष्मती— हैहयों या कालचूरियों की राजधानी। इन का राज्य नर्मदा के उत्तर में था। यह विन्ध्य और ऋक्ष पर्वतों के बीच, जबलपुर के नीचे वेराघर के पास थी। **द्वैमातुर**—द्वयोः मात्रोः अपत्यं पुमान्। सौतेला भाई। **भर्तृद्वैमातुराय**—(अपने) स्वामी के सौतेले भाई, अतः संबन्ध में देवर। इस का नाम मित्रवर्मा था। **दर्शिता**—√दृश्+णिच्+क्त+आ (स्त्री०)। **अन्यथा**— व्यभिचारिणी। **निर्भर्त्सितः**—निर्+√भर्त्स्+णिच्+क्त। **चिकीर्षति**—कर्तुम् इच्छति—√कृ+सन्+लट् प्रथम पु० एक व०। **नैर्घृण्यात्**—निर्घृणस्य भावः, तस्मात्; निर्घृण+ष्यञ्; क्रूरता से।

पृष्ठ ४७—अजिघांसीत्—√हन्+लुङ् प्रथम पु० एक व०। **आज्ञप्तः**-आ+√ज्ञा+णिच्+क्त, पुं० प्रथमा एक व०। **नालीजङ्घ**— भास्करवर्मा का सेवक जिसे विश्रुत ने कुएं से निकाला था। यह रानी

का विश्वस्त दास था। **अवधाय**—अव + √धा + ल्यप्; सावधानी के साथ। भाव यह है कि कुमार राजपुरुषों की दृष्टि में न आए। अतः छुप कर या छिपा कर। आगे के वर्णनों में यही भाव है।

संदर्भ ३०—निर्गमय्य—निर् + √गम् + णिच् + ल्यप्। **व्यगाहिषि**—वि + √गाह् + लुङ् उत्तम पु० एक व०। **आश्वासयितुम्**—आ + √श्वस् + णिच् + तुमुन्; सान्त्वना देने के लिए, अतः विश्राम देने के लिए। **घोष**—ग्वालों की बस्ती; अतः गांव **विश्रमय्य**—वि + √श्रम् + णिच् + ल्यप्।

पृष्ठ ४८—दातुकामः—दातुं कामः अभिलाषः यस्य सः। **अपभ्रंश्य**—अप + √भ्रंश् + ल्यप्। **एधि**—√अस् + लोट् मध्यम पु० एक वचन। **अबध्नात्**—√बन्ध् + लङ् प्रथम पु० एक व०।

संदर्भ ३१—किमीया—कस्य इयम्। किम् + छ + स्त्री० आ।

पृष्ठ ४९—सस्वजे—√स्वंज् + लिट् उत्तम पु० एक व०। यह प्रयोग अशुद्ध है। उत्तम पुरुष में लिट् का प्रयोग संभव नहीं। **सिन्धुदत्ता**-यह विश्रुत के पिता सुश्रुत की माता का नाम प्रतीत होता है। सुश्रुत के पिता का नाम पद्मोद्भव था। विश्रुत के कथन की दृष्टि में सागरदत्ता और सिन्धुदत्ता दोनों बहनें थीं और वैश्रवण की पुत्री थीं।
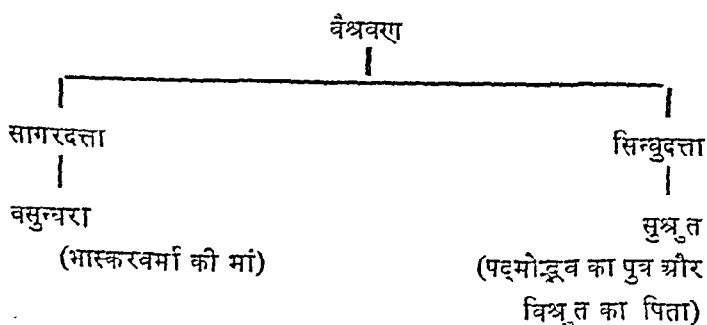
उक्त—√ब्रू+क्त । अत्यहृष्यत्—अति+√हृष्+√लङ्+प्रथम पु० एक व० । अवलिप्त—अव+√लिम्प्+क्त । उन्मूल्य—उत्+√मूल्+ल्यप् । पित्र्ये—पितुरिदं पित्र्यम्, पितुरागतं वा; पितृ+यत् । प्रतिष्ठापयेयम्—प्रति+√स्था+णिच्+विधिलिङ्, उत्तम पु० एक व० । प्रतिज्ञाय—प्रति+√ज्ञा+ल्यप् । क्षपयेयम्—√क्षप्+णिच्+विधिलिङ् उत्तम पु० एक व० । अतीत्य—अति+√इ+ल्यप् । आक्षिप्य—आ+√क्षिप्+ल्यप् । अविध्यम्—√व्यध्+लङ् उत्तम पु० एक व० । अवधिषम्—पाभे०—√हन् (= √वध्) +लुङ् उत्तम पु० एक व० । लकारों की शैली से अवधिषम् पा० भे० भी ठीक है, परन्तु आक्षिप्य के 'य' से अनुप्रास की दृष्टि से अविध्यम् अधिक उपयुक्त है । अर्थ की दृष्टि से भी यह पाठ अच्छा है । सपत्राकृतः—यह प्रयोग अत्यधिक पीड़ा के अर्थ में बनता है-अत्यधिक पीड़ा देते हुए पंखों के भाग के साथ बाण का शरीर में प्रवेश करा दिया अर्थात् बाण का पंखों वाला भाग भी हरिण के शरीर में फंस गया, परन्तु वह बाहर नहीं निकला । निष्पत्राकृतः—यह भी अत्यधिक पीड़ा देने में आता है । पंखों वाले बाण को शरीर के आरपार निकाल दिया । देखो पाणिनि ५,४,६१ । संस्कृत टीका भी देखें ।

पृष्ठ ५०—मृगयवे—मृगान् वधार्थं यातीति । मृग+√या+कु । चतुर्थी एक व० । क्लोम—फेफड़ा । कुछ वैद्य क्लोम को आमाशय का अंग मानते हैं । यह स्थिति उचित प्रतीत नहीं होती । ब्राह्मण ग्रन्थों में वरुण को क्लोम— फेफड़ा कहा है । अपोह्य— अप+√ऊह्+ल्यप् । निष्कुलाकृत्य-निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मात् । बहुव्रीहिः । अर्थात् शरीर को भिन्न-भिन्न अंगों में काट कर । तु० कु० निष्कुलाकरोति दाडिमम् । सिद्धान्तकौमुदी (पा० ५,४,६२) । विकृत्य—वि+√कृन्व+ल्यप् । शूलाकृत्य - शूल से आ का आगम पकाने के अर्थ में होता है । 'शूल पर पका कर' । अत्यतार्षम्—अति+√तॄ+

लुङ् उत्तम पु० एक व० । यह रूप अशुद्ध है । शुद्ध रूप अत्यतारिषम् होना चाहिए । **अत्यतार्प्सम्**—पा० भे०+'तृप्—तृप्त होना' का लुङ् उत्तम पु० एक व० । **अतक्षिषम्**—पा०भे०। √तक्ष् काटना से लुङ् उत्तम पु० एक व० । 'भूख को काटा—क्षीण किया' अर्थात् 'दूर किया' । **सौष्ठव**—सुष्ठोः भावः; सुष्ठु+अण्; कौशल ।

पृष्ठ ५१—**पृष्टवान्**—√प्रच्छ्+क्तवतु ।

संदर्भ ३२—**आचष्ट**—आ + √ चक्ष् + लङ् प्रथम पु० एक व० । **दृतीः**—दृति से द्वितीया बहुवचन, खालों को अथवा खाल से बनी वस्तुओं—कुप्पी आदि को **विक्रीय**—वि+√क्री+ल्यप् । **प्रचण्डवर्मा**—यह मानसार के पुत्र दर्पसार द्वारा उज्जयिनी के राज्य के शासन के लिए नियुक्त किये हुए चण्डवर्मा का छोटा भाई था । चण्डवर्मा की नियुक्ति के लिए अवन्तिसुन्दरीपरिणय नामक पूर्वपीठिका के पंचम उच्छ्वास की कथा भूमिका सन्दर्भ १२५ में देखें । **विलिप्सुः**—वि+√लभ्+सन्+उ ।

पृष्ठ ५२—**संदर्भ ३३**—**जीर्ण**—√जॄ+क्त; वृद्ध । **प्रत्याकृष्य**-प्रति+आ+√कृष्+ल्यप् । **रहः**—रहस्, नपुं० प्रथमा एक व०; क्रियाविशेषणवत् प्रयुक्त हुआ है—रहः यथा स्यात् तथा । **कार्य**—√कृ+ण्यत् । **प्रीत**—√प्री+क्त । **वाच्य**—√वच्+ण्यत् । **अत्यक्रमिषम्**—अति+√ क्रम् + लुङ् उत्तम पु० एक व० । **अगात्**—√ इ+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन । **त्वदादेश०** - 'तुम्हारी आज्ञा के अनुसार चलने वाली'—'तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने वाली' । **प्रतिपद्य**—प्रति+√पद्+ल्यप् । **अभिपत्स्यति**—अभि—√पद्+लृट् प्रथम पु० एक व० । यहां आत्मनेपद होना चाहिए ।

पृष्ठ ५३—**संनीय**-सम्+√नी+ल्यप् । मिला कर । **संमील्य**-पा० भे०, सम्+√मील् से ल्यप् । **पापीयसः**-पाप+ईयस्+षष्ठी एक वचन पुंल्लिग । **स एवायम्**—इति के आगे 'उक्त्वा'

का अध्याहार करने से भाव स्पष्ट हो जायगा । **संगमित**—सम्+√गम्+णिच्+क्त । **अम्भसि**—अम्भस् से सप्तमी एक व० । **देय**—√दा+यत् । **अनुवर्तिष्यन्ते**—अनु+√वृत्+लृट् प्रथम पु० वहु वचन । **संदेश्य**—सम्+√दिश्+ण्यत् । **अनायकम्**—नास्ति नायकः राजा यस्य तत् । **कापालिक**—खोपड़ी हाथ में ले कर भीख मांगने वाले शैव मत के अनुयायी तान्त्रिक साधु । **दीयमान**—√दा+कर्मवाच्य+शानच् । **उपश्मशानम्**—श्मशाने, तत्समीपे वा, अव्ययीभाव समास । **वत्स्यावः**—√वस्+लृट् उत्तम पुरुष द्विवचन ।

पृष्ठ ५४—सन्दर्भ ३४—विन्ध्यवासिनी—यह दुर्गा का एक नाम है—विन्ध्यवन के मन्दिर में स्थित दुर्गा देवी । **रेवा**—नर्मदा नदी का दूसरा नाम है । **परीक्ष्य**—परि+√ईक्ष्+ल्यप् । **वैजन्यम्**—विजनस्य भावः । विजन+ष्यञ् । **निर्यास्यति**—निर्+√या+लृट् प्रथम पु० एक व० । **अनुपाल्य**—अनु+√पाल्+ल्यप् । **प्रतिष्ठापयिष्यति**—प्रति+√स्था+णिच्+लृट् प्रथम पु० एक व० । **तिरस्कृत्य**—तिरस्+√कृ+ल्यप् । **स्थापितः**—√स्था+णिच्+क्त पुंल्लिग प्रथमा एक व० । **उपपत्स्यते**—उप+√पद्+लृट् प्रथम पु० एक व० ।

पृष्ठ ५५—सन्दर्भ ३५—प्रयात—प्र+√या+क्त । **अनुष्ठित**-अनु+√स्था+क्त । **प्रतिदिशम्**—दिशि दिशि अर्थ में अस्वपदविग्रह अव्ययीभाव समास है । **प्रासर्पत्**—प्र+√सृप्+लङ् प्रथम पु० एक व० । **माहात्म्यम्**—महात्मनो भावः, महात्मन्+ष्यञ् । **प्रहार**—प्र+√हृ+घञ् । **शक्य**—√शक्+यत् । **उपधि**—छल, कपट, चाल । **वक्तुम्**—√ब्रू+तुमुन् । **दाम-भस्म**—दामन् और भस्मन् दोनों ही नपुंसकलिंग हैं । दाम और भस्म इन के ही प्रथमा एक वचन के रूप हैं ।

सन्दर्भ ३६—पृष्ठ ५६—प्रस्तुत—प्र+√स्तु+क्त । **प्रत्युत्थाय**-प्रति+उद्√स्था+ल्यप् । **अनुगृह्यताम्**—अनु+√ग्रह्+ कर्म-

वाच्य+लोट् प्रथम पु० एक व० । **द्रक्ष्यसि**—√दृश्+लृट् मध्यम पु० एक व० । **सानाथ्यशंसी**—सनाथस्य भावः सानाथ्यम्; सनाथ+ष्यञ् । तत् शंसति इति । मञ्जुवादिनी की सनाथता को बताने वाला; अर्थात् अब उस का भी एक रक्षक आ गया है; अथवा उस के पति की स्थापना करने वाला । अतः यहां विश्रुत और मञ्जुवादिनी के भावी विवाह की ओर संकेत माना जा सकता है । **बद्ध**— √ बन्ध् +क्त । **प्रणमय्य**-प्र + √ नम् + णिच् + ल्यप् । **युष्मदीय**—युष्मद् + छ ।

पृष्ठ ५७—**निरोद्धव्य**—नि+√रुध्+तव्य । **लीन**—√ली+क्त । **लीढ**— √ लिह्+क्त । **अभिहितम्**—अभि + √धा+ क्त, नपुंसक लिंग प्रथमा एक व० । **आकार्य**—आ+√कृ+णिच्+ल्यप्; संकेत से बुला कर । **निर्गम्य**—निर्+√गम्+ल्यप् । **अनुयान्तम्**-अनु+या+√शतृ+पुंल्लिग द्वितीया एक व० । **प्रथितः**—√प्रथ्+क्त; प्रसिद्ध; जिस का नाम सब जगह प्रसिद्ध है । **अपास्त**—अप+√ अस् (फेंकना)+क्त । **उपास्यमान**—उप+√आस्+कर्मवाच्य+शानच् ।

सन्दर्भ ३७—**तिष्ठ**—√स्था+लोट् मध्यम पु० एक व० । **जरन्तम्**—√जॄ+शतृ+पुंल्लिग द्वितीया एक व० । **आदिश्य**—आ+√दिश्+ल्यप् । **शून्य**—त्यागी हुई, निर्जन । **माठिका**—छोटा मठ, अखाड़ा । यह ऐसा स्थान था जहां निर्विघ्न बिना किसी के देखे हुए कोई भी कार्य किया जा सकता था । अतः वेषपरिवर्तन के लिए यह स्थान पहले से ही नियत किया हुआ होगा, वहां आवश्यक सामग्री पहले ही पहुँचा दी गई होगी और विश्रुत उस राजप्रासाद के प्रांगण आदि में अच्छी प्रकार घूम कर सब मार्गों और स्थानों को जान चुका होगा । मूल में यह सब कुछ अनुमेय ही रहने दिया गया है । **मात्राः**—

परिच्छद, वेषभूषा, कापालिक के वेश का संभार। **समवतार्य**—सम्+अव+√तॄ+ल्यप्। **नियुक्त**—नि+√युज्+क्त।

पृष्ठ ५८— **एत्य**—आ+√इ+ल्यप्। **अन्वरञ्जयम्**—अनु+√रञ्ज्+लङ् उत्तम पु० एक व०। **अनुरञ्जित**—अनु+√रञ्ज्+णिच्+क्त। **अनुरञ्जितातपे**—सूर्य के लाल बना दिए जाने पर, अर्थात् जब सूर्य लाल हो गया; अतः सायंकाल में। **समाजज्ञान०**—भाव यह है कि मनोरञ्जन के साथ-साथ नये विनोदनों से सामाजिकों का ज्ञान भी बढ़ता है। कुछ विद्वान् यहां प्रयुक्त 'ज्ञान' शब्द का कोई औचित्य नहीं मानते हैं, अतः वे समाजोपयोगीनि पाठ को अच्छा समझते हैं, परन्तु यह धारणा अनावश्यक है, क्यों कि विश्रुत को इस समय इतने रोचक और नए प्रदर्शनों की आवश्यकता थी, जिन में दर्शक खो जाएं, वे अपने को और सब कुछ को भूल जाएं। तभी वह प्रचण्डवर्मा को मार सकता था। नए-नए अदृष्टपूर्व खेलों से ज्ञान भी बढ़ता है। अतः मूल में छपा 'समाजज्ञानोपयोगीनि' पाठ ही उत्तम है। **संहृत्य**—सम्+√हृ+ल्यप्। **नृत्य**—लास्य और ताण्डव—दोनों प्रकार के विभिन्न धाराओं या सम्प्रदायों में प्रचलित नाच। **नानारुदितानि**—श्री काले इस पाठ को अच्छा नहीं मानते हैं। वे समझते हैं कि यहां पक्षियों के कलरवों के अनुकरण का वर्णन है। परन्तु रुदित शब्द पक्षियों के स्वरों के लिए प्रयुक्त नहीं होता है। साथ ही उन्हों ने मूल पाठ में 'रुदित' ही रक्खा है। केवल टिप्पणियों में 'रुत' पाठ लिया है। वस्तुतः श्री काले की इस कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है, क्यों कि आजकल भी अनेक प्रकार से रोने आदि का प्रदर्शन कर के जनरञ्जन किया जाता है। यही भाव कवि को भी अभिप्रेत रहा होगा। **हस्तचंक्रमण**—पैर ऊपर कर के हाथों पर चलना; अथवा हाथों को इधर-उधर चलाना। **ऊर्ध्वपाद, अलातपाद**—ऊपर और पार्श्वों में टेढ़े-सीधे पैर कर के विभिन्न प्रकार के इन नामों से

प्रख्यात नृत्य। इन में शरीर की भिन्न-भिन्न प्रकार से गतियाँ होती हैं। हिन्दी अनुवाद देखें। **आपीड**—में शरीर का संकोचन किया जाता है। **वृश्चिक०**—बिच्छू और मगरमच्छ की चालें। **मत्स्य** — मछली की गतियां। **करणानि**—जमनास्टिक के खेल। **आदाय**—आ+√दा+ल्यप्।

पृष्ठ ५९—**आसन्न**— आ+√सद्+क्त। **उपहितवर्म्मा**—उपहितं संयुक्तं वर्म्म देहः यस्य सः—(उन छुरियों को) अपने शरीर में लगा कर। **उपहित**- उप+√धा+क्त। **वर्म्मन्**—√वृप्+मन्। **श्येनपात**—बाज की झपट का अभिनय। **उत्क्रोशपात**—कुरर पक्षी की उड़ान आदि। **दर्शयन्**—√दृश्+णिच्+शतृ+पुंल्लिंग प्रथमा एक व०। **विंशतिचाप**—चाप=फैले हुए दोनों हाथों के बराबर का माप। अतः २० चाप=लगभग ४० गज। **प्रत्युरसम्**—उरसि इति प्रत्युरसम्; अव्ययीभावसमास; प्रति+उरस्+टच्। **जीव्यात्**—√जीव्+आशीर्लिङ् प्र० पु० एक व०। **वसन्तभानुः**—अश्मक का राजा। त्रिश्रुत के इस वाक्य के कहने का अभिप्राय यह है कि सब यह समझें कि यह वध वसन्तभानु द्वारा कराया गया है। इस से उस पर किसी को सन्देह नहीं होगा। साथ ही चण्डवर्मा के पक्ष वाले वसन्तभानु के विरुद्ध हो जायेंगे। **अभिगर्जन्**—अभि+√गर्ज्+शतृ+पुं० प्रथमा एक व०। **उत्कर्तुम्**—उत्+√कृ+तुमुन्; काटने के लिए। **अरुष्कर्तुम्**—पाभे० जख्मी करने के लिए; अरुस्+√कृ+तुमुन्। भूषणा और लघुदीपिका में यही पाठ है। **उद्यत**—उत्+√यम्+क्त। **आक्रम्य**—आ+√क्रम्+ल्यप्।

पृष्ठ ६०—**विचेतीकुर्वन्**—अविचेतं विचेतं कुर्वन्; विचेत+च्वि+कुर्वन्। **उच्चक्षूकुर्वन्**—ऊर्ध्वं चक्षुः यस्य स उच्चक्षुः; तादृशं कुर्वन्। **उच्छ्रित**—उत्+√श्रि+क्त।

संदर्भ ३८—**अवप्लुत्य**—अव+ √ प्लु+ल्यप् । **अनुपातिनाम्**-अनुपतन्तीति, तेषाम्; अनु+ √ पत + णिनि । **दृश्यते**—√दृश्+कर्मवाच्य+लट् प्रथम पु० एक वचन । **ब्रुवाणः**—√ब्रू+शानच्+पुं० प्रथमा एक व० । **न्यास**—नि+ √अस् (फेंकना, रखना)+घञ् **वीथ्या**—वीथी से तृतीया एक व० । पंक्ति । **प्राचा**—प्राच् से तृतीया एक व० । **अवाचा**—अवाच् से तृतीया एक व० । **प्रद्रुत्य**—प्र+ √ द्रु+ल्यप् । **वप्र**—मिट्टी का टीला । सम्भवतः कवि यह कह रहा है कि वहां नगर के चारों ओर तीन प्रकार से रक्षा का विधान किया हुआ था—खाई, फिर रेत-मिट्टी की दीवार और फिर पक्की ईंटों से बनी हुई विशाल दीवार । वप्र के अर्थ 'किसी भवन की नींव और पहाड़ का उतराव' भी हैं । अतः प्राकार का नीचे का भाग अथवा प्राकार का उतराव अर्थ भी अभिप्रेत हो सकते हैं । **खात**—√खन्+क्त ।

पृष्ठ ६४— **प्रतिमुक्त**-न छोड़ा हुआ, अर्थात् धारण किया हुआ; प्रति+√मुञ्च्+क्त । यहां प्रति निषेधार्थक है । उपसर्गों के प्रयोग से अनेक बार धातुओं के अर्थ बदल जाते हैं । **अभ्यगाम्**—अभि + √ इ + लुङ् उत्तम पुरुष एक व० ।

संदर्भ ३९—**प्राक्**—प्राच् प्रथमा एक व० । **भग्न**—√भञ्ज्+क्त । **स्थैर्य**—स्थिरस्य भावः स्थैर्यम्ः स्थिर+ष्यञ् । **स्थगित**—√ स्थग् (ढ़कना, छिपाना) + क्त ।

संदर्भ ४०—**मध्यरात्रे**-मध्यं रात्र्याः, मध्य + रात्रि + अच् । **वर्षवर**--नपुंसक, हीजड़े । **पूर्वेद्युः**—पूर्वस्मिन् द्यवि; अव्यय है ।

पृष्ठ ६१-**यथार्हम्**-अर्हानुसारम्; अव्ययीभाव । **यथार्हमग्निसंस्कारम्**-राजोचित सम्मान के साथ अग्नि से दाहकर्म कर के । दाहकर्म शरीर का अन्तिम संस्कार है । यजुर्वेद का कहना है कि 'भस्मान्तं शरीरम्'-भस्म होने पर शरीर समाप्त हो जाता है । इस संस्कार को अन्त्येष्टि

भी कहते हैं। इस में शरीर के अवयवों को उन के मूल कारण पांच भूतों में लीन हो जाने के लिए प्रार्थना की जाती है। विस्तार के लिए दयानन्द सरस्वती, संस्कारविधि और आत्माराम, संस्कारचन्द्रिका देखें। **अश्मकेन्द्रोपधि०**—भाव यह है कि यह काम वसन्तभानु की चाल से ही हुआ है। 'एव' से कवि यह व्यक्त करता है कि केवल यही कारण बताया गया। इस संदेश द्वारा चण्डवर्मा के मन में वसन्तभानु के प्रति द्वेष की भावना भर दी गई, जिस के कारण भविष्य में वे मिल कर आक्रमण न कर सकें। **अर्चयित्वा**—√अर्च् (चुरादि)+क्त्वा। **प्रत्यक्षम्**—प्रतिगतम् अक्षि इति; प्रति+अक्षि+अच्। **परीक्षित**—परि+ √ईक्ष्+क्त। **वैजन्यम्**—विजनस्य भावः, विजन+ष्यञ्। **विधाय**—वि+√धा+ल्यप्। **पटीयांसम्**—पटु+ईयस्+पुं० द्वितीया एक व०। पदचन्द्रिका के अनुसार—'श्रेष्ठ'; श्रीकाले के मत में—'जोर का'। **पटह**—नगाड़ा। **अकारयन्**—√कृ+णिच्+लङ् प्रथम पु० एक व०।

सन्दर्भ ४१—**उत्क्षिप्य**— उत्+ √ क्षिप्+ल्यप्। **अंसल**—अंस+(बलवान् अर्थ में) लच् प्रत्यय।

पृष्ठ ६३—**एकतः**—एक+तस्। **निवेश्य**—नि + √ विश्+णिच्+ल्यप्। **निरगमम्**—निर्+ √गम्+लुङ् उत्तम पु० एक व०। निरगमयम् णिजन्त का रूप है। **कुमारम्**—भास्करवर्मा की ओर निर्देश करता है।

संदर्भ ४२—**यथापूर्वम्**—पूर्वमनुसृत्य। **अर्पयित्वा**—√ऋ+णिच्+क्त्वा। **उद्घाटित**—उद्+ √ घट्+णिच्+क्त। **प्रत्यक्षीभूय**—अप्रत्यक्षः प्रत्यक्षः भूत्वा इति प्रत्यक्षीभूय। च्विप्रत्ययान्त पदों से आगे आने वाला क्त्वा प्रत्यय ल्यप् में बदल जाता है। **प्रत्यय**—विश्वास। **रूढ**—√रुह्+क्त। **प्रणिपतन्तीः**—प्र+नि+ √ पत्+शतृ, स्त्री० द्वितीया बहु वचन। **अभ्यधाम्**—अभि+ √धा+लुङ् उत्तम पु० एक व०।

संदर्भ ४३—**आज्ञापयति**—आ+ √ज्ञा+णिच्+लट् प्रथम पु०

एक व० । **आपन्नः**—आ + √ पद् + क्त + पुं० प्रथमा एक व० ।

पृष्ठ ६४—तिरस्कृत्य— तिरस् के कारण क्त्वा ल्यप् में बदल गया है । वः—युष्मद् से चतुर्थी बहु व० का अन्वादेश रूप है । **अमन्द-मातृपक्षः**—वह जिस का मातृपक्ष बहुत बलवान् है । अर्थात् जिस की रक्षा माता विन्ध्यवासिनी करती है । **मन्दमातृपक्षः**-पा० भे० का कोई अर्थ संगत नहीं होता । **पाटवः**—पटोः भावः, पटु + अण् । **शाठ्य**— शठस्य भावः । **निर्वेश**—शुल्क । **आर्यया**— देवी विन्ध्यवासिनी के द्वारा ।

संदर्भ ४४—पृष्ठ६५—आर्यादत्तः—आर्यया दत्तः—देवी विन्ध्य-वासिनी द्वारा दिया गया–नियुक्त किया गया । **अप्रीयन्त**—√ प्री (दिवादि०) + लङ् प्रथम पु० बहु० व० । **अहः**—अहन् नपुंसकलिंग, प्रथमा एक व०; क्रियाविशेषण है । **यथावत्**—विधि के अनुसार । विवाहसंस्कार की विधि दयानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित संस्कारविधि अथवा गृह्यसूत्रों और विवाहपद्धतियों आदि में देखें । **अग्राहयत्**- √ ग्रह् + णिच् + लङ् प्रथम पु० एक व० । **पाणिपल्लवम्**—पाणिः पल्लवमिव तत् । द्वन्द्व और तत्पुरुष समासों में समस्त पद का लिंग उत्तर पद के अनुसार होता है । तु० क० परवल्लिगं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । पा० २।४।२६।

संदर्भ ४५—प्रपन्ना—प्र + √ पद् + क्त + टाप् । **यामिन्याम्**— रात में, यामानि सन्ति यस्यां सा यामिनी—पहरों वाली; यद्यपि दिन में भी पहर होते हैं, तथापि यह शब्द रात्री अर्थ में रूढ़ है । **प्रत्यपूरयम्**— प्रति + √ पूर् (चुरादि०) + लङ् उत्तम पु० एक व० । **अलब्धरन्ध्रः**— जिसे हमारे दोष छल का कोई पता नहीं चला है । **समर्थयमान**—सम् + √ अर्थ् (चुरादि०) + शानच् ।

पृष्ठ ६६—प्रभावहेतुः—प्रभाव नामक शक्ति को उत्पन्न करने वाली । इस प्रसिद्धि से सब भास्करवर्मा की शक्ति को मान कर उस से

डरने लगे। **प्रसिद्धि**—प्र+ √सिध्+क्तिन्। **गुणवत्यहनि**—ज्योतिष शास्त्र के अनुसार भद्रा आदि से रहित शुभ नक्षत्र आदि से युक्त दिन में। समस्त मांगलिक कर्म शुभ दिनों में ही सम्पन्न किये जा सकते हैं। **भद्राकृतम्**—कटे हुए बालों वाले को। उपनयन संस्कार से पहले बाल कटवाने की प्रथा है। वैसे सभी शुभ कर्मों में बाल आदि कटवा कर शुद्ध और सुभग रूप बनने की प्रथा है। **उपनाय्य**—उप+ √नी+णिच् +ल्यप्; आचार्य द्वारा उपनयन संस्कार करवा कर। **पुरोहित**-पुरः धीयते इति। सब संस्कारों को पुरोहित कराता है। यह सामान्यतः ब्राह्मणवर्ण का होता है। अन्य वर्णों का भी कुछ सीमाओं में हो सकता है। यह स्थिति वर्णों के जन्मगत होने के पश्चात् उत्पन्न हुई। पहले वर्णविभाजन गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार होता था, जन्म के वंश के आधार पर नहीं होता था। अतः जो कर्मकाण्ड आदि कराने में रुचि लेते थे, सतत अध्ययन, अध्यापन, यजन और याजन करते थे, वे सब ब्राह्मण कहलाते थे। उस समय इतर वर्णों के पुरोहितत्व के विधान की आवश्यकता नहीं थी।

संदर्भ ४६—**शक्तित्रयायत्तम्**—शक्तीनां त्रयं, तत्र आयत्तम्। आयत्त—आ+ √यत्+क्त। **शक्ति**—तीन होती हैं—१. मन्त्र—अच्छी सम्मति से उत्पन्न। २. प्रभाव-राजा के तेज से उत्पन्न। ३. उत्साह—राजा के मन की दृढ़ता और कर्मप्रवृत्ति से उत्पन्न। **परस्परानुगृहीताः**—एक दूसरे के द्वारा सत्प्रयोग से सहायता प्राप्त करती हुई। अर्थात् साथ-साथ उचित रूप में काम में लाई हुई। **क्रमन्ते**—बढ़ती हैं। विकसित होती हैं। इस अर्थ में यह धातु आत्मनेपद होता है। देखो 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (पाणिनि)। **निर्वहणम्**—पूर्ति, समाप्ति, अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि।

पृष्ठ ६७—**पञ्चाङ्ग**—पंच अंगानि यस्यासौ पंचाङ्गो मन्त्रः मूलं यस्य सः। मन्त्र के पांच अंग ये हैं—१. मित्र (सहाय) २. साधन ३.

देशकाल का विभाग ४. विपत्ति का प्रतिकार ५. प्रयोजन की सिद्धि— 'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पंचाँगमुच्यते ॥' कामन्दकीयनीति १२, २६. **मूल**—वृक्ष की जड़, अतः आधार, नींव । **द्विरूपप्रभावः**—राजा का तेज दो कारणों से बढ़ता है— धन की समृद्धि और पुरुषों की अधिकता से । **स्कन्ध**—वृक्ष का तना । राजा का द्विविध तेज नयवृक्ष का तना है । **उत्साह**—चार प्रकार का होता है—साम, दान, भेद और दण्ड । अथवा—मन, वाणी, शरीर और कर्म का प्रयोग । **विटप**—शाखाएं । उत्साह नयवृक्ष की शाखाएं है । **द्विसप्ततिप्रकृति०**—७२ प्रकार की प्रकृतियां इस प्रकार हैं— (१) चार मूल प्रकृतियां—मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु । (२) आठ शाखा प्रकृतियां— मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार । (३) इन बारहों प्रकार की प्रकृतियों के प्रत्येक के अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड ये पांच भेद होते है । अतः ये ६० प्रकार की प्रकृतियां हुईं । (४) मूल १२ प्रकृतियों के साथ ये ६० प्रकृतियां मिल कर ७२ हो जाती हैं । यहां इन को नयवृक्ष के पत्ते कहा गया है । **षाड्गुण्य**—सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव ये ६ प्रकार के गुण हैं । ये ६ गुण नयवृक्ष की कोंपलें हैं । इस स्थल पर राजनीति का एक वृक्ष के रूप में वर्णन किया गया है । **नेतुः**—नेतृ (√नी+तृच्)+षष्ठी एक व०, पुंल्लिग । **अधिकरण**— आश्रय, आधार, धाराएं ।

पृष्ठ ६८—**दुरुपजीव्यः**—दुर् +उप+√ जीव् + ण्यत । **आर्य-केतु**—इस से पहले यह नाम इस ग्रन्थ में नहीं आया है । यहाँ इसे मित्रवर्मा का मन्त्री बताया गया है । मित्रवर्मा माहिष्मती का राजा था और अनन्तवर्मा का सौतेला भाई था । प्रतीत होता है कि आर्यकेतु ने मित्रवर्मा को भास्करवर्मा और वसुन्धरा की उचित रक्षा और पालन-पोषण का परामर्श और वसुन्धरा के सतीत्व की रक्षा का उपदेश दिया

था, जिस को न मानने के कारण वह विश्रुत के षड्यन्त्र में फंस कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। यह आर्यकेतु कोसल देश का था, वसुन्धरा भी उसी देश की थी। अतः आर्यकेतु का भास्करवर्मा के प्रति अनुराग और सहानुभूति स्वाभाविक थे। **अवमत्य**—अव+√मन्+ल्यप्; ठुकरा कर, तिरस्कार कर के, अतः न मान कर। **ध्वस्त**—√ध्वंस्+क्त। **पेशलम्**—सुन्दर, उत्तम, अच्छा।

संदर्भ ४७—रहस्यशिक्षयम्—एकान्त में सिखाया। यहाँ पर जो बातें सिखाई गई हैं, वे सब कौटिल्य अर्थशास्त्र १।६ के अनुसार हैं। **आर्य**—श्रीमान्, श्रीयुत के समान आदरसूचक विशेषण है। **ब्रूहि**—√ब्रू+लोट् मध्यम पु० एक व०। **नु**—प्रश्नवाचक निपात है। **मायापुरुषः**—मायायुक्तः पुरुषः-छली, कपटी पुरुष। **भुजङ्ग**—भुजं कुटिलं गच्छति इति। कुटिल नीति चलने वाला। यह सांप का भी पर्याय है। वह अर्थ भी यहाँ अभिप्रेत है। अतः सांप के समान कुटिल चाल चलने वाला धूर्त भाव हुआ। **अमुना**—अदस्, पुंल्लिग तृतीया एक वचन।

पृष्ठ ६६—उद्गीर्येत, ग्रस्येत— ये क्रमशः उद्+√गॄ से और √ग्रस् से कर्मवाच्य विधिलिङ् प्रथम पुरुष एक व० के रूप हैं। **अस्मि**—मैं; अव्यय पद है। यह √अस् के लट् उत्तम पु० एक व० अस्मि से भिन्न है, रूप में ये दोनों एक से हैं। **बोध्य**— √बुध्+ण्यत्।

संदर्भ ४८—आवेदयत्—आ+√विद्+णिच्+लङ् प्रथम पु० एक व०। **प्राभृत**—प्र+आ+√भृ+क्त; भेंट, डाली। **प्रवर्त्य**—प्र+√वृत्+ल्यप्; आरम्भ कर के, चला कर। **संवाह्य**—सम्+√वह्+णिच्+ल्यप्। **पाणिपादम्**—पाणी च पादौ च, तेषां समाहारः। **विस्रम्भ**—विश्वास, अतः आत्मीयता। **तत्क्षण**—१. हर्ष को प्राप्त; तम् का विशेषण २. अवसरप्राप्त; अप्राक्षम् का क्रियाविशेषण। **अप्राक्षम्**— √प्रच्छ्+लुङ् उत्तम पुरुष एक व०। **मा वादीः**—मा के

साथ अट्हीन लुङ् का प्रयोग होता है। वादीः— √वद्+लुङ् मध्यम पु० एक व० का अट्हीन रूप। **शुद्धिदर्शनम्**—पवित्रता का प्रमाण। **नैपुण्यम्**—निपुणस्य भावः; निपुण+ष्यञ्। **बुद्धिनैपुणम्** (पा० भे०) में नैपुण—निपुण + अण्। **अतिमानुषम्**—मानुषमतिक्रान्तः; मनुषः मनुष्यस्य वा इदमिति मानुषम्; मनुष्य या मनुष्+अण्। **औदार्य**—उदारस्य भावः; उदार+ष्यञ्। **अत्याश्चर्यम्**—आश्चर्यमतिक्रान्तः। **कौशल**—कुशलस्य भावः; कुशल+अण्। **अविषह्यम्**—न विषह्यम्; नञ्+वि+√सह्+ण्यत्। **अभ्यमित्रीणम्**—अमित्रान् शत्रून् अभिमुखम् अलं गच्छतीति, तथा—अभि+अमित्र+ख (=ईन) (पा० ५।२।१७)। इस के दो अन्य रूप अभ्यमित्रीय (छ) और अभ्यमित्र्य (यत्) भी होते हैं। **संनिपातिनः**— सनिपतन्ति इति; अच्छे और पूर्ण रूप में (एक दूसरे पर) गिरते-पड़ते हुए, सम्+नि+√पत्+णिनि।

पृष्ठ ७०-**एकैकशः**-एकः एकः इति; एक+एक+शस्। **द्विषताम्**-द्विषत् षष्ठी बहु व०, पुंल्लिग; √ द्विष्+शतृ। **चिरविल्वद्रुमः**—विल्व एक विषैला वृक्ष है जिस का विष सम्भवतः धीरे-धीरे अपना प्रभाव दिखाता हुआ चिरकाल में भयंकर और घातक हो जाता है। अतः लक्षणा से चिरविल्व द्रुम के समान 'नाशक'। कोषकारों ने इसे बेल का पेड़ माना है, परन्तु बेल पौष्टिक तो है, विष नहीं। प्रह्व—नम्र, विनीत। **उद्धृत्य**—उद्+√हृ+ल्यप्। **नीतिज्ञंमन्यम्**—आत्मानं नीतिज्ञं मन्यतेऽसौ; नीतिज्ञ+मुम्+√मन्+श्यन् (दिवादि का य)+खश्। भाव यह है कि जो अपने आप को महान् नीतिज्ञ मानता है, वस्तुतः नीति का सर्वाधिक और इतना जानकार नहीं है। **पित्र्य**—पितुः इदम्, पितुः आगतं वा। **विद्धि**—√विद् लोट् मध्यम पु० एक व०।

संदर्भ ४९—**उपधाभिः विशोध्य**—धर्म, काम और अर्थ से विचलित कर के पुरुष की परीक्षा लेना। उपधा चार प्रकार की होती है—१. मित्र २. उदासीन ३. सन्तोष ४. उत्साह। मन्त्रियों और ब्राह्मणों

की परीक्षा इन उपायों से करे। यह शब्द उपधि और उपाधि से भिन्न है। **विशोध्य**—वि+√शुध्+णिच्+ल्यप्। **मतिसहायम्**—अपनी मन्त्रणा या नीति में सहायक। **अकरवम्**—√कृ+लङ् उत्तम पु० एक व०। **तत्सखः**—तस्य सखा; तत्+सखि+टच्। **सत्य**—सचाई। **शौच**—ईमानदारी।

पृष्ठ ७१—**विविधव्यञ्जनान्**—अनेक प्रकार के रूपों वालों को। यह विशेषण पद है। **गूढ़पुरुष**—गुप्तचर। **उदपादयम्**—उद्+√पद्+णिच्+लङ् उत्तम पु० एक व०। **उपलभ्य**—उप+√लभ्+ल्यप्। **लुब्ध**—√लुभ्+क्त। **समृद्ध**—सम्+√ऋध्+क्त। **उत्सिक्त**—उत्+√सिच्+क्त। **अविधेयप्राय**—अत्यधिक शरारती; साधारणतया वश में न आने वाले। **अभिख्यापयन्**—अभि+√ख्या+णिच्+शतृ+पुं० प्रथमा एक व०। प्रशंसा करता हुआ। **उद्भावयन्**—उद्+√भू+णिच्+शतृ+पुं० प्रथमा एक व०। रुचि उत्पन्न करता हुआ। **नास्तिक**—वेदनिन्दक, ईश्वर और परलोक को न मानने वाला। संभवतः राजा के दिव्यांशत्व से इन्कारी भाव अभीष्ट हो। संस्कृत टीका भी देखें। **कदर्थयन्**—कत् (=कु)+√अर्थ्+णिच्+शतृ। **कण्टक**—चोर, डाकू, सूद लेने वाले, धनिक, नियमों को तोड़ने वाले और इसी प्रकार के अन्य पुरुष राज्य की स्थिति और शान्तिव्यवस्था के लिए कांटे ही हैं। अतः इन्हें कण्टक माना गया है।

पृष्ठ ७२—**विशोधयन्**—वि+√शुध्+णिच्+शतृ+पुं० प्रथमा एक वचन। **अपघ्नन्**—अप+√हन्+शतृ पुं० प्रथमा एक व०। **चातुर्वर्ण्यम्**—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। **अभिसमाहरेयम्**—अभि+सम्+आ+√हृ+विधि लिङ् उत्तम पुरुष एक वचन। **अर्थमूलाः**—अर्थः मूलं येषां ते। धन ही जिन का कारण है। **दण्ड**—दण्डनीति। **अर्थमूलाः**·····० **रम्भाः**—'राज्य-नीति के काम धन पर निर्भर होते है।' **पापिष्ठ**—पाप+इष्ठन्। **तत्र दौर्बल्य तु**—वहां की कमजोरी; अर्थात्

कोश की दुर्वलता—पैसे का अभाव । **दौर्बल्य**—दुर्वलस्य भावः; दुर्वल+ ष्यञ् । **आकलय्य**—आ+√कल्+णिच्+ल्यप् । **योगान्**—राजनीति में वताए हुए प्रयोजन की सिद्धि के उपाय ।

अभी विश्रुत की कथा समाप्त नहीं हुई है तो भी अष्टम उच्छ्‌वास यहीं पर समाप्त हो जाता है । विश्रुत की शेष कथा उत्तरपीठिका में दी गई है । उत्तरपीठिका का यह अंश भी इस संस्करण में संकलित किया गया है । विश्रुत की कथा होने से इस उच्छ्‌वास का नाम विश्रुत-चरित है । यह दण्डी के अपने हाथ का लिखा हुआ है । इस में अन्य कुछ कुमारों के चरित्र के समान सुरुचि का अभाव नहीं है । राजनीति का सार ही इस की विशेपता है ।

उत्तरपीठिका का विश्रुतचरित

सुधोरिणी टिप्पणियां

उत्तरपीठिका ग्रन्थ का पिछला या अन्तिम भाग होता है। इसे उपसंहार या परिशिष्ट कहा जा सकता है। अष्टम उच्छ्वास की समाप्ति पर भी विश्रुत की कहानी पूरी समाप्त नहीं हुई थी। वह इस अंश में पूरी की गई है। इस का सार भूमिका में संदर्भ १४६ में दिया जा चुका है।

संदर्भ ५०—अतिशूरः—अतिक्रान्तः शूरम्; क्रान्तादि पदों का द्वितीया के साथ समास होता है। **अनुरक्त**—अनु + √रञ्ज् + क्त। **आज्ञया**—आज्ञा से तृतीया एक व०; प्रकृत्या चारु के समान यहां तृतीया आई है। **तृणाय मन्यते**—अनादर अर्थ में √मन् के योग में चतुर्थी आई है। इस का वैकल्पिक रूप 'तृणं मन्यते' भी होता है। **राज्यद्वितय०**—मित्रवर्मा और प्रचण्डवर्मा के राज्यों की सेनाएं। विश्रुत ने इनको मार कर दोनों के राज्यों को भास्करवर्मा को दे दिया था। अतः दोनों देशों की सेनाएं इस के अधिकार में थीं। **सैन्य**—सेनायां भवः सैन्यः; अथवा सेना एव सैन्यम्; सेना + ञ्य। **वसन्तभानु**—पिछले अष्टम उच्छ्वास (मूल विश्रुतचरित) में बताया गया है कि राजनीति में कुशल अश्मक के राजा वसन्तभानु ने राजनीति का निरादर कर व्यसनों में मग्न विदर्भ के राजा अनन्तवर्मा को मार कर उस के राज्य पर अधिकार जमा लिया था।

पृष्ठ ७४—आविष्ट—आ + √विश् + क्त। **पराजित्य**—परा + √जि + ल्यप्। **भास्करवर्मा**— विदर्भ के राजा अनन्तवर्मा का

पुत्र था। विश्रुत के पिता और भास्करवर्मा की मां का नाना एक ही था। विश्रुत ने प्रसिद्ध कर रक्खा था कि भास्करवर्मा को देवी दुर्गा ने अपनी रक्षा में ले कर अपना पुत्र बना लिया है, अपने सेवक विश्रुत को राजकुमार का रक्षक नियत किया है और भास्करवर्मा की बहन मञ्जुवादिनी का विवाह विश्रुत से करने का विधान किया है। विश्रुत इस प्रसिद्धि का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। **स्थापयितुम्**—√स्था+णिच्+तुमुन्। **अलम्**—समर्थ। **साहाय्य**—सहायस्य भावः; सहाय+ष्यञ्। **मत्कपटकृत्यम्**—पिछले उच्छ्वास में वर्णित विश्रुत की चालें और नीति—भास्करवर्मा की मृत्यु की घोषणा, वत्सनाभ के विष में भिगोई हुई माला से अनन्तवर्मा का वध कराना, स्वप्न की कल्पना, कापालिक वेष, कुशीलव रूप में प्रचण्डवर्मा का वध, उसे वसन्तभानु से सम्बद्ध करना, दुर्गा के मन्दिर से प्रकट हो अपने को दिव्य बताना और आर्यकेतु आदि को अपने पक्ष में करना आदि। **अत्रस्थाः**—अत्र तिष्ठन्ति ते; अत्र+√स्था+क; पुं० प्रथमा बहु व०। **अवाप्स्यति**—अव+√आप्+लृट् प्रथम पु० एक व०। **बद्ध**—√बन्ध्+क्त। **दैव्याः शक्तेः**—भास्करवर्मा देवी का पुत्र और विश्रुत देवी द्वारा नियुक्त रक्षक प्रसिद्ध होने से वे दिव्य शक्ति से सम्पन्न माने जा रहे थे।

पृष्ठ ७५—मानवी—मनोरयं मानवः; मनु+अण्; उस से स्त्रीलिंग ङीप्। **अस्माभिः**—विश्रुत, भास्करवर्मा और उन के पक्ष वालों के साथ। यहां 'सह' का प्रयोग न होने पर भी तृतीया विभक्ति आई है। **चलचित्त**—चञ्चल मन वाले, अस्थिर चित्त, दोलायमान निश्चय वाले। भाव यह है कि वे इस संशय में पड़े हुए थे कि 'युद्ध करें वा न करें।' 'संशयात्मा विनश्यति'। अतः ऐसी संशय में पड़ी हुई सेना की हार निश्चित है। **मौलाः प्रकृतयः**—देश की स्थायी प्रजाएं जो कुलक्रम से भास्करवर्मा के कुल भोजवंश द्वारा शासित थीं। यद्यपि विश्रुत का यह विचार माहिष्मती में हो रहा है, विदर्भ में नहीं, तथापि इस में कोई विरोध नहीं है। कुछ व्यक्ति वसुरक्षित के साथ विदर्भ से माहिष्मती

में आ गए थे। उन की ओर ही संकेत प्रतीत होता है वैसे भी मित्रवर्मा भास्करवर्मा का चाचा था। अतः माहिष्मती की राजभक्त प्रजा का उस के प्रति पक्षपात स्वाभाविक था। मित्रवर्मा का राज्य अनन्तवर्मा का अधीनस्थ मण्डल भी हो सकता है। उस अवस्था में माहिष्मती की प्रजाएं भी अनन्तवर्मा की प्रजा थीं। **अभ्युदय**—लौकिक उन्नति, अतः राज्य-प्राप्ति। **अभिलाषिण्यः**— साधु अभिलपन्तीति; अभि+√लप्+णिनि+स्त्रीलिंग ई (ङीप्)+प्रथमा बहु०व०। **आवर्जन**—आ+√वृज्+ल्युट्; न्यौछावर करना, देना। **विश्वासित**—वि+√श्वस्+णिच्+क्त। **भृत्या**—√भृ+क्यप्; तुक् का आगम; पालन-पोषण करने योग्य, अतः सेवक। **मदीय**—अस्मद्+छ। **उत्पाद्य**—उत्+√पद्+णिच्+ल्यप्। **उपजप्ताः**—उप्+√जप्+क्त। कान में चुपके-चुपके कुछ-कुछ कह कर अपने स्वामी से तोड़ कर मेरे पक्ष में कर लिए गए हैं। **उदर्क**—परिणाम, फल। **शुभोदर्क**—परिणाम में कल्याणकारी। **वाच्यम्**—वक्तुं योग्यम्; √ब्रू या √वच्+ण्यत्। **साहाय्यक**—साहाय्यमेव साहाय्यकम्; स्वार्थ में कन् प्रत्यय।

पृष्ठ ७६—**विश्रुतं विश्रुतम्**—इस में यमक अलंकार है। एक विश्रुत का अर्थ 'प्रसिद्ध' है और दूसरा व्यक्तिविशेष का नाम है। **योत्स्यन्ते**—√युध्+लृट् प्रथम पु० बहु० व०। **अन्तकातिथिभवनम्**—यमराज का अतिथि होना। **भवन**—√भू+ल्युट्। **जन्यवृत्तिः**—जन्यं वृत्तिः यस्य सः—युद्ध के व्यापार वाला; अथवा जन्ये वृत्तिः यस्य सः। दोनों ही विग्रहों का भाव है—'युद्ध में व्यापृत'। **जन्य**—१. √जन्+ण्यत् २. √जन्+णिच्+यत्; नपुंसकलिंग में युद्धवाची होता है। **वीत०**—१. वि+√इ+क्त २. √वी+क्त; वीतं भयं यस्मात् सः। **भूयसीम्**—बहु+ईयसुन्+स्त्री० ङीप्। **प्रवृत्ति**—समृद्धि; उन्नति, स्थिरता आदि। **निवत्स्यति**—नि+√वस्+लृट् प्रथम पु० एक व०। **वश्य**—√वश्+ण्यत्। **आज्ञप्त**—आ+√ज्ञा+णिच्+क्त। **मैत्री**—मित्रस्य

√बुध्+ल्यप्; जागृत कर के, उत्पन्न कर के। **गदितम्**— √गद्+क्त; सामान्य में नपुंसक लिंग है। कह दिया गया है, संदेश दे दिया गया है। यही भाव **'वार्तम्'**—(पा०भे०) का है। **आकर्ण्य**—आ+ √कर्ण् +ल्यप्। **भिन्न**—√भिद्+क्त । **भिन्नमनस**— भिन्नं मनः येषां ते; उचटे हुए—टूटे हुए मन वाले।

पृष्ठ ७७—संदर्भ ५१—व्यचिन्ति—वि+ √चिन्त्+कर्मवाच्य +लुङ् प्रथम पु० एक व०। **बाह्यः**—बहिर्भवः; बहिस्+ष्यञ्; सामान्य; इधर-उधर से लगाए हुए नौकर, जो गुप्त और महत्त्वपूर्ण कामों पर न हों। **आभ्यन्तर**—अभ्यन्तरे जाताः, भवाः वा, अभ्यन्तर+अण्; अन्तरंग, विश्वस्त, महत्त्वपूर्ण और गुप्त कार्यों में व्यापृत । **शक्ष्यामि**— √ शक्+लृट् उत्तम पु० एक व० । **क्षमामवलम्ब्य**—तटस्थ हो कर, उदासीन हो कर; अर्थात् जो कुछ राज्य में हो रहा है, उस की उपेक्षा कर के। **उपजाप**—भेद, फूट। **मदवबोधकम्**—मम अवबोधकम्; १. अव+ √बुध्+ण्वुल् २. अवबोध एव अवबोधकम्; अव+ √बुध्+घञ् +स्वार्थ में कन्; उद्बोधक ज्ञान, अर्थात् मेरी अपनी स्थिति की विवशता का ज्ञान, अतः 'युद्ध का निश्चय'। **मिथोवचनम्**— मिथः परस्परं वचनं, वार्तालापः यस्य तत्। **विग्रह**—युद्ध। **क्षणम्**—थोड़ी देर, अधिक देर नहीं। **परराज्य०**—अनन्तवर्मा के राज्य पर आक्रमण कर उसे आत्मसात् करने का पाप। दूसरे के अधिकार और धन आदि का अपहरण घोर पाप माना गया है। यद्यपि राजनीति में नैतिक आदर्शों का कोई महत्त्व नहीं है, तथापि बिना कारण दूसरे के राज्य पर आक्रमण करना राजनीति में भी पाप माना गया है और अनैतिक कर्मों का फल और प्रभाव तो होता ही है, अतः यहां वसन्तभानु के कर्म को पाप कह कर उसे ही उस की मृत्यु का कारण कल्पित किया गया है।

पृष्ठ ७८—संदर्भ ५२—अभ्यायान्तम्—अभि+आ+ √या+ शतृ+पुंल्लिंग द्वितीया एक व०। **पुरोऽभवत्**—आगे बढ़ा, लोहा लिया। **आलेख्य**—चित्र। **संगर**—द्वन्द्वयुद्ध । **समाहूत**—सम्+आ+ √ह्वे +

क्त; ललकारा हुआ। दृढ़—√दृंह् + क्त। अभ्यहन्—अभि + √हन् + लङ् प्रथम पु० एक व०। शिक्षा—कौशल।

पृष्ठ ७६—अवकृत्त—अव + √कृन्त् + क्त। **विनिपात्य**—वि + नि + √पत् + णिच् + ल्यप्। **अतः परमपि**—अपने राजा और सेनानायक वसन्तभानु के इस प्रकार असहाय और अनायास देवी की शक्ति से सिर काट लिए जाने के वाद भी। **युयुत्सवः**—√युध् + सन् + उ + प्रथमा वहु व०, पुंल्लिग। **युध्यन्ताम्**—√युध् + लोट् प्रथम पु० वहु व०। **वृत्ति**—आजीविका, वेतन, पद आदि। **आनम्य**—आ + √नम् + ल्यप्। **तद्वशवर्तिनः**—तस्य वशे वर्तिनः; वर्तितुं शीलं येषां ते वर्तिनः; उस के वश में रहने वाले, उस की आज्ञा मानने वाले।

संदर्भ ५३—राजसूनुसात्—सात् तद्धित प्रत्यय है। जिस के साथ लगता है, उस के पूर्ण अधिकार या उस में परिवर्तन को प्रकट करता है। अतः 'सब प्रकार से राजपुत्र के अधीन कर के'। सात्-प्रत्ययान्त समस्त पद अव्यय हो जाता है। **मौलान् स्वान्**—कुलक्रम से आए हुए तथा सम्वन्धियों को। भाव यह है कि—जो पीढ़ी से पीढ़ी अपने सम्वन्धी अधिकारों में चले आ रहे थे और जो अपने सम्वन्धी थे, उन सब के परम विश्वासपात्र होने से उन्हीं को अधिकारी वनाया।

पृष्ठ ८०—विदर्भानभ्येत्य—भास्करवर्मा और विश्रुत अभी माहिष्मती में ही थे कि वसन्तभानु ने उन पर आक्रमण किया। वैसे भी विदर्भ देश अव तक वसन्तभानु के अधिकार में था। अतः युद्धघटना विदर्भ से वाहर हुई। संस्कृत में देशवाची शब्द प्रायः वहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। अतः विदर्भ में वहुवचन है। **अभिषिच्य**—अभि + √सिच् + ल्यप्; राजतिलक सम्वन्धी स्नान करा के। अभिषेकस्नान का सविस्तार वर्णन शतपथ आदि ब्राह्मणों में मिलता है। **न्यवेशयम्**—नि + √विश् + णिच् + लङ् उत्तम पु० एक व०।

संदर्भ ५४—वसुमत्या—यह भास्करवर्मा की माता का नाम है। अष्टम उच्छ्वास में इस का नाम वसुन्धरा वताया गया है। यहां तीन

स्थितियां हो सकती हैं—१. दोनों पर्यायवाची हैं, अतः वसुन्धरा उस का नाम है, वसुमती पर्याय। २. दोनों ही उस के नाम हैं। ३. उत्तरपीठिका का लेखक भास्करवर्मा की माता का नाम वसुमती मानता है, वसुन्धरा नहीं। पहली और दूसरी स्थितियां परिणाम में एक ही फल देती हैं। ये ही समीचीन प्रतीत होती हैं। **व्यजिज्ञपम्**—वि+√ज्ञा+णिच्+लुङ् उत्तम पु० एक व०—निवेदन किया, प्रार्थना की, कहा। **चिकीर्षित:**—√कृ+सन्+क्त, पुंल्लिग प्रथमा एक व०। **शक्य**—√शक्+यत्। **मद्भार्या त्वद्भगिनी**—जैसा, अष्टम उच्छ्वास में आया है विश्रुत ने यह घोषित कर दिया था कि दुर्गा देवी की आज्ञा से मञ्जुवादिनी का विवाह विश्रुत से कर दिया जाए। यह विवाह विधिवत् सम्पन्न कर दिया गया था। मञ्जुवादिनी भास्करवर्मा की बहिन थी। **कियन्त्यहानि**—में अत्यन्तसंयोग में कालवाची शब्द में द्वितीया है। **उपलम्भ**—उप+√लभ्+घञ्, नुम् का आगम; प्राप्ति, उपलब्धि। यह खोज, तलाश का भी वाचक है, अतः 'खोज और प्राप्ति'। **अनेहसम्**–अनेहस्, द्वितीया एक व०—काल, समय। **अगादि**—√गद्+कर्मवाच्य+लुङ् प्रथम पु० एक व०।

पृष्ठ ८१—राज्यधू:—राज्यस्य धूः; पा० ५.४.७४ (ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे) के अनुसार 'राज्यधुरा' रूप होना चाहिये। यहां का प्रयोग शुद्ध नहीं है। **निर्वाह्या**—निर्+वह्+ण्यत्+स्त्री०आ। **प्रत्यवादि**—प्रति+√वद्+कर्मवाच्य+लुङ् प्रथम पु० एक व०। **उद्वोढुम्**—उद्+√वह्+तुमुन्। **प्रलोभित:**—प्र+√लुभ्+णिच्+क्त। **सजननीक:**—जन्यया सह; सह+जननी+क। **प्रयाण**—प्र+√या+ल्युट्। **उपक्रम**—उप+√क्रम्+घञ्। **न्यवर्तयत्**—नि+√वृत्+णिच्+लङ् प्रथम पु० एक व०। **प्रचण्डवर्म०**—प्रचंडवर्मा उत्कल का राजा था और माहिष्मती में मञ्जुवादिनी से विवाह करने आया था। वहां विश्रुत ने नर्तक का रूप धारण कर इसे मार दिया था। उत्कल का

राज्य भी इस प्रकार भास्करवर्मा के हाथ आ चुका था। अब उस ने यह राज विश्रुत को दे दिया। प्रादात्—प्र + √दा + लुङ् प्रथम पु० एक व० आमन्त्र्य —आ √मन्त्र् + ल्यप्; आज्ञा ले कर, विदा मांग कर। आकारितः—आ + √कृ + णिच् + क्त, बुलाया गया। समगंसि—सम् + √ गम् + कर्मवाच + लुङ् उत्तम पु० एक व०; मिल गया हूँ, भेंट हो गई है। सम् पूर्वक √ग आत्मनेपद होता है।

इस स्थान पर विश्रुत का चरित या कहानी समाप्त हो जाती है।

श्री दण्डिविरचित दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका के अंश के अन्तर्गत विश्रुतचरित की सुधीरिणी टिप्पणियां समाप्त हुईं।

संस्कृतविषयानुक्रमणिका

इस अनुक्रमणिका में उत्तरपीठिका के विषयों को (उ) से निर्दि किया गया है।

हिन्दीविषयानुक्रमणिका

ग्रन्थ में मूल, हिन्दी अनुवाद और टिप्पणियों में समानक्रम से ही सन्दर्भसंख्या दी गई है। एक विषय को उस के सम्मुख प्रदर्शित सन्दर्भसंख्या की सहायता से मूल, अनुवाद और टिप्पणियों में सरलता से खोजा जा सकता है। भूमिका के विषयों को बारीक टाइप में रख कर शेष विषयों से पृथक् दिखाया गया है। इसी प्रकार उत्तरपीठिका के विषयों की सन्दर्भसंख्या के आगे 'उ' लिखा गया है। भूमिका के विषयों के आगे भी सन्दर्भसंख्या ही दी गई है।

शब्दानुक्रमणिका

(प्रमुख शब्दों का कोष)

[यहां सर्वत्र क्रमशः शब्द, अर्थ, पृष्ठ और संदर्भ संख्या दिए गए हैं]

शब्द	अर्थ	पृष्ठ	संदर्भ
अगद	दवा, औषध	५३	३३
अग्निविसर्ग	आग लगाना	३६	२४
अग्निसंस्कार	दाहसंस्कार, दाग देना	६२	४०
अजस्र	लगातार	१७	१३
अजिन	मृगछाला	१०	६
अतियन्त्रणा	महान् परिश्रम	२०	१३
अत्युत्सिक्त	महान् घमण्डी	७१	४६
अधिष्ठान	चबूतरा	६१	३६

अध्यक्ष	अधिकारी	१४	१३
अध्यवसाय	परिश्रम, दृढ़ निश्चय	३२	१६
अनुसंधान	स्मृति, प्रसन्न रखना	३३	२०
अन्तक	यम, मृत्यु	७६	५०
अन्तरंग	विश्वस्त	७५;७६	५०
अन्धःपरिणाम	चावलों का पचना	१५	१३
अपक्रमण	छोड़ना	४१	२४
अप्रियाणि	शिकायतें	४०	२४
अभिजन	जन्म, कुल	६	७
अभिषङ्ग	आसक्ति	८	७
अभ्यर्णे	समीप में	४३	२५
अभ्याशे	समीप में	१	१
अमर्ष	असहिष्णुता	३२	१६
अम्भसि	जल में	५३	३३
अरिष्टनाशनम्	विपत्तियों का नाश	१६	१३
अर्भक	लड़का	४७	२६
अवधारण	निश्चय	३२	१६
अवबोधक	युद्धनिश्चय	७७	५१
आक्रोश	चिल्लाहट	१५	१३
आक्रोशनम्	चिल्लाहट	५२	३३
आर्ति	दुःख	३५	२१
आवर्जन	बांटना, देना	७५	५०
आशय	१. पेट २. मन	३०;३१	१८;१६
आहरणोपाय	चोरी के प्रकार	१४	१३
उत्कोच	रिश्वत	६	८
उदग्र	उन्नत	३	४
उदर्क	परिणाम	७५	५०

उद्वर्तन	विलास	५८	३७
उपजाप	भेद, फूट	७७	५१
उपधि	छल, कपट, चाल	५५	३५
उपांशु	गुप्त रूप से	१६	१३
उर्वी	भूमि	८	७
कदर्थनम्	पीड़ा, तिरस्कार	१६	१३
करणानि	जमनास्टिक के खेल	५८	३७
काकिणी	१. कौड़ी २. एक सिक्का	११	१०
कार्कश्य	कठोरता	३०	१८
कुक्षि	पेट	१३	१२
कुक्षि	अन्दर का भाग	६२	४०
कोदण्ड	धनुष	४६	३१
क्लोम	मस्तिष्क, फेफड़े	५०	३१
क्षमा	उपेक्षा	७७	५१
क्षेम	कुशल	४७	२६
गवय	जंगली भैंसे	३०	१८
गवल	जंगली सांड	३०	१८
गुप्ति	रक्षा, छिपाव	४०	२४
गुल्म	समूह	३६	२४
गोष्ठी	सभा, बैठक	२४	१५
घोष	पालियों की बस्ती	४७	३०
चारण	भाट	२६	१७
जंघाजवः	जांघों का बल	३०	१८
तन्त्र	सिद्धान्त	१०	८
तूर्य	बाजे	१७	१३
त्रास	भय	१	१
दाम	माला	५५	३५

दृतीः	चमड़े के बोरों को	५१	३२
द्रोणीः	तलहटियों को	३९	२४
धातृगण	व्यभिचारी लोग	३७	२३
नदीष्ण	प्रवीण	४	४
नवनीत	मक्खन	१०	९
नाद	शब्द	६२	४१
निर्मर्यादः	मर्यादाहीन	७	७
निष्कलः	बूढ़ा	२	२
निसर्ग	स्वभाव	६	७
पट्टनिवसन	रेशमी वस्त्र	६१	४०
पटह	ढोल, नगाड़ा	६२	४०
पराक्रम	भागना, साहसकर्म	४०	२४
परिभूति	परिभव, तिरस्कार	३८	२३
परिवाद	निन्दा	९	८
पांसुलजन	व्यभिचारी पुरुष	३७	२३
पुण्यश्लोकः	पवित्रकीर्ति	५	४
पुष्कलः	प्रभूत	३२	२०
पेशलम्	सुन्दर	६८	४६
पैशुन्य	चुगली	९	८
प्रकृतयः	प्रजा	७५	५०
प्रगल्भ	चतुर	५	६
प्रतिग्रह	लेना	१५	१३
प्रतिपत्त्या	व्यवहार से	५२	३२
प्रतिरोधन	मुकाबला करना	४०	२४
प्रत्यनीक	शत्रु की सेना	३१	१८
प्रत्यपाय	विपत्ति का प्रतिकार	४१	२४
प्रत्यवेक्षिता	देखभाल करने वाला	४	४

इतीः २४	नपुंसक	६१	४०
द्रोणी २१	शरीर	५९	३७
धातुः ५०	पराक्रम	१६	१३
नदी अभि० ४८	उपहार, पारितोषिक	२६	१६
विश्रुत	१. प्रसिद्ध		
	२. एक कुमार का नाम	७६	५०
वृक	भेड़िया	३०	१८
व्यपेक्षा	ध्यान	३३	२०
व्यलीक	दुःख, हानि	२८; ४०	१६; २४
व्यसन	विपत्ति, ऐब, दोष	२६; २९	१६; १७
व्यापादन	हिंसा	४१	२४
व्यायाम	वर्जिश	३०	१८
व्यालहस्तिनम्	मस्त हाथी को	४१	२४
शल्य	कील	३०	१८
संक्रमण	क्रम, चाल	२९	१७
संधुक्षण	वृद्धि	३१; ३४	१८; २१
संस्कार	सजावट, परिष्कार	६	७
सत्त्वानाम्	प्राणियों का	३०	१८
सस्य	खेती	३०	१८
साध्वस	भय, लज्जा	५६	३६
सुभ्रूः	सुन्दरी	६४	४३
सौष्ठव	कौशल	५०	३१
स्थितीः	मर्यादाओं को	७	६